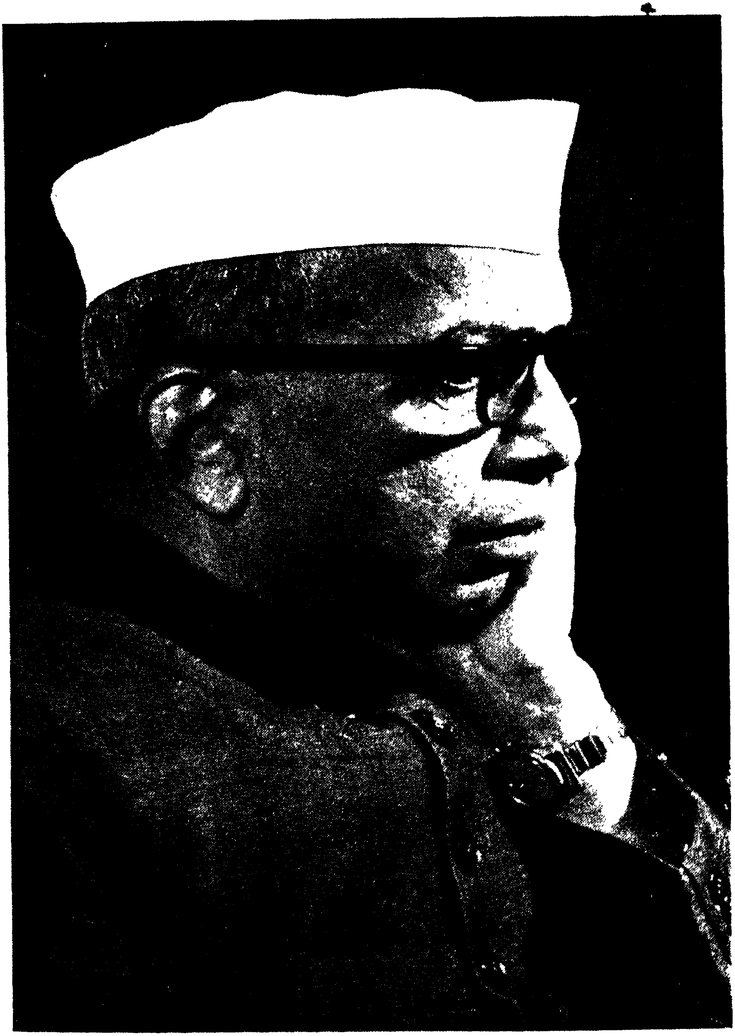


सेठ गोविन्ददास

आत्म-निरीक्षण

[एक आत्मकथा]

गोविन्ददास

१९५८
प्रकाशक
भारतीय विश्व-प्रकाशन
फव्वारा—दिल्ली

गोविन्ददास ग्रन्थावली खण्ड ४ और ५

आत्म-निरीक्षण (तीन भाग)

प्रयत्न (भाग १)
प्राप्त्याशा (भाग २)
नियताप्ति (भाग ३)

मुख्य वितरक
भारती साहित्य मन्दिर
(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)
आसफअली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
माई हीरांगेट जालन्धर
लालबाग लखनऊ

मूल्य ६)

मुद्रक—उग्रसेन दिगम्बर, इण्डिया प्रिंटर्स, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली-६

निवेदन

बहुत समय से मन में उठ रहा था कि मैं भी अपनी आत्मकथा क्यों न लिख डालूं ? परन्तु जब-जब मन में यह उठता था, इसी के साथ एक बात और उठती थी—अपना चरित लिखना क्या अपनी ही प्रशंसा करना नहीं है ? यों तो आत्स-श्लाघा से बिरले ही व्यक्ति बच पाते हैं, मनुष्य का जितना अधिक अनुराग अपने से होता है उतना किसी से नहीं, इसीलिए तो जिसे प्राणों से भी अधिक प्रिय कहा या माना जाता है उस तक के निधन पर कितने आत्महत्या करते हैं ? और अपने से इसी अनुराग के कारण कभी बातचीत में, कभी भाषण में, कभी पत्र-व्यवहार में, कभी अन्य लेखन में मनुष्य अपने सम्बन्ध में कुछ कहने अथवा लिखने में अपनी ही किसी न किसी प्रकार की प्रशंसा के लोभ का क्वचित ही संवरण कर पाता है। किन्तु इस प्रकार की आत्म-श्लाघा और आत्म-कथा की आत्म-श्लाघा में अन्तर है। संभाषण और पत्र-व्यवहार आदि में अपनी जो प्रशंसा की जाती है वह प्रायः अक्षम्य रहती है, परन्तु आत्म-चरित में की गयी आत्म-प्रशंसा बहुधा क्षम्य। इसका कारण है। आत्म-चरित में आत्म-प्रशंसा के साथ अनेक अन्य बातें भी रहती हैं, अपनी प्रशंसा से दूसरी बातें कहीं अधिक। जिन आत्म-कथाओं में आत्म-श्लाघा से सम्बन्ध रखनेवाली बातें कम और अपने से सम्बन्ध रखनेवालों या घटनाओं या अपने समय के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि पहलुओं का चित्रण अधिक रहता है वे आत्म-चरित उतने ही अधिक उच्च कोटि के माने जाते हैं। ऐसे आत्म-चरितों का संसार के साहित्य में स्थायी स्थान हो गया है। रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार गोर्की ने एक जगह कहा है—"अन्त में सब मनुष्यों और जातियों के सामने एक ही कहानी रहती है—वे और उनके साथी।" इस दृष्टि से भी आत्मकथा का अपना एक महत्त्व है। फिर साहित्य के आधुनिक मनोवैज्ञानिक युग में यदि आत्म-चरित में आत्म-निरीक्षण भी हो और यह आत्म-निरीक्षण सत्य को ध्येय बना, असत्य से दूर, बहुत दूर हटकर, तो वह आत्म-चरित साहित्य में अपना छोटा या बड़ा, कोई न

कोई स्थान अवश्य प्राप्त कर लेता है। साथ ही आत्मकथा में जो अनुभवों का उल्लेख रहता है उसके कारण आत्मकथा से कुछ न कुछ लोक-कल्याण भी होता ही है।

मैं उन व्यक्तियों में नहीं जो ललित कला का काम केवल आनन्द देना मानते हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि जिनका प्रधान काम मनोरंजन है उनकी रचना भी बिना अन्य किसी उद्देश्य के केवल मनोरंजन के लिए की जाय, इसे मैं कोई बडा भारी इष्ट नहीं मानता, विशेषकर संसार और देश की इस समय की परिस्थिति में। हाँ, ललित कला व्याख्याता का काम नहीं कर सकती, उसे प्रत्यक्ष में उपदेश न देकर मनोरंजन करते हुए परोक्ष रूप से मानव-मन में ऐसी भावनाओं का प्रादुर्भाव करना चाहिए जिनमें व्यष्टि और समष्टि का कल्याण हो। जब कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य के सम्बन्ध में भी मेरा यह मत है तब आत्म-चरित जैसे साहित्य के सम्बन्ध में तो और भी अधिक। जीवन-चरितों को नाटक, उपन्यास, कहानी आदि के दायरे में रखा भी नहीं जा सकता; हाँ, यदि जीवनियों में स्वाभाविक रूप से कुछ नाटकीय परिस्थितियाँ आ जायँ, उपन्यास या कहानी के सदृश मनोरंजक घटनाओं का समावेश हो जाय तो साहित्यिक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य बढ़ जाता है।

मार्गरेट एसक्विथ ने अपने आत्म-चरित में लिखा है—"जीवन चरित में किसी व्यक्ति के पक्ष या विपक्ष में वकालत नहीं होनी चाहिए और यही बात आत्म-चरित के सम्बन्ध में भी सत्य है।" मैं इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ अतः इस आत्मकथा में सबसे पहले मैंने इस बात पर ध्यान रखा है। इसके बाद मैं इस चरित की परख के लिए निम्नलिखित कसौटियों को रख रहा हूँ—

१—इस कथा का आधार सत्य केवल सत्य हो। मिथ्या से यह दूर, अधिक से अधिक दूर रह सके और अपने स्वयं के तथा अन्यों के सम्बन्ध में सत्य को व्यक्त करने के लिए जिस निर्भयता और साहस की आवश्यकता है, वह मुझ में रहे।

२—आत्म-श्लाघा के दोष से सर्वथा मुक्त आत्म-चरित असम्भव कल्पना है। अतः इस चरित में आत्म-श्लाघा का न्यून से न्यून स्थान रहे।

३—यह कथा लेखक से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों और समय का छोटा-मोटा चित्र बन सके।

४—नाटककार होने के अतिरिक्त मेरे जीवन में कुछ नाटकीय परिस्थितियाँ भी आयी हैं; और ऐसा तो व्यक्ति ही कौन हो सकता है, जिसकी जीवनी में कहानी हो ही नहीं। नाटक, उपन्यास और कहानी अन्ततोगत्वा व्यक्तियों के जीवन का ही दिग्दर्शन तो हैं। लेखक के जीवन की नाटकीय परिस्थितियों और कहानी का इस चरित्र में ऐसा विवरण हो जिससे इसकी शुष्कता कम से कम की जा सके।

५—मैं अपने अनुभवों का इस चरित में अधिक से अधिक समावेश कर सकूं।

६—इस कथा में सच्चा आत्म-निरीक्षण हो। इसे मैं इस चरित की सबसे प्रधान बात मानता हूँ, इसीलिए मैंने तो इस चरित का नाम ही 'आत्म-निरीक्षण' रख दिया है।

कसौटियाँ काफी कड़ी हैं। यह दूसरों के देखने की बात होगी कि इन कसौटियों पर कसने से यह चरित कहाँ तक खरा उतरता है।

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विस्काउण्ट स्नोडन ने अपने आत्म-चरित में लिखा है—"हर व्यक्ति के पास कहने के लिए अपनी जीवन-गाथा है और कोई भी आत्म-चरित कभी भी यथार्थ में बुरी पुस्तक नहीं होती।"

यदि मेरे द्वारा रखी गयीं इन कसौटियों पर यह आत्म-चरित खरा न भी उतरा तो भी स्नोडन साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार कम से कम यह रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य तो न होगा।

इसके सिवा मेरा छोटा-मोटा सार्वजनिक जीवन रहा है और अभी भी है। जिनका सार्वजनिक जीवन रहा है उनके आत्म-चरितों के सम्बन्ध में स्नोडन साहब कहते हैं—"कोई भी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने जीवन-इतिहास और व्यक्तिगत मामलों पर भी मननपूर्ण विचार किये बिना नहीं रह सकता। यदि सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का व्यक्तिगत जीवन जनता के सामने छापकर रखा ही जानेवाला हो तो उसे शत-प्रतिशत सत्य ही होना चाहिए और स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष उसका विवरण देने के उपयुक्त नहीं हो सकता।" अतः

इस दृष्टि से भी मेरा साहस इस चरित्र को लिखने का हो रहा है।

आलिवर क्रामवेल ने एक बार कहा था—"मैं जैसा हूँ वैसा ही मुझे चित्रित करो।" इस कथन में थोड़ा-सा परिवर्तन कर मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ—"मैं जैसा हूँ वैसा ही चित्रित करने की मुझ में शक्ति दें।"

इस आत्मकथा के तीन भाग हैं। एक नाटककार होने के कारण मैंने उन तीन भागों के नाम हमारे प्राचीन संस्कृत के नाट्यशास्त्र की तीन प्रधान संधियों के अनुसार रखे हैं। ये प्रधान सन्धियाँ हैं—"प्रयत्न", "प्राप्त्याशा" और "नियताप्ति"। पहले भाग में मेरे असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होने तक, दूसरे भाग में सन् ४२ के आन्दोलन तक और तीसरे भाग से स्वराज्य की प्राप्ति तथा पहले आम चुनाव तक की कथा है।

यह संसार एक प्रकार का रंगमंच ही है और जीवन एक प्रकार का नाटक। मेरे जीवन रूपी नाटक की जो प्रधान सन्धियाँ रही हैं उन्हीं के अनुसार इस जीवन-गाथा का भी विभाजन किया गया है। पहले भाग का नाम "प्रयत्न" इसलिए रखा गया कि मैंने प्रयत्न कर अपने जीवन को एक विशिष्ट दिशा में मोड़ा। दूसरे भाग को "प्राप्त्याशा" नाम इसलिए दिया गया कि जीवन जिस दिशा में मोड़ा गया था उस दिशा में जो कुछ प्राप्त करने की आशा थी उसे प्राप्त करने में जीवन का वह भाग व्यतीत हुआ। और तीसरे भाग का नाम "नियताप्ति" इसलिए है कि जीवन के इस हिस्से में स्वराज्य और स्वराज्य के बाद जो कुछ प्राप्त करने की इच्छा थी वह प्राप्त हुआ।

गोविन्ददास

पहला भाग

प्रयत्न

पहले भाग की सूची

पूर्वज

मेरे पूर्वज राजस्थान के जयसलमेर नामक स्थान के थे। राजस्थान के एकीकरण के पूर्व राजस्थान अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बँटा हुआ था और इन पर राजे-महाराजे राज्य करते थे। जयसलमेर पर भी एक महाराजा का राज्य था। इस देश पर अंग्रेजों के आधिपत्य के पहले से ही इन नरेशों का राज्य चला आ रहा था। इनमें अधिकांश ने मुस्लिम राज्य के समय दिल्ली के बादशाहों की अधीनता स्वीकार कर ली थी और अंग्रेजी राज्य के पश्चात् अंग्रेजों की तो सभी ने। फिर भी बहुत सी बातों में इन्हें अपने राज्य में स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

राजस्थान प्रायः सारा का सारा मरुस्थल है। कहते हैं कुछ हजार वर्ष पूर्व यह भूखण्ड खूब हरा-भरा था और यहाँ मानव ने अपनी सभ्यता का विकास भी किया था। पर वह काल था आधुनिक इतिहास के पूर्व का काल, जिस समय का अब तक कोई ऐतिहासिक पता नहीं चला है। जब से इतिहास का पता है तब से तो यह भूभाग मरुभूमि ही है। जयसलमेर और उसके आस-पास का स्थान तो राजस्थान का सबसे अधिक रेतीला भूभाग है। राजस्थान में न अधिक खेती होती है और न वहाँ कोई बड़ा रोजगार-धन्धा ही है। इतने पर भी यह भूखण्ड दो बातों के कारण केवल इसी देश में नहीं, पर सारे संसार में प्रसिद्ध है। पहली बात है राजस्थान के क्षत्रियों की वीरता और दूसरी राजस्थान के वैश्यों की व्यापार-कुशलता। मुस्लिम राज्य काल में राजस्थान के इन क्षत्रियों में अगणित पुरुषों ने जिस वीरता से हारते हुए युद्धों को भी लड़ा है वे घटनाएँ केवल इस देश की वीर-गाथाएँ न होकर संसार के इतिहास की वीर-गाथाएँ हैं। इसी प्रकार उनकी स्त्रियों में भी जैसी वीर माताएँ, वीर भगनियाँ, वीर पत्नियाँ, वीर पुत्रियाँ, मिलती हैं वैसी संसार की किसी जाति में नहीं। इन वीर बालाओं के जौहर संसार के इतिहास की अद्भुत घटनाएँ हैं। राजस्थान के वैश्यों ने मुस्लिम राज्य काल के अन्त और ब्रिटिश राज्य काल के आरम्भ

की संधि में तथा इसके पश्चात् अब तक व्यापार-क्षेत्र में जो कौशल दिखाया वह भी अन्य किसी देश या राज्य में देखने को नहीं मिलता। राजस्थान के मरुभूमि होने के कारण वहाँ कृषि और रोजगार-धन्धा न होने से ये वैश्य यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव में भी राजस्थान से बाहर निकले। सैकड़ों नहीं, हजारों मील की ऊँटों, बैलों, घोड़ों की सवारियों पर और पैदल यात्रा कर सारे देश में फैल गये। बिना पूंजी के ही भिन्न-भिन्न छोटे-छोटे धन्धों को आरम्भ किया और शनैः शनैः देश के बड़े से बड़े उद्योग-धन्धों के अधिपति बन गये। संसार में व्यक्ति विशेषों के इस प्रकार के वृत्त मिलते हैं, पर एक पूरी की पूरी जाति का यह वृत्त संसार के इतिहास की एक विशिष्ट घटना है।

राजस्थान के इन वीर क्षत्रियों को राजपूत और इन व्यापार कुशल वैश्यों को मारवाड़ी कहा जाता है। इन राजपूतों और मारवाड़ियों में अनेक समुदाय हैं। राजपूतों में शिशोदिया, राठौर, चौहान, कछवाहे इत्यादि और मारवाड़ियों में अग्रवाल, ओसवाल, खण्डेलवाल, माहेश्वरी आदि। मारवाड़ी वैश्यों के ये समुदाय राजपूत क्षत्रियों से निकले हैं, इस सम्बन्ध में अनेक कथाएँ और किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

राजपूत आर्य हैं अथवा शक या हूण या कौन हैं—इसका भी कुछ विवेचन कर देना उपयुक्त होगा। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हम "राजपूत" शब्द की व्युत्पत्ति देखें। यह "राजपुत्र" शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है "राजा का पुत्र" और सामूहिक रूप से इसका अर्थ हुआ "राज्य करने वाली जाति"। आरम्भ में, राजघरानों के लिए यह शब्द भले ही प्रयुक्त होता रहा हो, पर कालांतर में इसका अर्थ बदल गया और आज "राजपूत" शब्द से हम राजस्थान निवासी युद्ध-प्रिय उन क्षत्रियों को लेते हैं जो एक-दूसरे से रक्त द्वारा सम्बन्धित नहीं हैं। वे सब अपने को सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी क्षत्रिय बतलाते हैं। इस पर शंका उठती है कि क्या आज की राजपूत कहलाने वाली जातियाँ आर्यों के वर्णों के अन्तर्गत क्षत्रियों की जातियाँ हैं और यदि हाँ, तो सातवीं शताब्दी के पहले इतिहास में उनका उल्लेख क्यों नहीं मिलता?

इस विवादास्पद प्रश्न के विश्लेषण के पहले यह कह देना कदाचित असंगत न होगा कि ऐसी कोई भी जाति जिसमें सर्वथा शुद्ध आर्य-रक्त हो, आज मिलना

कठिन है; क्योंकि शताब्दियों के हेल-मेल और पारस्परिक विवाह सम्बन्ध से जातियों के रक्त में मिश्रण हो गया है। पर राजपूत जाति के सम्बन्ध में तो कुछ इतिहासकारों का मत है कि राजपूत आर्य हैं ही नहीं, वे शक, हूण आदि विदेशियों की संतानें हैं। जहाँ भारत का धन सदा से विदेशियों के लिए आकर्षण की वस्तु रहा है वहाँ यहाँ की आपसी फूट-जन्य दुर्बलता उसकी लूट के लिए बर्बर विदेशियों को निमंत्रित करती रही है। जब कभी भी भारत में किसी प्रतापी एकछत्र सम्राट् का अभाव हुआ तभी मध्य एशिया के पास भूविभाग की बर्बर जातियों ने यहाँ आक्रमण किया। इनमें से कई लूट-खसोट कर वापिस चली जाती थीं, परन्तु अनेक यहीं बस भी गयीं। ईसा की ६वीं-७वीं शताब्दी तक भारत की सभ्यता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि यहाँ बस जाने वाली इन विदेशी जातियों ने उसको अपना लिया और कालान्तर में वे अपने मूल स्थानों की सुधि भूल गंगा में यमुना के समान अपना अस्तित्व खोकर स्वतः हिन्दू नाम से पुकारी जाने लगीं।

तो कुछ इतिहासकारों के कथनानुसार ६वीं-७वीं शताब्दियों में जो शक और हूण आक्रमणकारी उपर्युक्त तरीके पर हमारी जातियों में विलीन हो गये उन्हीं की सन्तान वर्तमान राजपूत जाति है। एक तो ये बलशाली थे ही, दूसरे इन्होंने राजशक्ति प्राप्त कर धन के लोभी ब्राह्मणों द्वारा अपने आपको आर्यों के क्षत्रिय वर्ण में शामिल करा लिया। इन विदेशी आक्रमणकारियों में जो सामाजिक मान की दृष्टि से प्रतिष्ठित जातियाँ थीं, उनसे गर्वीली और रोबीली शीशोदिया, राठौर, चौहान, कछवाहे जैसी जातियाँ निकलीं और जो उनके साथ सामान्य लोग थे उनके वंशज गुर्जर, अहीर, जाट आदि हुए।

इस मत के विपरीत जो राजपूतों को प्राचीन आर्यों के वंशज मानते हैं, उनका मत है कि जब परशुराम ने इस धरणी को क्षत्रिय-विहीन करने का प्रयत्न किया तब एक योद्धा जाति का अभाव बहुत अखरा तथा देश का अमन-चैन, व्यापार धन्धा सब अस्त व्यस्त होने लगा। अतएव आबू पर्वत पर एक यज्ञ किया गया जिसकी सामाप्ति पर अग्निकुण्ड से चार प्रसिद्ध क्षत्रिय वीर प्रकट हुए तथा उन्हीं की सन्तान आजकल की राजपूत जातियाँ हैं।

जो कुछ हो, पर इस विषय में कोई विवाद नहीं कि सम्राट् हर्षवर्धन के

साम्राज्य के पतन के उपरान्त जो काल इतिहास में अंधकार युग के नाम से प्रसिद्ध है उस समय इन राजपूतों के यश-चन्द्र की चन्द्रिका ने ही उसे दूर किया था तथा जब तक मुगलों के प्रताप के प्रखर सूर्य के सामने यह चन्द्र-ज्योति श्रीहत न हो गयी तब तक यह देश-व्यापी चन्द्रिका अपना सानी नहीं रखती थी।

राजपूतों से ये मारवाड़ी जातियाँ किस प्रकार निकलीं यह भी बड़ा रोचक विषय है। माहेश्वरियों की उत्पत्ति की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

सूर्यवंशी राजाओं में चौहान जाति के राजा खड्गसेन खण्डेलानगर में राज्य करते थे। वे बड़े दयावान और न्यायी राजा थे, परन्तु उनके पुत्र नहीं था। एक बार उन्होंने ब्राह्मणों का बड़ा आदर-सत्कार कर उनसे पुत्र-प्राप्ति का वर पाया। राजा के २४ रानियाँ थीं जिनमें चम्पावती रानी को पुत्र हुआ। इसका नाम सुजान कुँवर रखा गया। सुजान कुँवर बड़ा बुद्धिमान और वीर हुआ, परन्तु वह अपने कुल का शैव मत छोड़कर जैन मत का हो गया और उसने ब्राह्मणों को नाना प्रकार के कष्ट देकर शिव मूर्तियों का खण्डन कर अपने राज्य में जैन मन्दिर स्थापित किये। एक बार अपने ७२ उमराओं के साथ वह अपने राज्य की उत्तर दिशा में सूर्य कुण्ड पर गया। वहाँ ६ ऋषि यज्ञ कर रहे थे। सुजान कुँवर ने अपने ७२ उमराओं के साथ जब उस यज्ञ को भ्रष्ट किया तब ऋषियों ने उन सब को शाप दिया कि तुम सब पाषाण हो जाओ। ऋषियों के शाप से सुजान कुँवर और उसके ७२ उमराव पत्थर हो गये। जब इनकी पत्नियों ने यह वृत्तांत सुना तब उन्होंने शिव-पार्वती की महान् उपासना आरम्भ की। कुछ काल बीत जाने पर इन स्त्रियों को शिव-पार्वती के दर्शन हुए और इनके तप के परिणामस्वरूप इनके पति फिर पाषाण से मनुष्य हुए। परन्तु मनुष्य होते ही सुजान कुँवर पार्वतीजी पर मोहित हो गया। इस पर पार्वती का शाप हुआ कि तू महान् अधम है इसलिए भाट होकर माँग खा। सुजान कुँवर भाट हो गया। उसके ७२ उमराव शिवजी से बोले महाराज हमारा घर और राज्य तो अब रहा नहीं, हम क्या करें। शिवजी ने कहा तुम क्षात्र-धर्म छोड़कर वैश्य-धर्म धारण करो। वे ७२ उमराव वैश्य हुए और पत्थर से मनुष्य महेश भगवान की कृपा से होने के कारण माहेश्वरी वैश्य कहलाये। इस कथा का जो

भी अर्थ हो पर इतना स्पष्ट जान पड़ता है कि किसी समय क्षत्रियों का कोई समुदाय पथ-भ्रष्ट हुआ और उसने वैश्य-धर्म ग्रहण किया।

राजपूत जाति की प्राचीन गाथाएँ वहाँ के चारण कहे जाने वाले एक विशिष्ट समाज के पास और मारवाड़ियों की पुरानी कथाएँ वहाँ के भाट नामक एक विशेष समुदाय के पास संग्रहीत हैं। ये चारण और भाट दोनों ही गायक हैं। राजपूतों की वीर गाथाओं में तो उन्हें चारणों द्वारा उत्साह प्रदान करने की भी अनेक कथाएँ हैं। श्री टाड के सदृश जिन विदेशी और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के सदृश जिन भारतीय इतिहासकारों ने राजपूतों का जो इतिहास संकलित किया तथा लिखा है उन्हें इन चारणों की सामग्री से बहुत अधिक सहायता मिली है।

सारे भारत में अपने विस्तार और धन के कारण मारवाड़ियों का मिलान यहूदियों से किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यहूदी सारे संसार में फैले हुए हैं और उनके पास धन भी कदाचित सब समुदायों से अधिक है। इस दृष्टि से मारवाड़ियों और यहूदियों का कुछ साम्य अवश्य जान पड़ता है, परन्तु यहूदियों के जिन गुणों अथवा दुर्गुणों की चर्चा की जाती है उनमें और मारवाड़ियों के गुणों या दुर्गुणों में बहुत अन्तर है। यहूदी अपने को ईश्वर का चुना हुआ समुदाय मानते हैं, मारवाड़ी ऐसी किसी बात में विश्वास नहीं करते। यहूदियों का खास रोजगार सूदखोरी है, मारवाड़ियों का यह रोजगार नहीं। यहूदी अपनी कंजूसी के लिए प्रसिद्ध हैं; मारवाड़ी कंजूस नहीं हैं, ऐसा नहीं, परन्तु कंजूसों की संख्या उनमें बहुत कम है। इस देश के किसी समुदाय में भी कदाचित इतनी दानवीरता नहीं है, जितनी मारवाड़ियों मे।

जिस काल में राजस्थान से निकलकर मारवाड़ी समूचे भारत में फैले और उन्होंने छोटे-छोटे रोजगार-धन्धों से अपना व्यापार आरम्भ कर देश के बड़े से बड़े रोजगार-धन्धे पर अपना आधिपत्य जमाया वह समय सामन्तशाही के अन्त के प्रारम्भ और पूंजीवाद के आरम्भ का था। उस समय मारवाड़ियों ने जो कुछ किया वह उनके साहस और व्यापार कुशलता का द्योतक है, उनकी बाद की दानवीरता उदारता की; किन्तु उनके साहस, व्यापार कुशलता और दानवीरता किसी भी गुण पर उनकी प्रशंसा न हुई। इसके कारण हैं। उन्होंने

धन अपनी जन्म-भूमि राजस्थान में न कमा अन्य स्थानों में कमाया, जहाँ वे बाहर से आए हुए माने गये, उन स्थानों के निवासियों के शोषक। जहाँ वे गये वहाँ के निवासियों में वे अपने को विलीन भी न कर सके; राजस्थान से उनका सम्बन्ध बना रहा, व्याह-शादी राजस्थान में ही होती रहीं, बाहर की कमाई से राजस्थान में जायदादें बनती रहीं, संस्थाएँ चलती रहीं, मतलब यह कि जहाँ वे गये वहाँ के न होकर वे बाहर के ही रहे। बाहर से आये हुए समुदाय की सम्पन्नता चाहे वह उनके गुणों के कारण ही क्यों न हुई हो, स्थानीय लोगों की उनके प्रति घृणा, द्वेष और क्रोध का कारण बनी। दूसरे चाहे लक्ष्मी और सरस्वती का वैर ही क्यों न माना जाय, परन्तु लक्ष्मी के साथ ही यदि सरस्वती की भी कृपा न हो तो सम्मान के लिए धन के साथ जिस सभ्यता और संस्कृति की आवश्यकता होती है वह नहीं आती। मारवाड़ियों के पास उनकी व्यापार कुशलता के कारण धन हो गया, परन्तु विद्या की ओर उनका ध्यान न गया और धनवान होने पर भी वे सभ्य नहीं माने जा सके। निर्धन का अज्ञान और असभ्यता क्षम्य है, पर धनवान की नहीं। शोपेनहार ने एक जगह लिखा है—"अज्ञान यदि द्रव्य के साथ हो तो वह अपमानजनक है।" मारवाड़ियों की रहन-सहन, उनकी पोशाक, उनके रीति-रिवाज, उनकी व्याह-शादियाँ आदि सभी बातें उपहास का विषय मानी जाती हैं। और फिर अब जब पूँजीवाद पर ही आक्रमण हो रहा है तब उनकी प्रशंसा कैसे हो सकती है? मारवाड़ियों की दानवीरता की आरम्भिक अवस्था उनकी थोड़ी-बहुत प्रशंसा का कारण अवश्य हुई, लेकिन पूँजीवादी सामाजिक रचना की निन्दा के समय यह दानशीलता शोषण द्वारा एकत्रित धन का कुछ अंश शोषण के पाप-मोचन का छोटा-मोटा प्रयत्न ही माना जाता है। आजकल तो इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स के निम्नलिखित कथन का प्रचार हो रहा है। "दानशील व्यक्ति साधारण पूँजीपतियों से भी अधिक खतरनाक पूँजीपति है।" एक बात और; हर देश, जाति या समुदाय का आदर उस देश, जाति या समुदाय में महान् व्यक्तियों के जन्म और कार्य से होता है। धन कमाने और उसको संग्रह करनेवाले अनेक व्यक्ति चाहे मारवाड़ियों में पैदा हुए हों, पर आधुनिक काल में देश, जाति या समुदाय के उत्थान के लिए जिन विचारकों, साहित्यिकों, नेताओं

आदि की आवश्यकता होती है, वैसे व्यक्ति मारवाड़ियों में अपेक्षाकृत कम ही हुए हैं।

इस देश के बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती, पंजाबी आदि समुदायों में भी पृथकत्व की भावना है, और यही इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य भी है, परन्तु एक तो वे इतने फैले नहीं हैं, जितने मारवाड़ी, उनमें उतनी सम्पन्नता नहीं है, जितनी मारवाड़ियों में और न उतनी अविद्या। फिर इन समुदायों में मारवाड़ियों की अपेक्षा ऐसे व्यक्तियों ने अधिक जन्म भी लिया है जो विचारकों, साहित्यिकों और नेताओं की श्रेणी के हैं। जहाँ कहीं मारवाड़ी भी वहाँ के हो गये, जहाँ वे बसे, उनकी दृष्टि राजस्थान की ओर नहीं रही और उनमें सभ्यता और संस्कृति आयी, वहाँ उनके विरोध की भावनाएँ भी नहीं हैं। हमारे पूर्वजों के जयसलमेर से आने पर भी जहाँ हम बसे हमें वहीं के हो जाने का सौभाग्य प्राप्त है और हम मध्य प्रदेश के निवासियों के अत्यन्त अनुग्रहीत हैं कि हमें वे किसी भेद-भाव की दृष्टि से नहीं देखते। इसका कदाचित यह कारण भी है कि मध्य प्रदेश तथा उसमें महाकोशल कदाचित ऐसा स्थान है जहाँ बाहर से आये हुए लोगों की संख्या बहुत अधिक है और समाज का ऊँचा स्तर अधिकांश में बाहर से आये हुए लोगों का ही है।

मेरे पूर्वजों की वंशावली जयसलमेर के भाटों की बहियों में मिलती है। इन भाटों की बहियों के अनुसार माहेश्वरी जाति की उत्पत्ति कोई पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। उनकी बहियों के कथनानुसार यह उत्पत्ति संवत् ०७७ के तिरसठवें वर्ष में खण्डेले में हुई। यह संवत् कौन-सा संवत् था और यह कोई संवत था या भाटों का कपोल कल्पित संवत् है इसकी खोज मुझे इसलिए आवश्यक जान पड़ती है कि ये भाट पाँच हजार वर्ष पहले से लेकर अब तक की हमारे कुल की जो वंशावली बताते हैं उसमें हर पीढ़ी के नाम हैं और प्रत्येक पीढ़ी का जीवन काल औसत से बीस वर्ष पड़ता है जो आधुनिक काल की वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक है। फिर हमारे कुल के भाटों के सिवा माहेश्वरियों के अन्य कुलों के भी ऐसे ही भाट हैं। हमारे कुल के इन भाटों की बहियों में लिखा है कि माहेश्वरियों के मालपाणी डीडवाने से जब जयसलमेर बसा तब जयसलमेर वि० सं० १२१२ में आये और वि० सं० १८४० में मेरे पूर्वज सेठ सेवारामजी

के जयसलमेर छोड़ने तक छै सौ अठ्ठाइस वर्षों में हमारी ३६ पीढ़ियाँ बीतीं। आज की दृष्टि से जिन भाटों को अर्द्ध शिक्षित कहा जा सकता है उन भाटों की बहियों में यह अक्षुण्ण सिलसिलेवार एक साधारण कुल की वंशावली विचित्र-सी वस्तु है। भाटों की इन बहियों में पीढ़ी दर पीढ़ी के नामों के सिवा इस बात का भी कहीं-कहीं पता चलता है कि उस पीढ़ी के लोगों की उस समय सामाजिक और आर्थिक स्थिति कैसी थी। बहियों में नाम लिखते समय जब भाटों को अधिक पुरस्कार मिलता तब वे उस पुरस्कार का ब्यौरेवार वर्णन लिखते, जैसे कुछ जगह लिखा है हमारे कुल के अमुक व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम लिखाते समय भाटों को सोने का हाथी दिया, चाँदी का घोड़ा दिया, इत्यादि। इस प्रकार के वर्णनों से बहुधा उनकी सामाजिक और आर्थिक अवस्था का पता लग जाता है। इस लम्बे समय में हमारे कुल में अनेक उतार-चढ़ाव आये। राजस्थान के चारणों और भाटों के सिवा अन्य किसी स्थान पर किसी समुदाय के कुल की ऐसी सुरक्षित वंशावली, जिससे कि उनकी स्थिति का भी पता लगे, रखने की प्रथा कदाचित ही हो।

सेवारामजी ने जब जयसलमेर से प्रस्थान किया उस समय इस देश पर मराठा राज्य समाप्त होकर अंग्रेजी राज्य फैल रहा था, परन्तु जयसलमेर के राजा उस समय तक अंग्रेजों के अधीन न हुए थे। वह समय भारतीय इतिहास का संक्रान्ति युग था। उन दिनों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद भारत में अपने पाँव फैलाने का प्रयास कर रहा था। भारत के तीन समुद्री नाकों में वे पहले ही अपना अड्डा जमा चुके थे। मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में उन्होंने आरम्भ में तो अपने गोदाम ही बनाये थे, किन्तु बाद में उन्होंने वहाँ कोट भी बना लिये, जहाँ सेना की कुछ टुकड़ियाँ भी एकत्रित रहती थीं। तत्पश्चात् इन गढ़ियों से अपना कलेवर वे बाहर फैलाने लगे। १७४०-५६ तक उन्होंने मद्रास प्रदेश में अपने पाँव काफी फैला लिये थे और हैदराबाद राज्य में उनका काफी दबदबा हो गया था। १७५७ के प्लासी के युद्ध के पश्चात् उन्होंने अपना प्रभुत्व बंगाल में जमा लिया।

भारतीय इतिहास में बंगाल का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वहाँ की भूमि अत्यन्त उर्वरा है, वहाँ की जनसंख्या पर्याप्त है, वहाँ के वासी व्यवहार

कुशल और मेधावी हैं। वहाँ का कपास का उद्योग अनेक शताब्दियों पूर्व जगत भर में प्रसिद्ध हो चुका था और ढाका की मलमल तथा मुर्शिदाबाद का रेशम अद्वितीय समझा जाता था एवं देश-विदेश में मँहगे दामों में बिकता था। अतः बंगाल आर्थिक दृष्टि से उन दिनों बहुत सम्पन्न था। मुर्शिदाबाद के वैभव की तुलना में लन्दन भी नगण्य-सा ही था। जब क्लाइव मुर्शिदाबाद गया था तब उसे यह देखकर विस्मय हुआ था कि लन्दन से कहीं अधिक मुर्शिदाबाद धन-सम्पन्न है। अतः अंग्रेजों का बंगाल पर कब्जा होने का यह अर्थ था कि अंग्रेजों के हाथ भारत का भारी कुबेर भण्डार लग गया था और भारत के कला-केन्द्र उनके हाथ में आ गये थे। सच तो यह है कि बंगाल रूपी कल्प वृक्ष से अंग्रेजों ने मनमाने जवाहरात इकट्ठे किये और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साधारण किरानी भी यहाँ इतने मालामाल हो गये कि उनकी तुलना में इंगलैंड के बड़े-बड़े सामन्तों का वैभव भी फीका पड़ गया। स्वभावतः बंगाल हाथ में आ जाने से अंग्रेजों के लिए यह सुलभ हो गया कि भारत के ही धन से बेकार भारतीय सैनिकों को अपनी फौजों में भर्ती कर वे भारत के अन्य प्रदेशों पर भी अधिकार कर लें।

यह अधिकार करना उन्हें कुछ कठिन भी न लगता था। प्रथम तो उन्हें यह स्पष्ट दिखायी पड़ रहा था कि भारतीय यह समझ नहीं पाये हैं कि भारत पर राजनैतिक प्रभुता के लिए युद्ध मुख्यतः अंग्रेजों से ही होना है। इसके विपरीत भारत में सार्वभौम प्रभुत्व के लिए संघर्ष मराठों और विदेशी पठानों मुगलों एवं ईरानियों से ही चल रहा था। ये विदेशी भारत में आकर कई प्रदेशों पर साम, दाम, दण्ड, भेद से अपना राज्य जमा बैठे थे। इनकी निष्ठा अपने ही प्रति थी। न उन्हें धर्म का मोह था और न देश का। जिस प्रकार भी उनका अपना वैभव एवं ऐश्वर्य बैठ तथा बढ़ सकता था उसी बात को वे अपना सर्व-प्रथम धर्म एवं कर्तव्य मानते थे। अतः उन्हें इस बात में क्षणभर को भी हिच-किचाहट न होती थी कि वे लोग इस स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी की भी सहायता लें या कैसा ही हेय कर्म करें। जो देशी राजा थे वे भी इस समय अपने ही ऐश्वर्य-विलास में लिप्त थे और उसी को जीवन का चरम लक्ष्य समझते थे। सुरा, सुन्दरी एवं स्वर्ण के ही फेर में वे पड़े हुए थे और इस बात की इन्हें सुधि

न थी कि शनैः शनैः देश को विदेशी निगले जा रहे हैं। जिस मराठा आन्दोलन को प्रातःस्मरणीय शिवाजी ने देश तथा धर्म की विजातियों से रक्षा के लिए प्रारम्भ किया था वह भी अपने मूल आदर्शों का विसर्जन कर चुका था। मराठा सामन्त तथा मराठा राजा अपने ही वैभव, अपने ही ऐश और अपने ही स्वार्थों में लिप्त थे। चचा भतीजे पेशवा का इस हेतु खून करने को तैयार था कि साम्राज्य उसके हाथों में आ जाय। चितपावन ब्राह्मण अन्यों को हेय समझते थे तथा उन्हें राज्यतन्त्र में भाग न लेने देना चाहते थे। शिवाजी चने चबाकर घोड़े की पीठ पर शत्रुओं से युद्ध करने को दिन-रात एक करते थे, किन्तु उनके वंशज अपने साथ अपनी पत्नी को ही नहीं अपनी रखैलों को भी रणक्षेत्र में ले जाते थे, जिससे एक क्षण के लिए भी उनकी रंगरेलियों में व्याघात न पड़े। राजकर्मचारियों में आन्तरिक कलह इतना बढ़ गया था कि वे एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए साम्राज्य तथा राष्ट्र दोनों को विदेशियों के हाथ बेचने में क्षणभर के लिए भी न हिचकिचाते थे। अतः भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में आन्तरिक संघर्ष एवं कलह इतना व्याप्त था कि उसको ढा देने में अधिक प्रयास की आवश्यकता न थी।

इसके अतिरिक्त प्लासी के तीसरे युद्ध में मराठा साम्राज्य की सामरिक शक्ति को गहरी ठेस लगी थी। वह उससे पूरी तरह सँभल न पाया था। उस के ऊपर मराठों ने यह भूल की थी कि अपनी परम्परागत सैनिक शिक्षा को तिलांजलि दे उन्होंने यूरोप के लोगों की सैनिक शिक्षा एवं पद्धति को अपना लिया था। इसके लिए उन्होंने अपने यहाँ पर्याप्त फ्रांसीसियों को नौकर रखा था और उन्हें ऊँचे-ऊँचे सैनिक पदों पर बैठा दिया था। फलतः उनके घर में ही विभीषण जम गया था। जिस प्रकार जर्मनों के हाथ में सैनिक शक्ति देने से रोमन साम्राज्य का पतन तथा तुर्कों के हाथ में सैनिक शक्ति देने से अब्बासी खलीफाओं के साम्राज्य का पतन निश्चित हो गया था, उसी तरह इन बिदेशियों के हाथों अपनी सैनिक शक्ति देकर मराठों ने अपने साम्राज्य का पतन भी अवश्यंभावी कर दिया था।

शासकों में तो इतना आन्तरिक द्वेष और कलह था ही, प्रजा में भी राष्ट्रीय भावना जागृत न हुई थी। उनका जीवन परम्परागत धार्मिक विचारों तथा

सामाजिक आचारों के अनुसार व्यतीत होता था। उनके मन में अपनी भूमि एवं अपने जाति-भाइयों के लिए ममता थी, किन्तु भारत राष्ट्र के प्रति कोई ममता नहीं थी। कारण भी स्पष्ट-सा ही है। भारत बड़ा देश है। इतने बड़े देश के प्रति राष्ट्र भावना का जन्म उन दिनों तो क्या आज भी संसार की किसी जाति में नहीं हुआ है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जनता में देश-प्रेम जैसी भावना उन दिनों न थी। हाँ, उन लोगों में अपनी जाति तथा अपने धर्म-भाइयों के प्रति स्नेह अवश्य था और इस दृष्टि से भारत के अनेक निवासियों के प्रति उनमें ममत्व था। परन्तु वे यह न समझते थे कि उनका अपना जीवन एवं भाग्य इसी बात पर निर्भर करता है कि उनके देश का शासन उनके अपने ही भाइयों के हाथ में हो। अतः जनता और शासक वर्ग में वह एकता भी उन दिनों न थी जो किसी राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी के समान होती है। इसी राष्ट्र भावना के अभाव के कारण ही तो अमीचन्द जैसे लोग क्लाइव से मिल गये थे जिन्होंने अपना तथा भारत का सत्यानाश किया।

इन परिस्थितियों में भारत पर अपना राज्य जमा लेना अंग्रेजों के लिए सरल बात थी। यही वे कर भी रहे थे। बंगाल और बिहार पर अपना राज्य जमाने के पश्चात् उन्होंने मराठा साम्राज्य से छेड़छाड़ शुरू कर दी थी और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने राजपूत राजाओं को अपनी ओर मिलाने का प्रयास भी आरम्भ कर दिया था। साथ ही उन्होंने भारत के विभिन्न केन्द्रों में अपना व्यापार भी फैलाना शुरू कर दिया था। इस प्रकार भारत के आर्थिक तन्त्र पर भी अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया था। यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने भारतीय राष्ट्र के ऐतिहासिक स्वरूप में नयी क्रान्ति पैदा करनी आरम्भ कर दी थी।

ऐसे क्रान्तिकालीन युग में वे लोग मिट भी जाते हैं, बन भी जाते हैं, जो साहसी और व्यवहार कुशल होते हैं। इस युग में अनेक भारतीय सामन्त तथा औद्योगिक मिट गये। बंगाल के अनेक कारीगर सर्वदा को दर-दर के भिखारी हो गये। वे लोग जिनके चरणों में राज्यलक्ष्मी लोटा करती थी दूसरों के दास, दूसरों के सेवक हो गये। साथ ही अनेक लोग इस युग में रंक से अत्यन्त धन-सम्पन्न बन गये। सहसा ही रंक हो जाने एवं सहसा ही प्रभुता-सम्पन्न तथा

ऐश्वर्यवान् हो जाने का यह युग था जैसा कि सेवारामजी के जीवन-वृत्त से भी व्यक्त हो जाता है।

सेवारामजी के जयसलमेर छोड़ने का कारण पहले मैं यही समझता था कि जिस प्रकार उस काल के अनेक मारवाड़ी जीविका के साधनों से रहित होने और गरीबी के कारण राजस्थान को छोड़कर निकले उसी प्रकार सेवारामजी भी निकले होंगे, परन्तु सन् '५४ में मैं जयसलमेर गया था और वहाँ पर जयसलमेर नरेश के यहाँ कुछ कागजात देखने, कुछ पुराने भाटों के वंशजों, कुछ पुराने ज्योतिषियों के वंशजों और वहाँ के कुछ अन्य पुराने कुलों के वंशजों से मिलकर उनके जयसलमेर छोड़ने की परिस्थिति और कारणों का कुछ दूसरा ही वृत्त ज्ञात हुआ।

सेवारामजी अपने समय में जयसलमेर के बड़े सम्पन्न व्यक्तियों में थे। उनके समय में हमारे कुल का जयसलमेर में जो मकान था, और जो अभी तक है, उससे भी यही ज्ञात होता है। इस सम्पन्नता के साथ जयसलमेर राज्य के वे बड़े शक्तिशाली राजकर्मचारी भी थे और उस समय राजकर्मचारियों को जो ऊँचे से ऊँचा पन्द्रह रुपया माहवारी वेतन मिलता था वह उन्हें भी मिलता था।

वि० सं० १८१८ में जयसलमेर की राजगद्दी पर महारावल श्री मूलराजजी बैठे। मूलराजजी के दीवान महता स्वरूपसिंह बड़े बलशाली व्यक्ति थे वरन् यह कहा जाता था कि राजा दीवान की मुट्ठी में है। इन दीवानजी के विरुद्ध वहाँ के अनेक राजवंशी और राजकर्मचारियों ने एक दल बनाया और उस दल का नेतृत्व स्वीकार किया महारावलजी के बड़े राजकुमार रायसिंह ने।

वि० संवत् १८४० के मकर संक्रान्ति के उत्सव के समय भरे राज-दरबार में कुछ विवाद छिड़ गया और इस विवाद में राजकुमार ने खड्ग निकाल सभा में ही दीवान का बध कर डाला। महारावल मूलराजजी सभा से भाग गये और सभासदों ने यह देख कि राजकुमार तथा उनके साथियों को महारावल का दंड देना निश्चित है उसी सभा में राजकुमार को गद्दी पर बिठा उन्हें महारावल घोषित कर दिया। राजकुमार ने पहले तो पिता के विरुद्ध इस प्रकार का विद्रोह करने में पशोपेश किया, परन्तु यह देख कि पिता द्वारा उन्हें दण्ड

दिया जाना निश्चित है और उनके दण्ड के बाद उनका छोटा भाई लालसिंह गद्दी का मालिक हो जायगा, गद्दी स्वीकार कर ली। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने पिता को तत्काल कैद कर लिया।

उस समय के राजकर्मचारियों में सेवारामजी ने राजकुमार की इस कृति का खुला विरोध किया। पिता को कैद में डाल नये महारावल रायसिंह सेवारामजी की ओर घूमे। उनकी सम्पत्ति लूटने की फौज को आज्ञा हुई और उन्हें कैद करने की।

सेवारामजी की सम्पति तो लुट गयी, परन्तु वे इसके पहले ही अपने कुटुम्बियों के साथ भाग गये थे; अतः वे कैद न हो सके। उनके मकान में राज्य का ताला लग गया।

उस समय जयसलमेर में पण्डित अचलदास नामक एक बड़े प्रसिद्ध ज्योतिषी रहते थे। अचलदासजी के वंशज अभी भी जयसलमेर में रहते हैं और उनमें से कुछ ज्योतिषी हैं। ये अपने को अचलदासी कहते हैं। सेवारामजी का ज्योतिषीजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। किसी निकट के गाँव में एक किसान के घर में अपने कुटुम्बियों को छिपाकर अर्द्ध रात्रि के समय सेवारामजी ज्योतिषीजी से इसलिए मिलने आये कि उन्होंने जयसलमेर रियासत छोड़ने का निर्णय किया था और वे किस दिन रवाना हों इसका मुहूर्त ज्योतिषीजी से निकलवाना चाहते थे। उन दिनों ही नहीं, अभी भी राजस्थान में मुहूर्त और शकुन का बड़ा महत्त्व है। कई बार तो लोग प्रस्थान के बाद यदि कोई बुरा शकुन हो जाय तो वापस लौट आते हैं।

अचलदासजी ने सेवारामजी को उसी दिन उषा काल में रवानगी का मुहूर्त बताया। कुटुम्बियों को कुछ समय तक उसी किसान के यहाँ छिपकर रहने का आदेश दे तथा उस किसान पर अपने कुटुम्बियों की सुरक्षा का भार सौंप सेवारामजी उसी दिन उषा काल में अकेले पैदल जयसलमेर से रवाना हुए। सेबारामजी का जयसलमेर के किसानों से भी बहुत अच्छा सम्बन्ध था अतः कुटुम्ब की सुरक्षा के विषय में वे बहुत दूर तक निश्चिंत थे।

कोई १०-१२ मील की सफर कर सेवारामजी एक निर्जन स्थान पर एक खेजड़ी के वृक्ष के नीचे कुछ विश्राम करने ठहरे। उन्हें नींद आ गयी। उनकी

नींद खुली एक सर्प की बार-बार फुंकार के कारण। सर्प को सिर के निकट देख वे भयभीत हो वहाँ से भागे। यह सोच कि पण्डित ने कैसा बुरा मुहूर्त बताया कि जान ही बची, वे जयसलमेर लौटे और रात्रि को छिपे-छिपे फिर अचलदासजी से मिल यह सारा हाल उन्हें बताया।

अचलदासजी ने झिड़क कर सेवारामजी से कुछ इस प्रकार कहा—"अरे क्या किया यह तूने ? यह बुरा नहीं सर्वोत्तम शकुन हुआ था। तू चला जाता तो कहीं का तिलकधारी राजा होता। अब वह तो नहीं होगा, पर यह मुहूर्त अढ़ाई दिन रहेगा। अभी भी चला जा। तेरे वंश में कोई न कोई यदि तिलक-धारी राजा न हुआ तो भी उसके समकक्ष सम्मान वाला अवश्य होगा।" सेवाराम जी चल पड़े।

आज जब मैं अचलदासजी की उस भविष्यवाणी पर विचार करता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि ये भविष्यवाणियाँ भी देश और काल के अनुरूप ही होती हैं। हमारे देश के उस काल में इन तिलकधारी राजाओं का सर्वोच्च स्थान था अतः अचलदासजी ने ऐसी भविष्यवाणी की ; परन्तु अब हमारे देश में इन तिलकधारी राजाओं की जो स्थिति हो गयी उसे देखते हुए आज के उज्वल भविष्य के लिए हमारे देश में कोई दूसरी ही भविष्यवाणी होगी, अमरीका में कुछ अन्य और रूस में उससे भिन्न। इस जगत में सभी कुछ कितना परिवर्तनशील है।

महारावल मूलराजजी तीन महीने चार दिन बन्दीगृह में रहे। फिर से राज्य-क्रान्ति हुई। नये महारावल पदच्युत हुए। उन्हें देश-निकाला दिया गया और मूलराजजी फिर से गद्दी पर आये। श्री मूलराजजी ने अपना दीवान महता स्वरूपसिंह के पुत्र श्री सालमसिंह को बनाया। तब उस किसान ने, जिसके यहाँ सेवारामजी अपने कुटुम्बियों को छोड़ गये थे, महारावल के पास आ सेवारामजी के पलायन का वृत्त कह उनके कुटुम्बियों को महारावल के हवाले किया। महारावल ने अपने ऐसे समर्थक सेवारामजी के मकान का ताला खुलवा, उनके कुटुम्ब को बड़ी खातिर से वापस उनके मकान में ठहरा, उनकी लूटी हुई सम्पत्ति से भी अधिक उन्हें दे, सेवारामजी का पता लगवाना आरम्भ किया; पर उस जमाने में पता लगना सहज बात न थी।

बहुत समय बाद जब सेवारामजी को जयसलमेर की पुनः हुई राज्य-क्रान्ति का पता लगा तब उन्होंने ही महारावल को अपना पता भेजा।

महारावल ने उन्हें वापस जयसलमेर आने का आग्रह किया, परन्तु सेवारामजी अपने और अपने कुटुम्ब पर यह कैद लगा चुके थे कि वे और उनका कोई वंशज अब कभी भी जयसलमेर के क्षेत्र में पैर न रखेगा। सेवारामजी ने जयसलमेर लौटने में अपनी असमर्थता प्रकट की और उनके कुटुम्बियों को ही उनके पास भेजने के लिए महारावलजी से प्रार्थना की। कुछ समय बाद सेवारामजी के भाई गिरधारीलालजी के साथ महारावलजी ने उनके कुटुम्बियों को उनके पास भेज दिया।

सेवारामजी की वह कैद कि हमारे वंशज में से कभी कोई जयसलमेर के क्षेत्र में पैर न रखेगा एक सौ दस वर्ष तक चली। यद्यपि संवत् १८८१ में सेवारामजी ने जयसलमेर के "गड़ीसर" नामक सरोवर पर घाट बनवाया, बारहदरी बनवायी, संवत् १९०४ में उनके पुत्र खुशहालचन्दजी ने "गोविन्दसर" नामक एक तालाब बनवाया, वहाँ कुछ इमारतें बनवायीं, पर जयसलमेर नरेश को रुपया भेज भेज कर। ये सब घाट और इमारतें अभी भी जयसलमेर में अच्छी हालत में हैं।

वि० संवत् १९३२ में गोकुलदासजी ने जयसलमेर में दुकान भी खोली पर संवत् १९४९ तक हमारे कुटुम्ब का कोई व्यक्ति भी जयसलमेर गया नहीं। सेवारामजी की वह कैद उनके पौत्र गोकुलदासजी ने संवत् १९४९ में जयसलमेर जाकर तोड़ी थी।

जयसलमेर की दोनों उपर्युक्त राज्य-क्रान्तियों का इतिहास जयसलमेर के इतिहास में, टाड के राजस्थान के इतिहास में तथा राजस्थान से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में है।

कहाँ जैसलमेर और कहाँ जबलपुर! लगभग एक हजार मील की यात्रा कर सेवारामजी जबलपुर जिले के बेलखाड़ू नामक गाँव में आकर रहने लगे और उन्होंने वहाँ के एक निवासी की शराकत में नित्य प्रति की आवश्यकताओं की वस्तुएँ बेचने की एक छोटी-सी दुकान खोली। बेलखाड़ू का यह छोटा-सा

धन्धा सेवारामजी के लिए बहुत अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ और थोड़े ही दिनों में उनकी गणना वहाँ के लखपतियों में होने लगी।

जब गिरधारीलालजी बेलखाड़ पहुँचे तब सेवारामजी ने जो कुछ बेलखाड़ में कमाया था, और यह लाख रुपये से कम न था, सारा का सारा गिरधारीलालजी को दे फिर से भाग्य आजमाने की ठानी एवं बेलखाड़ छोड़ जबलपुर नगर को प्रस्थान किया। इस बार बेलखाड़ के गृह-त्याग और इसके पहले जब उन्होंने जयसलमेर में अपना घर छोड़ा था उसमें इतना ही अन्तर था कि उस समय वे जयसलमेर से छिपकर भागे थे अतः अकेले थे, इस समय भागने का प्रश्न न था तथा उनके साथ उनकी पत्नी और दोनों पुत्र भी थे। आर्थिक दृष्टि से दोनों प्रस्थान समान थे—न उस समय उनके पास जिसे पूंजी कहा जा सकता है, ऐसी कोई पूंजी थी और न इस समय ही।

वर्तमान जबलपुर नगर के हनुमान ताल तालाब के किनारे सेवारामजी ने इस बार डेरा डाला। यह हमारे कुटुम्ब का स्थायी निवास सिद्ध हुआ।

जिस समय सेवाराम जी जबलपुर नगर में आये उस समय इस नगर का बसना आरम्भ हुआ था। और जबलपुर तथा इसके आसपास के क्षेत्र पर सागर के महाराष्ट्र ब्राह्मण खेर कुल का राज्य था।

जबलपुर अपने जीवन में बड़े-बड़े साम्राज्यों के उत्थान और पतन देख चुका है। जाबालि मुनि के आश्रम के नाम पर कभी का जाबालिपुर ही आज जबलपुर के सदृश शान-शौकत और तड़क-भड़क वाला नगर बन गया हो, इतना ही नहीं, पूर्व काल में भी जबलपुर के निकट ही त्रिपुरी और गढ़ा बड़े-बड़े राज्यों की राजधानियाँ रह चुके हैं।

कितना प्राचीन गौरव है इस भूभाग को! महाभारत में जबलपुर से कुछ ही दूर त्रिपुरी का जिक्र आया है। कालान्तर में यहाँ कलचुरियों का साम्राज्य हुआ और त्रिपुरी हुई उनकी राजधानी। महाराजा गांगेय देव और कर्ण देव का नाम कौन इतिहास-प्रेमी नहीं जानता, जिनके समय में कलचुरियों की वीरता और कलाविदता का बोलबाला सारे देश में हो रहा था। एक के बाद एक महान् शासकों की परम्परा स्थापित करने का श्रेय भी कलचुरियों को है।

जब मुसलमानों ने राजपूतों के तेज को हतप्रभ कर डाला तब युग-युग की

प्रताड़ित विन्ध्याचल और सतपुड़ा पर्वत के बीच के प्रांगण में बसने वाली गोंड जाति विजयार्थ निकली और एक बार सारे महाकोशल में उनकी विजय-दुन्दुभी गूंज उठी। उनकी राजधानी जबलपुर के निकट गढ़ा में थी, जो आज एक छोटे से ग्राम के रूप में उन्नत भाल वाले जबलपुर नगर के वैभव से घोर विषमता दर्शाता हुआ दासवत् उसके चरणों पर लोट रहा है। एक समय था कि गोंड वंश की सब से प्रसिद्ध रानी वीरांगना दुर्गावती की फौजों से यहाँ की जमीन का चप्पा-चप्पा रौंदा गया होगा और उस वीरांगना पर किये गये कायर हमलों के फलस्वरूप उसका घायल शरीर यहीं की भूमि में धराशायी हो गया था। उस महारानी की अमर निशानी उसका बनवाया हुआ मदनमहल का एक भाग आज भी बादलों को चीरते हुए पहाड़ों की एक वृहत् चट्टान पर खड़ा हुआ अपने गत वैभव का स्मरण कर शायद सिर धुन रहा है। उन्हीं गोंड राजाओं द्वारा बनवाये विभिन्न ताल संग्राम सागर, देव ताल, रानी ताल, आधार ताल, चेरी ताल आज बेमरम्मत पड़े हैं। सच है "समय के फेर से सुमेरु होत माटी को।"

मुगलों द्वारा इस गोंड राज्य के अस्त-व्यस्त कर देने से शांतिप्रिय एवं बहादुर गोंड जातियाँ खूँखार लुटेरे बनकर लूटमार करने लगीं। कालान्तर में अंग्रेजों द्वारा दमन किये जाने पर ये गोंड लोग पुनः शान्तिपूर्ण जीविकाएँ खेती, मजदूरी आदि में लग गये।

जिस प्रकार चन्द्र के अस्त होने को लोग सूर्योदय पर भूल जाते हैं, उसी प्रकार जबलपुर की उन्नति के कारण आज लोग त्रिपुरी और गढ़ा के महत्त्व को भूल गये हैं। परन्तु जैसा चन्द्रास्त एवं सूर्योदय के बीच अंधकार रहता है, उसी प्रकार एक राज्य के पतन और दूसरे के उत्कर्ष के बीच के संक्रान्ति काल में घोर अव्यवस्था छायी रहती है। जब सेवारामजी जबलपुर आये तो यहाँ पर मराठों की गिरती हालत तथा अंग्रेजों के क्रमशः प्रसार का संक्रान्ति काल था।

ऐसे समय में सेवारामजी ने आकर जबलपुर के हनुमान ताल के किनारे डेरा डाला।

•

जबलपुर नगर के हनुमान ताल स्थल पर, जहाँ सेवारामजी बसे, जंगल था, जो कुछ समय से काटा जा रहा था। कहा जाता है कि यहाँ मनुष्यों की बस्ती होने के पहले हिंसक पशु रहते थे और कई बार तो हनुमान ताल में पानी

पीने शेर तक आ जाते थे। सेवारामजी ने जहाँ अपना मकान बनवाया वहाँ मुरदे जलते थे और कुछ समय पहले ही यहाँ का श्मशान बन्द हुआ था। बेलखाड़ू के सदृश यहाँ भी सेवारामजी का भाग्य चमका और फिर से वे लखपति हो गये। हमारे कुटुम्ब में उनके समय की कुछ चीजें अब तक शेष हैं—"राजा गोकुलदास महल" नामक हमारे रहने के मकान का कुछ हिस्सा उन्हीं के समय का है और यह वैसी ही सूरत में है जैसा उन्होंने बनवाया था। हमारे कौटुम्बिक श्री गोपाललालजी के मन्दिर का कुछ भाग और गोपालजी की मूर्ति उन्हीं के समय की है। उन्होंने ही इस मन्दिर में इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी। गोपाल बाग नामक बगीचा और उसमें हमारे कुटुम्ब का श्मशान तथा सेवारामजी की तलैया नामक एक तालाब उन्हीं के समय का है। यह बाग उन्हीं ने लगवाया था और यह तालाब उन्हीं ने खुदवाया था।

सेवारामजी के समय ही इस भूमि-भाग पर महाराष्ट्र अमलदारी समाप्त हो अंग्रेजी राज्य हुआ। आजकल के सदृश उस काल में भी सम्पत्तिशाली राज्य सत्ता के भक्त हुआ करते थे। सेवारामजी भी वैसे ही थे। उन्हें उस समय के अंग्रेज सत्ताधारियों ने कई पत्र दिये थे, उन्हीं पत्रों में से एक छोटे से पत्र में पुलिटिकल एजेन्ट श्री सी० फ्रेजर ने २२ फरवरी, सन् १८२८ में लिखा था—

"सेठ सेवाराम जबलपुर के सर्वश्रेष्ठ धनी महाजनों में से एक हैं और आप बड़े ऊँचे तथा सम्माननीय चरित्र के व्यक्ति हैं।"

कहा जाता है कि सेवारामजी की मृत्यु के समय उनके पास लगभग पाँच लाख की सम्पत्ति थी।

सेवारामजी के बड़े पुत्र रामकृष्णदास बड़े भारी भगवद्भक्त थे। उन्हें घर के काम-काज से कोई मतलब न था। वे आठों पहर गोपाल-सेवा में ही लगे रहते। उन्होंने वल्लभ कुल सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर श्री गोपाललालजी के मन्दिर को भी उसी सम्प्रदाय का कराया। वल्लभ कुल सम्प्रदाय में उन्होंने अपना गुरु काशी स्थित गोपाल मन्दिर के गोस्वामी श्री गिरिधरजी महाराज को बनाया, जिनकी उस समय के विद्वद्समाज में बड़ी भारी प्रतिष्ठा थी। तब से हमारा कुटुम्ब धार्मिक क्षेत्र में वल्लभ कुल सम्प्रदाय का अनुयायी चला आ रहा है और हमारा गुरुद्वारा काशी का श्रीगोपाल मन्दिर।

सेवारामजी के दूसरे पुत्र खुशहालचन्दजी ने पिता द्वारा प्राप्त सम्पत्ति, और उस समय की दृष्टि से जिसे सम्मान माना जाता था, दोनों को बढ़ाया। खुशहालचन्दजी के जीवन काल में ही इस देश का सन् १८५७ का स्वातन्त्र्य संग्राम हुआ, जिसमें खुशहालचन्दजी ने अंग्रेजों की सहायता की। इस सहायता के उपलक्ष्य में उन्हें अंग्रेज सरकार ने एक सोने का कमरपट्टा दिया, जिसमें हीरे जड़े हुए हैं। उस कमरपट्टे पर खुदा है—"सेठ खुशालचन्द को सन् १८५७ के बलवे में उनके द्वारा राजभक्तिपूर्ण जो सेवा की गयी उसके उपलक्ष में भारत सरकार द्वारा भेंट।" खुशहालचन्दजी की मृत्यु के समय वे कोई पच्चीस लाख के धनी माने जाते थे।

रामकृष्णदासजी के कोई पुत्र न था। खुशहालचन्दजी के दो पुत्र थे—गोकुलदास और गोपालदास। गोपालदासजी का वल्लभदास नामक एक पुत्र छोड़कर जवानी में ही देहावसान हो गया।

गोकुलदासजी के समय आर्थिक और सम्मान दोनों ही दृष्टियों से हमारे कुटुम्ब का पूर्णोत्कर्ष हुआ। पिता के द्वारा पच्चीस लाख की प्राप्त सम्पत्ति को उन्होंने सात करोड़ तक पहुँचाया। उनके आठ सौ गाँव थे। तिरसठ हजार एकड़ में उनकी निज की खेती थी। तीन सौ दूकानें थीं। एक "राजा गोकुलदास मिल्स" नामक कपड़े का मिल, "परफैक्ट पाटरी वर्क्स" नामक मिट्टी के सामान बनाने का कारखाना और अनेक कपास के जीन और प्रेस कारखाने थे। उनका कारोबार सारे देश में फैला हुआ था। बम्बई, कलकत्ता और रंगून में भी उनकी दूकानें थीं। धन की दृष्टि से मारवाड़ियों में वे सबसे बड़े आदमी और इस देश के उस समय के सभी समुदायों के सबसे अधिक धनवान व्यक्तियों में एक माने जाते थे। नोटों का उस समय बहुत चलन न होने के कारण चाँदी और सोने के सिक्कों का ही अधिक चलन था अतः गाँवों और दूकानों से रुपया थैलों में भरकर आता और यह इतना अधिक होता कि गिना न जाकर तौला जाता। इसके रखने के लिए राजा गोकुलदास महल में अनेक गुप्त तलघर बने हैं, जो उस समय भरे रहते पर अब खाली पड़े हैं। उनकी दानशीलता भी बड़ी प्रसिद्ध थी। जबलपुर के वाटर वर्क्स, टाउनहाल, औरतों का अस्पताल, बच्चों का अस्पताल आदि अनेक संस्थाओं का उन्होंने निर्माण कराया था। मध्य प्रदेश

उस समय चीफ कमिश्नर का प्रान्त था। सन् १८८७ में जबलपुर के एक दरबार में मध्य प्रदेश के तत्कालीन चीफ कमिश्नर ने उनके दान के सम्बन्ध में अपने भाषण में कहा था—

"जबलपुर के दरबार में गोकुलदासजी की दानशीलता के सम्बन्ध में कुछ कहना एक साधारण बात है। परन्तु जबलपुर के निवासियों से यह कहना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि सार्वजनिक उदारता के विषय में गोकुलदासजी के अपार दान के स्वर्ण पक्षों की छाया में वे अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से नहीं बच सकते और न अपनी न्यूनता को छिपा सकते।...गोकुलदास जी के दान समुद्र ने आप लोगों के दान को तुच्छ बनाकर डुबा दिया है।"

आधुनिक जबलपुर के वे निर्माता कहे जाते हैं। उनके सम्बन्ध में एक कहावत सी प्रचलित थी कि वे यदि मिट्टी को छूते हैं तो सोना हो जाता है, पर इसी के साथ एक बात और भी थी कि जिस तरह मिट्टी सोना बनकर उनके हाथों में आती थी उसी तरह दान में सोना उनकी उँगलियों के बीच से पानी बनकर बहता रहता था। अपने पूर्वजों के सदृश वे भी अंग्रेज सरकार के भक्त थे और उनके समय जिन सरकारी पदवियों का बड़ा आदर था उन पदवियों में सबसे बड़ी "राजा" की पदवी देकर सरकार ने उनका सम्मान किया था।

उनके एक ही पुत्र थे—मेरे पिता जीवनदासजी। जीवनदासजी की शान-शौकत और शौक साथ ही अत्यधिक उदारता उस समय के सारे भारत के सम्पत्तिशाली समाज में विख्यात थी।

मेरा जन्म और शैशव

वि० संवत् १६५३ की आश्विन शुक्ल १०, सन् १८६६ की १६ अक्टूबर को मेरा जन्म हुआ। इंगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक श्री एच० जी० वेल्स ने एक स्थान पर लिखा है—"मैं पैदा हुआ यही तो सबसे महान् घटना है।"

इस कथन को अहंमन्यतापूर्ण कथन भी माना जा सकता है और स्वाभाविक भी। पृथ्वी पर मानव क्या है ? और मानवों में अब तक कितने जन्म ले चुके, कितनों की मृत्यु हो चुकी, कितने रोज पैदा होते और कितने मरते हैं। अतः इस दृष्टि से किसी का जन्म व मरण कोई महत्त्व नहीं रखता। और जब हम वेल्स साहब के कथन को इस नजर से देखते हैं तो उनका कथन अहंमन्यता का मूर्तिमन्त रूप माना जा सकता है। परन्तु जिस व्यक्ति का जन्म होता है उस व्यक्ति के लिए तो उस घटना से बड़ी और कोई घटना नहीं हो सकती। जिसका जन्म ही नहीं उसका जीवन ही कहाँ और कहाँ उसके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कोई घटना। इस दृष्टि से वेल्स साहब का यह कथन एक स्वाभाविक कथन है। तो यदि मैं नित्य के जीवन-मरण की ओर दृष्टिपात करता हूँ तो मेरे जन्म को क्या महत्त्व है ? कुछ भी नहीं। पर यदि मैं अपनी ओर दृष्टि फेंकता हूँ तो मानना ही होगा कि मेरे से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त घटनाओं में यह सबसे प्रधान घटना है।

विजयादशमी भारतीय समाज में वर्ष के महान् दिवसों में एक दिन माना जाता है। मेरे पितामह मेरे जन्म के समय वृद्ध हो गये थे और धन, सम्मान, सब कुछ प्राप्त करने के पश्चात् इस अवस्था में उनके जीवन की सबसे बड़ी आकांक्षा थी—पौत्र जन्म। इस शुभ दिवस को ऐसी परिस्थिति में मेरे जन्म ने राजा गोकुलदास महल में एक अभूतपूर्व सुखमय प्रसंग उपस्थित कर दिया। कहते हैं मेरे जन्म की दावतों, महफिलों और जलसों के सदृश कोई बात जबलपुर ने उसके पहले न देखी थी।

कहा जाता है कि मेरे जन्म के जल्सों के समान ही मेरे लालन-पालन की भी व्यवस्था हुई। सन १८९६ में जब मेरा जन्म हुआ तब का युग ऐसा वैज्ञानिक युग नहीं था जैसा आज का युग है। उस समय डाक्टरों और नर्सों का ऐसा दौरदौरा नहीं था, डाक्टर तो फिर भी थे, परन्तु नर्सें तो नहीं के बराबर। कीटाणुनाशक (एण्टी सैप्टिक) दवाओं का प्रचार और उपयोग भी क्वचित ही देखने में आता था। इतने पर भी मेरे लालन-पालन की व्यवस्था जबलपुर के सिविल सर्जन की देखरेख में की गयी, जो उस समय हमारे कुटुम्ब के कौटुम्बिक डाक्टर भी रहते थे। एक ही दृष्टान्त से पता लग जाता है कि उस अवैज्ञानिक युग में भी इस विषय में विज्ञान का किस प्रकार का सहारा लिया गया था। माँ के दूध के सिवा जब मुझे गाय का दूध पिलाया जाना आरम्भ हुआ तो उस समय सिविल सर्जन ने उस गाय का मुलाहिजा ढोर डाक्टर से तथा उस गाय के दूध की जाँच बायालाजिस्ट से करा उस गाय को क्या खिलाया जाय इस तक का, उसकी खुराक का नुस्खा स्वयं लिखा था तथा जिन बरतनों में दूध बनाकर दिया जानेवाला था उन्हें किस प्रकार साफ कर रखा जाना चाहिए इसकी विधि, बिना विशिष्ट कीटाणुनाशक दवाओं के ईजाद हुए ही, मेरी माताजी को बतायी थी।

मेरे जन्म ने मेरे पितामह के हृदय में हर्ष की जो हिलोर उठायी थी वह मेरे जन्म के जल्सों में ही समाप्त नहीं हुई। जब तक वे जीवित रहे तब तक मेरे सम्बन्ध में उनके हृदय में स्नेह की किसी न किसी प्रकार की हिलोर सदा ही उठती रही।

कहते हैं जब मैं सूतिकागृह में था उस समय भी यदि कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति मेरे पितामह से मिलने आता तो वे उसे सूतिकागृह के द्वार तक लाते और मैं उन्हें दिखाया जाता। उस समय जबलपुर में बिजली नहीं थी अतः इनमें से यदि कोई महाशय रात को पहुँचते तो इस कार्य के लिए मेरे पितामह स्वयं लालटेन लेकर सूतिकागृह तक जाते। मेरे वृद्ध पितामह की इस बाल-वृत्ति पर कई बार मेरी पितामही झुँझला पड़तीं, पर इसका भी उन पर कोई असर न होता और वे उनसे कहते—"इसकी जिम्मेदारी तुम पर भी कम नहीं है। तुम्हीं तो इसके जन्म के पहले कहा करती थीं कि और चाहे कुछ भी हो लड़का काला न हो।" बात यह है कि मेरे सभी पूर्वज साँवले रंग के थे। मेरी माता जी ने मेरे कुटुम्ब

का रंग बदला। मेरे जन्म के पूर्व मेरी दादी जी को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि कहीं मैं भी काला ही न होऊँ।

जब मैं चौदह दिन का था तब सूतिकागृह से बाहर निकला। उसी दिन मेरा नामकर्ण हुआ। मुझे कुछ समझ आने पर जब मैंने माताजी से यह सुना कि चौदह दिन की अवस्था में ही मैं अपने पितामह के साथ अनेक बार घोड़े की बग्घी पर बाहर जाने लगा था, तब मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ।

इतना अधिक काम रहने पर भी मेरे पितामह मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक काम स्वयं करते। कई बार मुझे तेल लगाते, उबटन लगाते, नहलाते, मेरा शरीर पोंछते और मुझे चम्मच से दूध भी पिलाते। उनके हाथों में कुछ कंप था। कहते हैं एक दिन मुझे दूध पिलाते हुए उनका हाथ काँपा तो दूध मेरे मुँह में न जाकर मेरी नाक में चला गया। मुझे बड़ी जोर की ठसकी लगी। मैं तो बेतरह रोया ही, पर मेरे रोने से कहीं बेतरह वे घबड़ाये। इस घटना के पश्चात् मुझ से सम्बन्ध रखनेवाले कामों में से कम से कम एक काम का भार उनके सिर पर नहीं रहा। फिर उन्होंने मुझे दूध कभी नहीं पिलाया।

मेरे पितामह के मेरे प्रति स्नेह के सम्बन्ध में न जाने कितनी कथाएँ हैं। इनमें कई ऐसी हैं जो शैशव अवस्था की हैं और जो मुझे याद नहीं, मैंने केवल सुनी हैं, कई मुझे भी याद हैं, जो मुझमें समझ आने के बाद की हैं, क्योंकि मेरी बारह वर्ष की आयु तक वे जीवित रहे, और जब तक वे जीवित रहे मैं उन्हीं के साथ रहा, माताजी से भी अधिक उनके साथ। पौत्र के प्रति पुत्र से भी अधिक स्नेह होता है, इस सम्बन्ध में एक कहावत है—"मूल से ब्याज ज्यादा प्यारा होता है।" जो कुछ हो सभी पितामह अपने पौत्रों पर अत्यधिक स्नेह करते होंगे, पर मैंने अपने प्रति अपने पितामह के जैसे स्नेह की कथाएँ सुनी हैं और बाद में उनका जैसा स्नेह पाया है वैसे स्नेह का सौभाग्य कम पौत्रों को प्राप्त होता होगा।

शिशु को किस अवस्था से स्मरण रहता है, इस विषय में अलग-अलग मत हैं। हर व्यक्ति के संस्मरण की अवस्था में भी अन्तर पाया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को यदि अपनी तीन वर्ष की अवस्था की घटनाएँ याद हैं तो किसी को पाँच वर्ष की अवस्था से पहले की नहीं। फिर एक विशेष अवस्था

के पश्चात् की सारी घटनाएँ याद रहती हों यह भी नहीं। अपनी किस अवस्था से मुझे स्मरण है यह अब कह सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है, पर जिन चीजों या घटनाओं के मेरे सबसे पहले संस्मरण हैं उनमें से कुछ का उल्लेख मैं कर सकता हूँ। ये हैं—मेरे खेलों के कुछ खिलौने, उन खिलौनों से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ कथाएँ। मेरी भोजन की पद्धति। मेरा पितामह के साथ घूमना और बगीचे में फूलों तथा फलों की उत्पत्ति का निरीक्षण। एक बिल्ली की जचकी। बन्दर, भालुओं, नट और बेडनियों के तमाशे। बटेरों की लड़ाई। पुतलियों का नाच। पतंग उड़ाना। रासलीला तथा रामलीला। हमारे कौटुम्बिक मन्दिर के उत्सव। हमारी गौलाशा की गायें, बछड़े, बछड़ियाँ, साँड़। और इन सब के साथ मेरे जन्म से ही मेरी लगभग ४० वर्ष की अवस्था तक मेरी अर्दली के रूप में सदा मेरे संग रहने वाले ठाकुर काशीसिंह। ठाकुर साहब मिर्जापुर जिले के थे। उस समय जयपुर के राजपूत और मिर्जापुर के ठाकुर हमारे यहाँ बड़े विश्वसनीय माने जाते। काशीसिंह उनमें सर्वोपरि थे। छः फुट से भी अधिक ऊँचे और वैसे ही मोटे-ताजे कसरती जवान। उनके खूब भरी हुई काली दाढ़ी भी थी। मैं उन्हें "हाऊ" कहता। इसीलिए वे हाऊजी ही कहलाते। हमारे यहाँ वे पचास वर्ष रहे और हमारे यहाँ ही मरे। हमारे यहाँ पीढ़ियों तक लोग रहे। अभी भी हमारे सदर मुनीम हीरालालजी हमारे यहाँ अपनी चौथी पीढ़ी में हैं। उस समय के बड़े घरों में यह रिवाज ही था और ऐसे लोग नौकर न रहकर कुटुम्बी हो जाते थे। तनख्वाह के सिवा इनके व्याह-शादी आदि कुटुम्ब का खर्च भी हमीं चलाते।

अपने शैशव के संस्मरणों में सबसे पहला संस्मरण मुझे अपने खिलौनों का है। जिस अवस्था में बच्चे उन्हें दी हुई हर वस्तु को अपने मुख में डालते हैं, और ऐसी अवस्था में उन्हें खुनखुने आदि खिलौने दिये जाते हैं, उस अवस्था के खिलौनों का मुझे स्मरण नहीं, मुझे तो उस समय के खिलौनों की याद है जब शिशु घुटने चलने के पश्चात् बैठने और बैठने के उपरान्त खड़े होने और खड़े होने के बाद चलने तथा दौड़ने लगते हैं और इस अवस्था में खिलौनों से खेलते, उनका भेद जानने का प्रयत्न करते, उन्हें तोड़ते और उनके साथ अगणित प्रकार का व्यवहार करते हैं। ऐसी अवस्था में मुझे अधिकतर मिट्टी, लकड़ी,

धातु और पत्थर की भगवान की भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ, खिलौनों के रूप में दी जाती थीं। मिट्टी की इन मूर्तियों में विशेषकर गणेशजी, दुर्गाजी और हनुमानजी की मूर्तियाँ; लकड़ी की मूर्तियों में जगन्नाथजी, बलभद्रजी और सुभद्राजी की मूर्तियाँ; धातु की मूर्तियों में कृष्ण, राधा, राम, सीता एवं लक्ष्मण की मूर्तियाँ; और पत्थर की मूर्तियों में लड्डू गोपाल की मूर्तियाँ मुख्य रहती थीं। इन सब मूर्तियों में उस अवस्था में मेरे लिए गणेशजी, दुर्गाजी और हनुमानजी की मूर्तियाँ सबसे अधिक कौतूहलवर्द्धक थीं। इसका कारण था गणेशजी का आधा हाथी और आधा मनुष्य का शरीर तथा इतने बड़े शरीर के नीचे काला रंगा हुआ छोटा-सा चूहा, दुर्गा की आठ भुजाएँ और शेर पर उनकी सवारी, हनुमान का बन्दर का चेहरा, और एक हाथ पर उठाया हुआ पहाड़, जगन्नाथजी, बलभद्रजी और सुभद्राजी की मूर्तियों से तो मैं पहले-पहल उनकी बड़ी-बड़ी विकराल आँखों, नाक और ओठों के कारण डरता भी था। इन सब मूर्तियों के सम्बन्ध में मुझ से कहा जाता कि ये भगवान् की मूर्तियाँ हैं अतः इन्हें तोड़ना नहीं चाहिए। मेरे खिलाने के लिए मेरे साथ सदा ही हाऊजी रहते। उनके हिन्दू होने के कारण इन मूर्तियों को मुझे खिलौने के रूप में दिये जाने पर भी उनको इन मूर्तियों में श्रद्धा रहती और वे भी मुझे इन्हें न तोड़ने देते। बच्चे खिलौनों को उनके भीतर क्या है, इस जाँच के लिए प्रायः तोड़ा करते हैं। मेरी इस जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए इन मूर्तियों से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ आरम्भ हुईं। ये कथाएँ अधिकतर तो हाऊजी कहते, पर कभी-कभी मेरी माँ और मेरे पितामह भी। उस अवस्था में मैं इन कथाओं को पूरी तो न समझता, परन्तु पूरी न समझने पर भी ये मुझे मनोरंजक अवश्य लगतीं। खिलौने के भीतर क्या है, मेरी यह जिज्ञासा, बिना मेरे या इन कथा कहने वालों के समझे, आपसे आप, इन कथाओं द्वारा सन्तुष्ट हो जातीं और मैं इन मूर्तियों को न तोड़ता। धीरे-धीरे इन मूर्तियों की संख्या बढ़ चली। इन मूर्तियों में अधिक मूर्तियाँ मिट्टी की रहतीं और ये बहुधा उस समय खरीदी जातीं जब हिन्दुओं के कोई मेले-ठेले होते। ये मेले अधिकतर हनुमान ताल पर ही होते। जब इन मूर्तियों की संख्या काफी बढ़ गयी तब इनके रखने के लिए एक अलग कमरे की ही व्यवस्था की गयी। उस कमरे में लकड़ी की खुली

अलमारियाँ बनीं और उनमें इन्हें सजाया गया। मैं प्रायः उसी कमरे में बैठा-बैठा इन मूर्तियों को देखता रहता, इनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक पौराणिक कथाएँ सुनता रहता, कभी किसी मूर्ति को बड़ी सावधानी से उठा भी लेता और इधर-उधर देख-दाख कर फिर रख देता। शनैः शनैः मुझमें आपसे आप वह सावधानी आ गयी जिससे इन मूर्तियों को मेरे हाथ से कोई जोखिम न पहुँचे। मुझे याद है कि सर्वप्रथम मैं सभी खिलौनों को "सुन्दारा" कहा करता। न जाने खिलौने के लिए सुन्दारा शब्द मैंने कहाँ से ईजाद किया था। धीरे-धीरे मैंने मूर्तियों को गणेशजी, देवीजी, हनुमानजी इत्यादि अलग-अलग नामों से पहचानना और उन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधन करना आरम्भ किया।

मैं घर में सबसे अधिक चाहता था अपने पितामह को और उनके पश्चात् माताजी को। शिशु जिस अवस्था में माँ को सबसे अधिक चाहते हैं उस अवस्था का मुझे स्मरण नहीं, जिस अवस्था से मुझे स्मरण है उस अवस्था में मैं आज भी स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि मेरा स्नेह माताजी से भी पितामह पर अधिक था। इसका सबसे बड़ा कारण था मेरी भोजन करने की पद्धति। मेरे पितामह के हाथ में कंप था, अतः वे मुझे भोजन न करा सकते और मुझे भोजन करातीं मेरी माताजी। मैं उनके घुटने पर बैठकर ही खा सकता। खाने में मुझे अत्यधिक देर लगती, क्योंकि मैं कौर को मुँह में सदा एक गाल के नीचे भर लेता। जब मैं उसे बहुत देर तक न चाबता और न लीलता तब कभी-कभी माताजी अँगूठे से उसे मेरे मुँह में ठेल देतीं। इस छोटे से प्रहार को उन्होंने "गुलचा" नाम दिया था। मेरी इस प्रकार की भोजन करने की पद्धति अर्थात् माताजी के घुटने पर बैठे-बैठे गुलचे खाते हुए घण्टों तक खाते रहना माताजी के मन में अनेक बार खीज उत्पन्न करती। कई बार गुलचे खाने के कारण मैं रोने भी लगता। मेरे पितामह न मुझ पर खीजते और न उनके हाथों मुझे गुलचे ही खाने पड़ते। माताजी से भी पितामह पर मेरे अधिक स्नेह का कदाचित यही सबसे बड़ा कारण था।

मैं अपने पितामह के साथ अपने बगीचे गोपाल बाग में घूमने बहुत जाता। एक बात से न जाने क्यों मेरी बड़ी दिलचस्पी रहती। जब किसी भी वृक्ष या

पौधे में कलियाँ लगतीं तब उन कलियों का बड़ा होना, उनका चटक कर अनेक पंखड़ियोंवाला फूल बनना, उस फूल का फल में परिणत होना, इस प्रकार कली के रूप से धीरे-धीरे फल बनने की इस क्रिया को देखते-देखते मैं कभी न अघाता।

इन्हीं दिनों उस समय की मेरी दृष्टि से मेरे यहाँ एक अद्‌भुत घटना घटित हुई। यह घटना थी एक बिल्ली की जचकी। इस बिल्ली ने तीन बच्चे जने—एक सफेद, एक काला और एक उसी के रंग का चितकबरा। मैं इन बच्चों को देख आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। मेरे आश्चर्य के दो कारण थे—पहला तो यह कि चितकबरी बिल्ली के तीन बच्चे अलग-अलग रंग के कैसे हुए। दूसरे न जाने कैसे मैं यह समझता था कि जैसे कली पहले बँधी हुई होती है और जब वह फूल के रूप में आती है तब उसकी पंखड़ियाँ अलग-अलग होती हैं उसी प्रकार पैदा होते समय जीवधारी भी एक लौंदे के रूप में होते होंगे और फिर धीरे-धीरे उनके हाथ, पैर, नाक, कान, आँखें, मुँह, सारे अंग उस लौंदे में से निकलते होंगे। इस बिल्ली के बच्चों के सारे अंग पहले से ही कैसे बन गये इस पर मैं विचार करता रहता। कुछ दिन बाद मैंने देखा कि हाऊजी उस बिल्ली के काले बच्चे को बड़ा प्यार करते हैं और सबसे सुन्दर मानते हैं। मैं अपने गोरे रंग की अपने घर में बड़ी प्रशंसा सुन चुका था। मेरे मन में आया कि क्या मानवों में ही काला रंग बुरा माना जाता है अन्य जीवधारियों में नहीं।

बन्दर और भालुओं के तमाशे से मेरा बड़ा अनुराग था। मदारी बन्दर का नाम प्रायः फाटेखाँ और बन्दरिया का नाम सागरवाली रखते। मदारी के डमरू पर धोती पहने लाल टोपी लगाये तथा हाथ में डण्डा लिये फाटेखाँ और लाल लहँगा तथा हरी चोली पहने हुए सागरवाली कैसे नाचते! सागरवाली की मानलीला और फाटेखाँ का उसे मनाना मैं अब तक नहीं भूला हूँ। इसी प्रकार लम्बे-लम्बे बालों वाले काले रीछ की मदारी से कुश्ती अभी भी मुझे कई बार याद आ जाती है।

नट और बेड़नी की कसरतें भी उस समय बहुत प्रचलित थीं। बाँसों पर रस्सी खींच, उस पर लँगोटी लगा तथा सिर पर लाल चिन्धी बाँध नट कैसी-

कैसी कसरतें करता, बेड़नी किस तरह ढोलक बजाती और जमूरे किस तरह चिल्लाते। मैं निर्निमेष दृष्टि से इस सबको देखा करता।

बटेरों की लड़ाई देखने के लिए तो मैं सबसे अधिक उत्सुक रहता, क्योंकि बटेरवाले जबलपुर में नहीं होते। पहले तो एक बटेरवाला अपने आप लखनऊ से जबलपुर आया, फिर मेरी उत्सुकता के कारण कई बार ये लखनऊ से बुलाये जाते। बटेर अपनी चोंचों को फाड़-फाड़, अपने पंखों को फैला-फैला पंजों को उठा-उठा किस तरह लड़ते और ये बटेरवाले उनके कैसे-कैसे नाम और किस्से बताते। किसी बटेर का नाम रुस्तम और किसी का शमशेर जंग। उनकी वीरता भी कैसी? एक बटेर ने इस जोर से अपना पंजा शेर के मुँह पर मारा था कि वह शेर तत्काल धराशायी हो गया। एक बटेर ने अपनी चोंच इस जोर से हाथी के सिर पर मारी थी कि उसका सिर फट गया और हाथी के मस्तक में जो गज मोती रहते हैं वे उसके फटे हुए सिर में से निकलकर जमीन पर फैल गये। बटेरों की लड़ाई से भी कहीं अच्छे मुझे लगते बटेरवालों के ये किस्से और इन किस्सों को कहने का तरीका।

बटेरवाले लखनऊ के थे। अपना इनाम-इकराम देख इन्हीं ने लखनऊ से पुतली नचानेवालों को भेजा। इस पुतली के नाच ने केवल मेरा ही मनोरंजन किया, ऐसा नहीं, मेरे घरवालों और समीपवर्तियों का ही मनोरंजन किया ऐसा भी नहीं, मुझे याद है कि राजा गोकुलदास महल के विशाल आँगन में इस पुतली के नाच देखने के लिए बड़ी-बड़ी भीड़ें हुआ करती थीं। पुतलियों से ऐसी डोरियाँ बाँधकर, जो दिखायी नहीं देती थीं, परदे के पीछे बैठकर ये पुतली नचानेवाले बड़ी-बड़ी पुतलियों को ऐसी सिफ़त से नचाते और उस नाच में परदे के पीछे से ही इस प्रकार का सम्भाषण करते और गाते थे कि ऐसा जान पड़ता कि वे पुतलियाँ निर्जीव न होकर जीवित हैं और नाचती हुई सम्भाषण कर रही तथा गा रही हैं। मैं समझता हूँ कि इस कला का अब बहुत दूर तक लोप हो गया है। उस समय इसे "बादशाही तमाशा" कहते थे।

इसके बाद लखनऊ के ही एक व्यक्ति ने मुझ में पतंग उड़ाने का शौक पैदा किया। मैं सड़क पर तो पतंग उड़ाने न जाने पाता, पर छतों से ये पंतगें उड़तीं। पंतग मैं न उड़ाकर वे ही लखनवी महाशय उड़ाते, उसे बढ़ाते और

दूसरी पंतगों से लड़ाते। मैं तो कभी-कभी जब पंतग काफी ऊपर और दूर तक पहुँच जाती, तब उसकी डोरी हाथ में ले उसमें कितनी ताकत भर गयी है इतना ही देखता। मैं उस समय इतना छोटा था कि शायद इससे अधिक इस मैदान में कुछ कर सकना मेरे लिए सम्भव भी न था। पंतग-लीला में जोश उस समय आता है जब दूसरी पंतग से पेच आरम्भ होते हैं। उस समय उड़ानेवाले की मुद्रा, उसकी दृष्टि, सभी देखने योग्य हो जाती है। इन लखनवी सज्जन या दुर्जन की उस समय की मुद्रा अब तक मुझे वैसी की वैसी याद है। उन मुद्राओं में पतंगों को उनकी ढील, खींच, गोते, क्या-क्या कहूँ! शैशव के भी इस प्रकार के स्मरण कदाचित विस्मृत नहीं होते और जब वे किसी पंतग को काट देते तब कैसे जोर से बोलते "वह काटा है"; और मैं भी "वह काटा है" कहकर किस प्रकार उनका साथ देता! पर यदि कहीं हमारी पतंग कट जाती, वे सिर झुका लेते, कुछ देर अनमने रहते, लेकिन तुरन्त ही नया काँच पीसने, नये मंजे बनाने, नयी डोर तैयार करने में लग जाते। कितनी तरह और कितने रंग-रूप की ये पंतगें, इनकी डोर के चरखे आदि लखनऊ से आते! इन महाशय को हमारे यहाँ इसके सिवा अन्य कोई काम ही न था।

वल्लभ कुल सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण हमारे यहाँ व्रजमण्डल की रास मण्डलियों के रास भी बहुत होते। कृष्ण की मूर्तियों से खेलने, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं के सुनने के पश्चात् उन कथाओं का रास में प्रदर्शन मुझे बड़ा भला लगता। उस अवस्था में भी कभी-कभी तो मैं उस रास में ऐसा तल्लीन हो जाता कि अपनी सुधबुध तक खो बैठता। उस समय व्रज की इन रास मण्डलियों का बड़ा प्रचार था।

नवरात्र में जबलपुर में रामलीला होती। शैशव में देखी हुई रामलीला का भी मुझे स्मरण है, परन्तु रासलीला के सदृश नहीं। रामलीला की जो बातें मुझे याद भी हैं उनमें सब से अधिक बन्दरों और भालुओं के चेहरे।

यह पहले कहा जा चुका है कि हमारा कुटुम्ब वल्लभाचार्य जी के पुष्टि-मार्ग का अनुयायी है और राजा गोकुलदास महल के सामने ही हमारा कौटुम्बिक श्री गोपाललालजी का मन्दिर है। उस मन्दिर से मेरे पितामह ने शैशव से ही मेरा सम्बन्ध करा दिया था। तीन वर्ष की अवस्था से ही मन्दिर के हर

उत्सव में मैं मन्दिर में स्नान करता। पुष्टि मार्ग में गायों का भी बहुत बड़ा स्थान है अतः धार्मिक दृष्टि से, और दूध, दही, मक्खन, घी के लिए भी हमारे घर में सदा से ही एक सुन्दर गौशाला रही है। इस गौशाला के साँडों से तो मैं बहुत डरता, पर पहले बछड़े, बछड़ियों से मैं बहुत खेलता और कुछ बड़े होने पर गायों को अन्न की लोइयाँ तथा हरा घास खूब खिलाता। कभी-कभी तो मेरे दिन के दिन गौशाला में बीत जाते। मैं गौशाला में जैसा मग्न हो जाता वैसा शायद कहीं नहीं। इसलिए मेरे शैशव में हमारे कुटुम्ब की और मुनीम-गुमाश्तों की स्त्रियाँ मेरे सम्बन्ध में एक कविता प्रायः कहा करतीं जो मुझे अब तक वैसी की वैसी याद है—**"आगे गाय, पीछे गाय, इत गाय, उत गाय, गोविन्द को गायन में ही रहबो सुहावे री।"**

शैशव की अन्य बातें तो शैशव के संग ही समाप्त हो गयीं, पर मन्दिर के प्रति भक्ति और गायों के प्रति अनुराग मेरे जीवन के साथी हो गये। आगे चलकर जब मैं सार्वजनिक जीवन में आया, और गोबध बन्द कराने के आन्दोलन का जो मेरे सार्वजनिक जीवन में इतना स्थान हुआ, उसकी नींव मेरी शैशव अवस्था में ही पड़ गयी थी।

मेरे पहले मेरी माता के कोई सन्तान न हुई थी। जब मैं पौने दो वर्ष का था, उस समय मेरे एक बहन हुई, पर वह उसी दिन मर गयी। मेरी जो बहन जीवित रही और उनके बाद भी मेरे और कोई भाई बहन न हुए, वह मुझ से पूरे चार वर्ष छोटी थी। अतः शैशव काल में इन बहन-भाइयों के कारण बच्चों में जो स्पर्द्धा या ईर्ष्या होती है, उसका मुझे कोई अनुभव नहीं है।

मेरे इस शिशु जीवन की सबसे आकर्षक स्मृतियाँ उस समय की सुनी हुई कहानियाँ हैं। श्री प्रेमचन्दजी ने एक स्थान पर लिखा है—"बाल जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है।" अपने अनुभवों के आधार पर मैं प्रेमचन्दजी के इस मत से पूर्णतया सहमत हूँ।

मेरा निर्माण किस वायुमण्डल में हुआ ?

एक मत है कि मानव का निर्माण उसके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार होता है। दूसरा मत है कि मानव आनुवंशिकता (Hiredity) और वातावरण (Environment) के अनुसार बनता है। पहला मत दार्शनिक और दूसरा वैज्ञानिक माना जाता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ रही हैं। जब मनुष्य जंगलों में रहकर कन्द, मूल, फल और शिकार से अपना पेट भरता तथा सन्तानोत्पत्ति करता था उस समय भी किसी न किसी प्रकार का मानव समाज था। इसके पश्चात् पुरानी साम्यवादी सामाजिक रचना हुई; इसके बाद ामन्तशाही आयी; और सामन्तशाही के पश्चात् पूँजीवाद। कुछ तत्ववेत्ताओं ; जिनमें कार्ल मार्क्स मुख्य थे, भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद समाप्त होकर वैज्ञानिक साम्यवाद स्थापित होगा, परन्तु उसके आसार अभी नहीं दिखाई देते। रूस और चीन में जिस प्रकार की सामाजिक रचना है और हो रही है, उसके कारण अधिकांश आधुनिक तत्ववेत्ता कहने लगे हैं कि कार्ल मार्क्स ने जैसे समाज की कल्पना की थी वह अभी भी कल्पना के संसार में ही है।

इन सब सामाजिक रचनाओं में हम एक प्रकार की सामाजिक रचना में भी मानव के जैसे भिन्न रूप देखते हैं उससे यह कहना अत्यन्त कठिन हो जाता कि मानव का निर्माण पूर्व जन्म के कर्मानुसार होता है या आनुवंशिकता वातावरण के अनुरूप।

हम किसी समय की भी सामाजिक रचना को क्यों न देखें, हमें हर रचना में भिन्न-भिन्न प्रकार के मानव मिलते हैं। इस दृष्टि से यदि दार्शनिकों के पूर्व जन्म वाले मत को मान लें तो भिन्न-भिन्न प्रकार के के निर्माण का रहस्य समझने में सरलता भी हो जाती है।

परन्तु आधुनिक विज्ञान जब तक कोई बात वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा

प्रमाणित न कर दी जाय तब तक इतनी सरलता से किसी बात को मानने के लिए तैयार नहीं। उसके मतानुसार मनुष्यों की यह भिन्नता उनके पूर्व जन्म के कर्मानुसार न होकर आनुवंशिकता और वातावरण के कारण है।

मेरा निर्माण मेरे पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार हुआ, मैं यद्यपि यही मानता हूँ तथापि इसमें आनुवंशिकता और वातावरण का कोई असर नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

जहाँ तक आनुवंशिकता का सम्बन्ध है मुझे, जैसा भी मेरा शरीर है, वह शरीर, और जैसी भी मेरी बुद्धि है, वह बुद्धि, अपनी माता, अपने पिता और अपने पितामह से प्राप्त हुई। मेरा बलिष्ठ और निरोग शरीर मुझे मेरे पिता और पितामह की देन है। अपने पिता और पितामह से उँचाई में मैं जो कम रह गया और उनके वर्ण के विरुद्ध रंग में जो गेहुँआ हो गया, वह मेरी माताजी के कारण। मेरी बुद्धि भी कदाचित मुझे अपनी माताजी से ही मिली है। इस प्रकार जन्म-जात वस्तुओं को छोड़ मेरे आगे के निर्माण में जिस वायुमण्डल में मैं जन्मा और बड़ा हुआ इसका भी कम हाथ नहीं माना जा सकता। इस वायु-मण्डल का प्रभाव शैशव में ही पड़ता है, ऐसा नहीं है, पर शायद शैशव के पश्चात्, जब मनुष्य में कुछ अधिक विचार करने की शक्ति आना आरम्भ होता है, उस समय, अधिक पड़ता है।

मैं जिस काल में जन्मा और बड़ा हुआ वह इस देश में सामन्तशाही के अन्त का आरम्भ और पूंजीवाद के विकास का आरम्भ का काल था। यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

इतिहास फिर करवट बदल रहा था। अंग्रेजी साम्राज्य की बाढ़ भारत की प्राकृतिक सीमाओं तक पहले ही पहुँच चुकी थी और फलतः समस्त देश में प्रथम बार यह विचार एवं भावना पैदा हो रही थी कि एक ओर तो अंग्रेज हैं और दूसरी ओर भारतीय। इस भावना का प्रथम व्यक्त चिन्ह १८५७ का राष्ट्रीय विद्रोह था। उससे पूर्व भारत में यह विचार न था कि अंग्रेज एक तरफ हैं और भारतीय दूसरी तरफ। सत्रहवीं शताब्दी में तो अंग्रेजों के प्रति भारत के विभिन्न शासकों के मन में वैसी ही भावना थी जैसी कि वे पैसे से खरीदे जाने वाले विदेशी देशी सिपाहियों के सम्बन्ध में रखते थे। अपने पारस्परिक

संघर्षों में वे अंग्रेजों की सहायता इसी विचार तथा विश्वास से प्रेरित होकर लेते थे। उस समय अंग्रेजों की अपनी कोई स्वतंत्र राजनैतिक शक्ति भारत में थी भी नहीं। किन्तु अठारहवीं शताब्दी में भारतीय राजनीति में अंग्रेजों ने स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति के रूप में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। उन दिनों भी उनके सम्बन्ध में किसी भारतीय शासक का यह विचार न था कि सब भारतीय शासकों के वे ही प्रधान शत्रु हैं और वे ही उन सब को अपनी राजनैतिक प्रभुता तथा आर्थिक ऐश्वर्य से वंचित करनेवाले हैं। इसके विपरीत लगभग सभी भारतीय शासक यह समझते थे कि अनेक भारतीय राजाओं के समान ही वे भी भारत के एक छोटे प्रदेश के शासक हैं, इसलिए अपने पारस्परिक युद्धों में इन अंग्रेजों की सहायता लेने में या उनसे मैत्री सम्बन्ध रखने में कोई बुराई नहीं है। अनेक शताब्दियों तक अंग्रेजों के प्रति यही विचार बना रहा, जिसका फल यह हुआ कि आज एक भारतीय शासक से मिलकर एवं कल दूसरे भारतीय शासक से मिलकर अंग्रेज शनैः शनैः भारत में अपना राज्य फैलाते रहे तथा एक-एक करके भारतीय शासकों को अन्य भारतीय शासकों की सहायता एवं सहयोग से ही पराजित करते रहे। नतीजा यह निकला कि एक दिन ऐसा आया जब लगभग सभी भारतीय अंग्रेजों के अधीन हो गये। ऐसा होने पर ही स्वार्थी और राष्ट्रीय भावना से सर्वथा हीन भारतीय शासक वर्ग को यह पता चला कि उन सबके तथा समस्त भारत के प्रधान शत्रु अंग्रेज ही हैं न कि कोई अन्य। किन्तु उस समय इतनी देर हो चुकी थी कि अंग्रेजी साम्राज्य को सहज में ही न उलटा जा सकता था। फिर भी इस शासक वर्ग ने अपने भूतपूर्व राज्यों को वापस लेने एवं अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए देश में अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करने की ठानी और विभिन्न रीतियों से उस सेना को अंग्रेजों के खिलाफ करना आरम्भ किया जिस भारतीय सेना की शक्ति से ही अंग्रेज भारत पर अपना राज्य जमा पाये थे। अंग्रेजों के प्रति भारतीयों के मन में विद्वेष तो था ही। अतः इस प्रयास में यह शासक वर्ग सफल भी हुआ। १८५७ में यह विद्रोह हुआ। यदि यह शुद्ध राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय हितों की प्रेरणा से किया गया होता तो किसी सूरत में भी अंग्रेज इसको सफलता से न दबा पाते; परन्तु जहाँ साधारण जनों के मन में राष्ट्रीय प्रेरणा

ही थी वहीं विद्रोही शासक वर्ग के मन में निजी स्वार्थ ही प्रधान थे। फलतः वे एक दूसरे से आवश्यक सहयोग न कर सके, इसी कारण एक-एक करके हरा दिये गये। इसके अतिरिक्त इस विद्रोह की प्रधान प्रेरणा इन्हीं पिछले शासक वर्ग के लोगों से मिली थी। भारतीय समाज के अन्य वर्ग इस प्रेरणा से उतने प्रभावित न थे। पर १८५७ के पश्चात् शनैः शनैः इन अन्य वर्गों के मन में भी राष्ट्रीयता की ज्योति जगने लगी थी।

इस राष्ट्रीयता की ज्योति जगने में कई बातें सहायक हुईं। सर्वप्रथम बात तो वह धार्मिक प्रतिक्रिया थी जो अंग्रेजी साम्राज्य से ईसाई धर्म के गठ-बन्धन द्वारा भारत में पैदा हुई थी। जब अंग्रेजों ने भारत में अपना राजनैतिक प्रभुत्व फैलाना प्रारम्भ किया था उसी समय उनके मन में यह प्रश्न भी पैदा हुआ था कि भारतीयों के मन को किस प्रकार ऐसा रँगा जाये कि वे अंग्रेजी प्रभुता के विरुद्ध विप्लव करने की बात सोचें ही नहीं। उनमें से कुछ यह समझते थे कि ईसाइयत के प्रचार से यह बात हासिल की जा सकती है। साथ ही वे लोग जो ईसाई धर्म के प्रचारक थे यह कहते थे कि अंग्रेजी साम्राज्य तभी सफल कहा जा सकेगा जब कि वे इन अन्धकार-ग्रस्त मस्तिष्कों में प्रभु मसीह के सत्य की ज्योति जगाने में सहायता करें। पर दूरदर्शी अंग्रेज यह बात भी समझते थे कि इतनी विशाल जनसंख्या वाले देश में यह सम्भव न होगा कि यहाँ पर्याप्त संख्या में लोगों को ईसाई बना लिया जाये। आरम्भ में अंग्रेजी शासकों ने इन ईसाई धर्म प्रचारकों की कुछ सहायता भी की। कलकत्ते में इन ईसाई धर्म प्रचारकों ने विद्यालय खोला। उसमें पढ़ने वाले कुछ विद्यार्थियों ने ईसाई धर्म की दीक्षा भी ले ली। परिणाम यह हुआ भारत के धर्म प्रेमियों में खलबली मची तथा इस बात का प्रयास होने लगा कि भारतीय धर्मों की अच्छाइयों को भारतीय युवक वर्ग के समक्ष संगठित रूप में रखा जाय।

ईसाइयत के अतिरिक्त एक और बात ऐसी थी जिससे भारतीय शिक्षित वर्ग के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति अनादर की भावना फैल रही थी। स्वयं इंगलैण्ड में ही सत्रहवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों के आरम्भिक दिनों में सब प्रकार के धार्मिक विश्वासों के प्रति अनादर की भावना फैलनी आरम्भ हो गयी थी। वहाँ नव विज्ञान के परिणामस्वरूप जीवन के प्रति नये दार्शनिक

विचार फैल रहे थे। कुछ अंग्रेज यह समझते थे कि यदि भारतीयों को भी इन नये दार्शनिक तत्त्वों को पढ़ाया जाये तो वे चमड़ी की दृष्टि से भारतीय भले ही बने रहें, अपने मन तथा रहन-सहन की दृष्टि से पूरे अंग्रेज हो जायेंगे। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य अमर हो जायेगा। अतः उन्होंने भारत में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा अंग्रेजी दर्शन एवं साहित्य की शिक्षा देनी आरम्भ कर दी थी। इस शिक्षा के प्रतिक्रिया स्वरूप भी भारत में यह आन्दोलन आरम्भ हुआ कि भारतीय संस्कृति को नव विज्ञान के अनुरूप तथा अनुकूल किया जाये। इन आन्दोलनों ने स्वभावतः धर्म सुधार का रूप धारण किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति और भारतीय धार्मिक परम्परा के प्रति यहाँ गौरव तथा अभिमान की भावना फैलनी आरम्भ हुई। इसी भावना से राष्ट्रीयता के विकास को भी बल मिला।

नव दार्शनिक तत्त्वों के प्रसार का यह फल भी हुआ कि भारत में ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो उन आदर्शों को जीवन का चरम सत्य मानता था और चाहता था कि उन्हीं के अनुरूप भारतीय जन-जीवन का संगठन हो। किन्तु ऐसा करने के लिए यह आवश्यक था कि इस नये वर्ग के हाथ में वह शासनिक तथा राजनैतिक शक्ति आये जिसके द्वारा ही भारतीय जनजीवन का ऐसा पुनःसंगठन किया जा सकता था। साथ ही उन्हें यह भी खलता था कि भारतीय राजनैतिक तंत्र इन सिद्धान्तों के अनुकूल संगठित नहीं है। उन्हें यह बात बड़ी आश्चर्य-जनक लगती थी कि भारतीय प्रशासन में अंग्रेज अपने ही सिद्धान्तों एवं अपनी ही संस्कृति के विरुद्ध क्यों बरताव करते हैं। इस वर्ग में यह कहावत चल पड़ी थी कि स्वेज नहर से इस पार आने पर अंग्रेज का मानसिक दृष्टिकोण ही बदल जाता है। इंगलैण्ड में वह न्याय, स्वतन्त्रता और समदर्शिता का प्रेमी होता है, किन्तु स्वेज से इस पार आने पर वह इन आदर्शों को भूलकर निरंकुश बन जाता है। अतः यह वर्ग इस बात की माँग करने लगा कि भारत में अंग्रेज अपने आदर्शों के प्रति निष्ठावान् रहें और भारतीय राजतन्त्र को उन सिद्धान्तों के अनुकूल संगठित करें। उनकी यह माँग राष्ट्रीयता को जागृत करने लगी। यद्यपि यह माँग भारत में अंग्रेजियत को पूरी तरह जमाने तथा बढ़ाने के लिए ही थी किन्तु जैसे-जैसे इस माँग का अंग्रेजों ने विरोध किया या भारतीयों को

अंग्रेजी संस्थाओं को चलाने के अयोग्य बताया वैसे-वैसे ही भारतीयों के मन में आत्म-गौरव एवं आत्म-सम्मान की भावना जागृत होने लगी।

तीसरी बात जिसने राष्ट्रीयता को जागृत किया, आर्थिक थी। अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत संसार का औद्योगिक केन्द्र था, किन्तु अंग्रेजों ने अपनी राज-शक्ति के प्रयोग द्वारा भारत के उद्योग-धन्धों को मिटा डाला। साथ ही उन्होंने अपने देश में जन बल की कमी के कारण पैदावार के लिए आवश्यक शक्ति यन्त्रों से पैदा करनी शुरू कर दी। यन्त्र-शक्ति से पैदावार करने का ही काम औद्योगिक क्रान्ति है। इंगलैण्ड में यह औद्योगिक क्रान्ति सन् १७६५ से ही आरम्भ हो गयी थी, किन्तु भारत में इसका प्रवेश सन् १८५७ से पहले न हुआ था। तत्पश्चात् भारत में सूत कातने और कपड़ा बुनने के कारखाने लगने लगे। लंकाशायर के कपड़ा उद्योगपति भारत के इस कपड़ा उद्योग को अपना प्रतिस्पर्धी समझते थे और यह प्रयत्न करते थे कि यह पनपने न पाये। अंग्रेजी सरकार उनकी इस बात में सहायता करती थी। फलतः भारतीय उद्योगपतियों को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि भारत में स्वदेशी भावना का प्रचार हो। उन्होंने भारत में राष्ट्रीयता प्रचार के आन्दोलनों को भरपूर आर्थिक सहायता देनी आरम्भ कर दी।

साथ ही भारत के कुटीर उद्योग-धन्धों के मिट जाने से यहाँ की साधारण जनता अधिकाधिक दरिद्र होती जा रही थी। उन्हें अब केवल भूमि का ही सहारा रह गया था और भूमि भी इतनी छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट गयी थी कि उसमे की खेती से ही परिवार का खर्च न निकल पाता था। अतः यहाँ के कृषक शनैः शनैः ऋण-ग्रस्त तथा रंक हो रहे थे। कहाँ तो पहले उन्हें अपने कुटीर उद्योग के फलस्वरूप विदेशों से रुपया मिलता था और कहाँ अब उनको अपनी गाँठ से ही विदेशों को करोड़ों रुपया भेजना पड़ता था। अतः ग्राम की *स्वतन्त्रता नष्ट* हो रही थी। ग्रामवासी ऐसे जंजाल में फँसते जा रहे थे जो *उनकी* अलग-अलग इकाई को नष्ट करके एकाकार कर रहा था।

इसके सिवा अंग्रेजी शासन-प्रणाली के कारण ग्रामों का धन नगरों को खिचता आ रहा था। उन दिनों वकालत में लोग शीघ्र ही मालामाल हो जाते थे, क्योंकि अंग्रेजी शासन ने न्याय-प्रणाली को केन्द्रित कर दिया था। साथ ही

विधियों को ऐसी भाषा में बना दिया था जिसे साधारण जन समझते न थे। फलतः उन्हें वकीलों का मोहताज होना पड़ता था और उन्हें वकीलों को मनमानी फीस देनी पड़ती थी। भारत का व्यापार भी आयात निर्यात व्यापार का पुछल्ला ही होकर रह गया था। स्वभावतः बड़े-बड़े व्यापारी कलकत्ते, बम्बई जैसे-जैसे पत्तनों में जा बसे थे। देश के हृदय में स्थित महानगर अब शनैः शनैः पतन की ओर जा रहे थे। काशी की महानता कलकत्ता ने लेली थी और उज्जयिनी का गौरव बम्बई ने छीन लिया था।

यह भी स्वाभाविक था कि इन्हीं पत्तनों में शिक्षा, संस्कृति और धन का प्रधान भंडार है। साथ ही यह भी स्वाभाविक था कि इन्हीं नगरों में अंग्रेजी संस्कृति के उपासक पाये जायें और वे लोग भी पाये जायें जो उसी संस्कृति के अनुसार भारत का सामाजिक और राजनैतिक संगठन करना चाहते थे। इस प्रकार शनैः शनैः भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रचार आरम्भ हो गया था। इस आन्दोलन के प्रचार में इसलिए सुविधा थी कि सारा भारत अंग्रेजों के वश में था। इसलिए समस्त भारत के लोगों को यह लगता था कि उन सब के विपक्षी अकेले अंग्रेज ही हैं। पर यह राष्ट्रीय जागृति आन्तरिक ही थी। ज्वालामुखी के विस्फोट होने के पहले जिस प्रकार लावा उसके भीतर ही जमा होता रहता है और बाहर से वह सर्वथा शान्त दिखायी पड़ता है वैसी ही भारत की स्थिति थी। सन् १८५७ में सरकार ने जैसा घोर दमन किया था उसके कारण राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत व्यक्ति भी अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में भय खाते थे। सरकार को इन भावनाओं का पता न हो यह नहीं था, वह इन्हें जान गयी थी। उसे इनका और भी पता लगता रहे इसलिए उसने काँग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था।

परन्तु जिस कुटुम्ब में मैंने जन्म लिया वह कुटुम्ब तो इन राष्ट्रीय भावनाओं से सर्वथा अछूता था। वह था अंग्रेजी राज्य का परम भक्त। इन राष्ट्रीय भावनाओं की छाया यदाकदा हमारे कुटुम्ब पर भी न पड़ती हो यह नहीं, पर वह छाया मात्र ही रह जाती। धन की प्रचुरता, उस धन एवं वैभव के कारण अंग्रेज सरकार द्वारा सम्मान तथा बड़ी-बड़ी पदवियाँ और इस सबकी रक्षा के लिए सरकारी शक्ति का सम्पूर्ण योग, इस समस्त उपक्रम ने इस देश के अन्य

राजा-महाराजाओं, जमींदारों, ताल्लुकेदारों, मालगुजारों, सेठ-साहूकारों, के सदृश हमारे कुटुम्ब को भी अंग्रेजों का गुलाम बना रखा था।

मेरे पूर्वजों ने जबलपुर और मध्य प्रदेश अपना कारबार चाहे व्यापार से ही आरम्भ किया हो, पर अब तक नकद रुपये के स्थान पर जायदाद के बढ़ने, शान-शौकत के आ जाने और मेरे पितामह को राजा की पदवी मिलने के कारण हमारा कुटुम्ब और उसकी रहन-सहन तथा हमारे कुटुम्ब के चारों ओर का सारा वातावरण सामन्तशाही का वायुमण्डल हो गया था। मानव मन पर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है उस मकान का जिसमें वह रहता है।

जिस राजा गोकुलदास महल में मैं जन्मा था और जिसमें रहता था उसके कुछ हिस्से सेवारामजी के समय के थे, परन्तु शेष भाग इतने विशाल बन गये थे कि उनके सामने सेवारामजी के समय वाले हिस्से इस समय के राजा गोकुलदास महल के बाहर की चीज दिखायी देते थे। फिर पुराने महल के पास ही एक नया महल बना था। पुराने और नये महल के बड़े-बड़े आँगन, हाल, उनके बरामदे, महल के कक्ष, उनमें सजा हुआ फर्नीचर! इन महलों के अधिकांश भाग जयपुर के उस्तों (कारीगरों) ने बनाये थे। जयपुर के ही रंग-रेजों ने इन पर रंग किया था। फर्श थे अधिकांश स्थानों में इटली के संग-मरमर के और सजावट में सब से अधिक तादाद थी शीशों की। दो कमरों में जिनका नाम "शीश महल" और "काँच महल" है, ये शीशे उन कमरों की दीवालों में ही नहीं लगे हैं, पर उनकी छतों में भी जड़े हैं। कितने विस्तृत भूखण्ड पर यह मकान बना है और कितना विशाल है यह! मकान क्या यह एक प्रकार का मुहल्ला ही है। बुन्देलखण्ड में शहर या गाँव के सबसे बड़े मकान को 'बखरी' कहते हैं अतः यह मकान जबलपुर की बखरी भी कहलाता है। अब तो इसकी नित्य की सफ़ाई और वार्षिक लिपाई-पुताई भी सम्भव नहीं है और दुख होता है इस बात पर कि ऐसे मकान बनाये ही क्यों गये जो आगे चलकर न साफ रखे जा सकें और न लीपे पोते। सब से पहले इस महल का मुझ पर प्रभाव पड़ा, जो वहाँ रहते थे उनका तथा जो कुछ वहाँ होता था उसका।

इस महल में जिनसे मेरा सम्बन्ध आया उनमें मुख्य थे—एक ओर मेरे

पितामह, मेरी माता, मुनीम-गुमाश्ते, नौकर-चाकर, और दूसरी ओर मेरे पिता, उनकी रखी हुई वेश्याएँ, उन वेश्याओं के पास रहने वाले व्यक्ति इत्यादि। महल इतना बड़ा था कि ये दोनों विभाग एक दूसरे से सर्वथा अलग थे, परन्तु अलग होने पर भी महल के रास्ते इस प्रकार के बने थे कि एक विभाग से दूसरे विभाग में जाने के लिए सड़क का उपयोग न करना पड़ता था।

मेरे पितामह वाले विभाग में जहाँ काम होता था और मुनीम-गुमाश्ते रहते थे उससे मेरा कम सम्बन्ध था। मेरा सम्बन्ध था उस विभाग से जिसका धर्म-कर्म और सामाजिक कार्यों से सम्बन्ध था। अपने पिता और पितामह के सदृश राजा गोकुलदासजी यदि एक ओर अपने व्यापार-धन्धे और रियासती कामों में लगे रहते तो दूसरी ओर वे बड़े धर्मनिष्ठ और सामाजिक व्यक्ति भी थे। बारहों महीने वे उषःकाल में तीन बजे उठते, स्नान आदि से निवृत्त हो वल्लभकुल के तिलक-छापे लगाकर चार बजे पूजा में बैठते और सात बजे तक पूरे एक पहर पूजा करते। नित्य सन्ध्या वन्दन, तर्पण और अग्निहोत्र करने के सिवा वे भगवद्कथा सुनते। एक ओर उनका पूजा-पाठ चला करता और दूसरी ओर एक पण्डित कथा बाँचता। सात बजे पूजा समाप्त कर वे नगर के लोगों और सरकारी अफसरों से मिलने-जुलने चले जाते। वे घर में तो कुरता और धोती पहनते पर बाहर सदा तनी वाला अंगरखा और पाजामा पहनते। सिर पर सदा बँधी हुई मारवाड़ी ढंग की पगड़ी लगाते और अंगरखे के ऊपर प्रायः सफेद रंग का दुपट्टा लेते। उनके वस्त्रों का कपड़ा बड़ा साधारण रहता। विशेष अवसर पर गले में दो लड़ की बड़ी बढ़िया मोतियों की कण्ठी पहनते। नगर के लोगों से उनका बड़े भारी परिमाण में सम्बन्ध था। इसका कारण यह था कि शादी-व्याह, बीमारी, मौत, झगड़े-झाँसे सब में वे साधारण से साधारण व्यक्तियों के घर पहुँचते। पूरे एक पहर तक इन सामाजिक सम्बन्धों को निभाते हुए घूमने के बाद वे दस बजे घर लौटकर मन्दिर में स्नान कर राज भोग की आरती करते और मन्दिर में यदि कोई उत्सव होता, जिनकी संख्या मन्दिर के वल्लभी सम्प्रदाय के होने के कारण सदा पर्याप्त से भी अधिक रहती, तो उस उत्सव में सम्मिलित होते। मन्दिर में गायक भी काफी अच्छे रहते। इन गायकों द्वारा कीर्तन सदा हुआ करता। उत्सवों में बड़ी धूमधाम रहती। श्री कृष्ण-

जन्माष्टमी और दिवाली के दूसरे दिन अन्नकूट, सावन के हिंडोले, आश्विन की साँझियाँ, शरद् पूर्णिमा का रासोत्सव, फागुन की फाग कितने प्रकार के कितने उत्सव ! इन उत्सवों के अवसरों पर कितने कलात्मक प्रदर्शन; कभी नाना प्रकार के पत्तियाँ, फूलों, केलों के स्तम्भों आदि के हिंडोले, कभी फूल मंडलियाँ, कभी विविध रंगों की साँझियाँ, कभी कुछ और कभी कुछ ! इन उत्सवों में ठाकुर जी के विविध प्रकार के शृंगार और भोग की नाना प्रकार की सामग्रियाँ ! कभी गायन, कभी नृत्य, कभी रास ! मैं समझता हूँ, किसी सम्प्रदाय में भगवद्सेवा में कला और कीर्तन का ऐसा समावेश नहीं जैसा वल्लभ-कुल सम्प्रदाय में है। मेरे पितामह का वल्लभ-कुल सम्प्रदाय के आचार्यों से भी बड़ा सम्बन्ध था। इनमें काशी के श्री मुकुन्दरायजी के मन्दिर वाले तो हमारे गुरुदेव ही थे और व्रज में कामवन के श्री देवकीनन्दनाचार्यजी पर मेरे पितामह की बड़ी भक्ति थी। ये लोग भी जबलपुर प्रायः पधारते। उस समय तो हमारे मन्दिर के आयोजन और बड़े हो जाते।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरे पितामह की मृत्यु तक मैं उन्हीं के साथ रहा। उनके उषःकाल में उठने के कारण मैं भी उषःकाल में ही उठा दिया जाता। उतनी जल्दी नहाता तो नहीं, पर हरि-कथा का श्रवण अवश्य करता। मुझे शैशव में भगवान की मूर्तियाँ खिलौनों के रूप में दी गयी थीं। उन मूर्तियों से सम्बन्ध रखने वाली विविध स्फुट कथाएं मैंने शैशव में ही सुनी थीं। अब मैंने श्रीमद्भागवत, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, हरिवंश, विष्णु और पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण का कृष्णखण्ड और गर्ग संहिता धीरे-धीरे अर्थ सहित सुने। इन सारी कथाओं में मुझे बड़ा रस आता। मेरे ऊपर जिन कथाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, उनमें राम और कृष्ण के चरित्र, सत्य-वादी हरिश्चन्द्र, महर्षि दधीचि, राजा शिवि और खट्वांग की कथाएँ हैं। इनमें राम और कृष्ण के चरित्र तथा हरिश्चन्द्र की कथा तो बहुत प्रचलित हैं, किन्तु दधीचि, शिवि और खट्वांग की उतनी प्रसिद्ध नहीं। दधीचि ने इन्द्र के उप-कार के लिए अपनी अस्थियाँ दे दी थीं। शिवि ने एक कपोत की रक्षा के लिए अपना निज का मांस तक बाज को दिया था और खट्वांग जो देवासुर संग्राम में इन्द्र को सहायता देने के लिए लड़ने को गया था उसने मर्त्यलोक में लौटकर

एक मुहूर्तमात्र में भगवद्पद प्राप्त कर लिया था। हरि-कथा श्रवण करने के अतिरिक्त, जैसा पहले कहा जा चुका है, मेरे पितामह ने मन्दिर से मेरा शैशव में ही सम्बन्ध करा दिया था। नित्य तो नहीं, पर हर उत्सव पर मैं मन्दिर में स्नान करता। शैशव अवस्था समाप्त कुछ बड़े होने पर अमुक दिन, अमुक उत्सव है यह मालूम होते ही न जाने कितने दिन पहले से मैं उसकी बाट जोहता। जिस दिन उत्सव होता, उससे पहली रात को तो मुझे नींद ही न आती। कैसा मग्न हो मैं हिंडोले, फूल मण्डलियाँ तथा साँझियाँ आदि बनाता और कैसा तल्लीन हो सूरदासजी और अन्य अष्टछाप के कवियों के पद सुनता तथा रास देखता। श्री अरविन्द घोष ने एक जगह कहा है—"प्रभु के लिए मेरा उत्साह इतना बढ़ गया कि मैं सुधि-बुधि ही भूल गया—ऐसा जो कर सके उसी को सच्चा साधक कहा जा सकता है।" साधना तो मैं उस समय न जानता था पर ऐसे आयोजनों में सुधि-बुधि अवश्य खो देता था। और इन सारे आयोजनों में गाय ! गाय से तो जैसे पहले भी कहा है, मेरा शैशव से ही सम्बन्ध हो गया था। कुछ समय बाद मैं नित्य तुलसीकृत रामायण और भगवद्गीता के एक अध्याय का पाठ करता। रामायण और गीता के अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम, नारायण कवच, सर्वोत्तम, यमुनाष्टक, नवरत्न, चतुश्लोकी इन स्तोत्रों को मुझे पढ़ाया गया जो धीरे-धीरे मुझे कण्ठस्थ हो गये और तभी से अद्यापि काल तक मैं नित्य इन स्तोत्रों का पाठ किया करता हूँ।

अधिकतर राजा गोकुलदास महल के इस विभाग से ही मेरा सम्बन्ध रहता ; पर कभी-कभी पिता जी के दूसरे विभाग में भी पहुँच जाता। इस विभाग में मैं जाता अपनी माताजी के कारण। आदर्श नारी का जो वर्णन हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है, मेरी माताजी वैसी ही थीं। उनकी भगवद्भक्ति और पतिपरायणता दोनों ही पराकाष्ठा को पहुँची हुई थीं। पति को वे कदाचित् भगवान के रूप में ही देखती थीं। उनकी यह पति-भक्ति पति की प्रसन्नता के लिए उन्हें उन मुसलमान वेश्याओं के पास ले जाती जिन्हें अपनी धर्मनिष्ठा के कारण छूने में भी वे पाप समझतीं। मेरे पिताजी की इच्छा के कारण वे इन वेश्याओं के पास जातीं, पर जब वे उनके पास से लौटतीं, तब बिना सिर से स्नान किये जल तक न पीतीं। मैं भी कई बार अपनी माताजी

के साथ राजा गोकुलदास महल के इस दूसरे विभाग में जाता। इस विभाग में रहने वाली एक के बाद एक कई वेश्याओं का मुझे स्मरण है—माहेमुनीर, अद्घाबिग्गन, चन्दा बाई वेलिंकर आदि, पर जिस वेश्या का मुझे सबसे पहला स्मरण है वह है लखनऊ की माहेमुनीर। उसी के समय राजा गोकुलदास महल के इस विभाग में कुछ स्मरणीय घटनाएँ भी घटीं। रूप में माहेमुनीर मेरी माताजी के तलवों की होड़ भी न करती थी, फिर भी न जाने पिता जी को उससे क्यों इतना अनुराग था। जिन बटेरों की लड़ाई और जिस पुतलियों के नाच से मुझे इतनी दिलचस्पी हो गयी थी वे बटेरों को लड़ाने वाले तथा पुतलियों को नचाने वाले माहेमुनीर के मार्फत ही लखनऊ से आते थे। पतंग उड़ाने वाले जिन महाशय का मैंने पहले वर्णन किया है वे भी इन्हीं महाशय के नातेदार थे।

माहेमुनीर के साथ उसकी एक भतीजी रहती थी। उसका नाम था रश्के-मुनीर। माहेमुनीर तो बहुत सुन्दर न थी, पर रश्केमुनीर बहुत सुन्दर थी। रश्केमुनीर उम्र में यद्यपि मुझ से काफी बड़ी थी, पर इतनी बड़ी नहीं कि मैं उसके साथ खेल न सकूं। उस समय मेरी अवस्था बहुत कम होने पर भी अनेक बार मेरे मन में उठता कि जिस प्रकार माहेमुनीर मेरे पिता जी के पास रहती है उसी प्रकार बड़े होने पर रश्केमुनीर को मैं अपने पास रखूँगा।

माहेमुनीर के जमाने में उसे खुश करने और खुश रखने के लिए पिताजी ने बड़ा खर्च किया। उस समय क्या-क्या हुआ था उसका कुछ वर्णन सुनिए। मुझे आज भी वे सब बातें ठीक-ठीक वैसी की वैसी याद हैं।

एक बार माहेमुनीरजी को चिड़ियों का शौक हुआ। नाना प्रकार के काकातुए, तोते और कबूतर और न जाने कितनी रंग-बिरंगी चिड़ियों के सिवा बोलनेवाली चिड़िया भी आयीं। इन बोलनेवाली चिड़ियों में चंडूल, अगन, हरेवा, श्यामा, बुलबुल बोस्ता न जाने कितनी तरह की। एक बुलबुल बोस्ता का तो पिंजरा तक मुझे याद है। उसका पिंजरा चाँदी का था। और इस बुलबुल बोस्ता की खरीद में पच्चीस सौ रुपया लगा था, क्योंकि बुलबुल बोस्ता इस देश के बाहर की चिड़िया है। इन बोलने वाली चिड़ियों को एक विचित्र ढंग से रखा जाता है। इनके छोटे-छोटे पिंजरों में केवल एक चिड़िया रखी जाती है। इन पिंजरों पर सफेद चादर बांधी जाती है और उस सफेद चादर

पर एक सुगन्धित फूलों की माला डाली जाती है। कहते हैं, रात को ये चिड़ियें इसी कारण बहुत बोलती हैं। बोलनेवाली ये चिड़ियें लखनऊ से ही मँगायी गयी थीं और इन्हें रखनेवाले भी वहीं से आये थे ! इन चिड़ियों के पिंजरों की संख्या कम नहीं थी, वे थे करीब सात सौ ! कहते हैं इन चिड़ियों को शाम को हवा खिलाना भी आवश्यक होता है। अतः नित्य ही कोई साढ़े तीन सौ आदमी, एक-एक आदमी अपने एक-एक हाथ में सफेद चादर से ढके और सुगन्धित पुष्पहार से सुशोभित एक-एक पिंजरे को टाँगे एक जुलूस में निकलते ! उस समय सस्ती मजदूरी होने के कारण रोजन्दारी पर रोज शाम को ये साढ़े तीन सौ आदमी इस काम के लिए रख लिये जाते। यह तीन सा तीन सौ आदमियों का एक जुलूस नित्य ही जबलपुर की सड़कों पर घूमता और यहाँ के निवासी अपने-अपने घरों से निकल-निकल कर इन पक्षियों का गान सुनते। रात को ये पिंजरे नये महल के नजर बाग में टाँग दिये जाते और जब-जब इस नजर बाग में माहेमुनीर की महफिलें होतीं उसके पैर के घुँघरुओं और उसकी अलापों के साथ इन चिड़ियों का गान भी चलता।

एक बार माहेमुनीर को कुत्तों का शौक हुआ। सैण्ड बर्नाड ब्रीड से लेकर पाकिट डाग तक शायद ही कोई कुत्ते का ऐसा कुल हो जो हमारे यहाँ न आया हो ! इस देश में ही ये कुत्ते न खरीदे गये थे पर विदेशों से भी मँगाये गये थे।

कुत्तों के शौक के बाद माहेमुनीर को बिल्लियों का शौक हुआ। कुत्ते और बिल्ली साथ न रह सकते थे। अतः कुत्ते निकाले गये और बिल्लियाँ मँगवायी गयीं। कुत्तों के सदृश ही कितनी तरह की बिल्लियाँ बड़ी, छोटी, काली, सफेद, रंग-बिरंगी और अधिकतर बड़े-बड़े बालवाली देशी और विदेशी भी !

एक बार माहेमुनीर को मछलियों का शौक हुआ। कहाँ-कहाँ से कितनी तरह की रंग और रूपों की ये मछलियाँ आयीं। यद्यपि इन मछलियों के रखने के लिए उस नजर बाग में कई हौज बनवाये गये पर आधुनिक काल के मच्छी भवन (एक्वेरियम) का उस समय प्रबन्ध न होने के कारण ये बहुत दिन तक जीवित न रह सकीं।

इन नभचरों, थलचरों और जलचरों का शौक तो माहेमुनीर को ही हुआ था, और पिताजी ने उसे सन्तुष्ट करने के लिए ही इन्हें मँगवाया था, परन्तु एक चीज का शौक पिताजी को भी बहुत था—ये थे घोड़े। कोई तीन सौ घोड़े उस समय हमारे अस्तबल में थे—बग्घी के और जीन सवारी के। घुड़दौड़ के और पोलो के नहीं थे यही बड़ी बात थी! बग्घी के घोड़ों में आस्ट्रेलियन वैलर और इंगलिश नसल के थे। जीन सवारी के अरब, काठियावाड़ और मारवाड़ नसल के। घोड़ों की छकड़ियाँ, चौकड़ियाँ और जोड़ियाँ तो कई थीं, पर बत्तीस घोड़े एक रंग थे और इनमें सोलह "चद्दर" नाम की एक गाड़ी में चार-चार की चार कतारों में जुतते थे। ये घोड़े "पोस्टेलियन" ढंग से जोते और चलाये जाते थे। दो घोड़ों की जोड़ी के एक घोड़े की पीठ पर एक कोचवान बैठता था। इस प्रकार सोलह घोड़ों की बग्घी को आठ कोचवान चलाते थे। इन सोलह घोड़ों की बग्घी के आगे और पीछे उन्हीं रंग के आठ-आठ सवार चलते थे, जिनके हाथ में झण्डियों वाले भाले रहते थे। जीन सवारी के घोड़ों में कई नाचते और कई लंगूरी चाल चलते थे। जब वे बग्घियाँ और जीन सवारी के घोड़े जबलपुर के रास्तों पर निकलते थे तब इन्हें देखने के लिए बड़ी-बड़ी भीड़ें जमा हो जाती थीं।

मेरे पिता और भी हर दृष्टि से उस समय के शौकीनों की प्रथम श्रेणी में बिठाये जा सकते हैं। उनकी विविध प्रकार के बेशकीमती कपड़ों की पोशाकें; कोई कमख्वाब की, कोई लखनऊ के चिकन के काम की, कोई मखमली जिस पर सलमा-सितारे का काम और कोई कमदानी के काम की! उनके भाँति-भाँति के आभूषणों के सेट, हीरे, मोती, पन्ने, माणिक आदि के। उनके फुलेल, इत्र; सवा-सवा सौ, डेढ़-डेढ़ सौ रुपये तोले का गुलाब इत्यादि। पिताजी की पोशाकें भारतीय और पश्चिमी दोनों ढंग की रहतीं। वे अंगरखा और शेरवानी धोती और चूड़ीदार पजामे दोनों के साथ पहनते। कभी अंगरखे और शेरवानी पर सफेद जरी का दुपट्टा लेते और कभी चोगा पहनते। पश्चिमी ढंग के वस्त्रों में सूट पहनते, टाई लगाते। जब भारतीय ढंग के वस्त्र पहनते तब सिर पर पगड़ी लगाते और जब पश्चिमी ढंग के कपड़े पहनते तब सिर पर साफा बाँधते। कई बार जरी की टोपी भी लगाते। मैंने उन्हें हैट लगाये कभी नहीं देखा।

राजा गोकुलदास महल के दोनों ही विभागों में त्योहारों की बड़ी धूम होती, खासकर दशहरे, दिवाली और होली की। दशहरा मेरा जन्मदिवस होने के कारण बहुत धूम-धाम से मनाया जाता। उस दिन नौकरों को इनामें बटतीं। दशहरे और होली पर महफिलों में वेश्या-नृत्य होता। दिवाली की महल की रोशनी दर्शनीय रहती। उस समय बिजली न थी अतः कांच के छोटे-छोटे गिलासों में नीचे पानी भर उसमें भिन्न-भिन्न रंग मिलाये जाते, उसके बाद खोपड़े के तेल में भूल बत्तियाँ लगायी जातीं। तेल तो सदा पानी के ऊपर ही रहता है। महल के मुख्य द्वार पर इस प्रकार के दीपकों की टट्टियाँ लगतीं। मुझे उस रोशनी का स्मरण है। उसकी शोभा ही कुछ निराली थी। दिवाली पर मेरे लिए सैंकड़ों की आतिशबाजी आती, पर मैं उसका चलाना दूर से ही देख पाता, हाथ से चलाने के लिए तो मुझे फुलझड़ी भी न दी जाती।

होली पर रंगों के कुण्ड भरे जाते। यह रंग प्रायः टेसू के फूलों का केशरी रहता। कितना खेल होता रंग का और गुलाल के तो बोरे के बोरे उड़ जाते। हमारे यहाँ उस समय पहरेदार आदि राजस्थान के राजपूत रहते। होली के हफ्तों पहले से ये ढफ बजाकर खूब होलियाँ गाते।

इन त्योहारों पर तथा अन्य समय भी दावतों की महल में भरमार रहती।

एक ओर मेरे पितामह का अत्यन्त सादा धार्मिक और सामाजिक जीवन तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले सारे वातावरण का मुझ पर प्रभाव पड़ रहा था और दूसरी ओर पिताजी के शौकीन, विलासी और शाही जीवन तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त वायुमण्डल का।

परन्तु मेरे पितामह और मेरी माताजी का प्रयत्न यही था कि मुझ पर पिताजी और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जीवन का प्रभाव न पड़े। पिताजी के कारण यद्यपि मुझे राजा गोकुलदास महल के उस विभाग से सर्वथा विलग रखना कदाचित् सम्भव न था, पर इस बात का सतत प्रयत्न किया जाता कि मैं वहाँ न जाऊँ। मैं अधिकतर अपने पितामह के साथ ही रहता और दौरे पर भी उनके साथ जाता। इसीलिए पिताजी वाले विभाग का प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक न पड़ सका।

मेरे निर्माण सम्बन्धी उद्देश्य

पूर्व जन्म के कर्म, आनुवंशिकता और वातावरण का किसी के निर्माण में जो भी हाथ होता है वह प्रत्यक्ष न रह अप्रत्यक्ष ही रहता है। यदि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही हर जीवात्मा बनता है तो फिर जैसा वह बनता है उसके विपरीत बन ही नहीं सकता। आनुवंशिकता को रोकने की भी किसी की शक्ति नहीं और वातावरण का जरा भी प्रभाव न पड़े यह भी असम्भव है। बिना अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों अथवा अपने स्वयं के प्रयत्न के अधिकतर मानव इन्हीं प्रभावों से जैसे भी बनते हैं अपने आप बन जाते हैं। परन्तु कुछ मानवों के निर्माण में किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का अथवा आगे चलकर स्वयं उसी व्यक्ति का, जिसका निर्माण होता है, कुछ उद्देश्य रहता है। इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार भावनाएँ बनाने का, आदतें डालने का, शिक्षा का, प्रबन्ध होता है। ऐसे प्रयत्न सफल और असफल दोनों होते देखे गये हैं। जब ये प्रयत्न सफल होते हैं, मनुष्य समझता है उसके प्रयत्न से यह हुआ और जब असफल होते हैं तब वह पूर्व जन्म के कर्मों या आनुवंशिकता या वातावरण पर इस असफलता का उत्तरदायित्व डाल स्वयं सन्तोष कर लेने का प्रयत्न करता है।

मैंने पहले लिखा है कि मेरे मतानुसार तो मेरा निर्माण मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार हुआ है तथापि इसमें आनुवंशिकता और वातावरण का कोई असर नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता। आनुवंशिकता के अनुसार मुझे क्या मिला, इसका भी मैं उल्लेख कर चुका हूँ और मेरे जन्म तथा बड़े होने के समय जो सामाजिक तथा मेरे आस-पास का वायुमण्डल था उसका वर्णन भी मैंने किया है। मेरे निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से यदि इन बातों का हाथ था तो प्रत्यक्ष रूप से मेरे पितामह का। वे प्रायः कहा करते थे कि मेरे पिता उनकी इच्छाओं के अनुरूप इसलिए न बने कि बाल्यावस्था में वे उनके पास न रहकर अधिकतर अपनी ननिहाल में रहे। फिर उनकी शिक्षा के लिए एक हाई स्कूल

खोला गया जहाँ उन्हें बुरे लड़कों का संग मिला। मेरे पितामह के मतानुसार मेरे पिता बिगड़ गये थे और मैं न बिगड़ूँ तथा उनकी इच्छा के अनुरूप बनूँ इस के लिए उन्होंने सारे प्रयत्न किये। इसीलिए वे मुझे अपने साथ रखते; जहाँ जाते मुझे अपने साथ ले जाते। खिलौनों के रूप में भी भगवान की मूर्तियाँ देते। मेरी भावनाओं की दिशा ठीक रहे इसके लिए सदा कोई न कोई नसीहत देते रहते और मुझे पुराण आदि धर्मग्रन्थ सुनवाते। मेरी आदतें ठीक रहें इस का भी ध्यान रखते। जैसा पहले कहा है मुझे सदा उषःकाल में उठना पड़ता। कुछ बड़े होने पर व्यायाम करना पड़ता और टाइम टेबिल के अनुसार चलना पड़ता। मुझे कोई बुरी सोहबत न लग जाय इस भय से मैं किसी स्कूल में पढ़ने को भी न भेजा गया और मेरी शिक्षा का प्रबन्ध भी उन्होंने घर पर ही किया। वे चाहते थे कि मैं एक धर्मनिष्ठ, नैतिक, राजभक्त, कुशल व्यापारी और सामाजिक व्यक्ति बनूँ और इसके लिए उन्होंने अपनी मृत्यु पर्यन्त सारे प्रयत्न किये। इस प्रकार का मुझे बनाने के लिए आरम्भ से ही मेरे जीवन में उन्होंने सादगी रखाने का प्रयत्न किया। परन्तु मेरे चरित्र में दोष न आने पावें इसमें तो वे बहुत दूर तक सफल हो गये, लेकिन उस समय सादगी मेरे जीवन में न ला सके। सादगी के लिए सबसे आवश्यक दो बातें होती हैं—सादा खान-पान और सादा पहनाव। राजा गोकुलदास महल में राजा गोकुलदास के इकलौते पौत्र का खान-पान और पहनाव सादा कैसे रह सकता था? मेरे भोजन में सदा नाना प्रकार के व्यंजन रहते और वस्त्र तो अधिक से अधिक मूल्यवान। वे ही पिताजी के वस्त्रों के सदृश कमख्वाब, सलमा-सितारे, कामदानी और चिकन के कपड़े। आभूषणों की भी भरमार। कपड़े तो मेरे दिन में तीन बार बदले जाते। उस समय के रईसों के घरों में खान-पान और वेष-भूषा की सादगी शायद संभव ही न थी; खासकर बाल्यावस्था और युवावस्था में।

मेरे इस निर्माण में मैं सभ्य और सुसंस्कृत बनूँ इसका भी मेरे पितामह ने ध्यान रखने का प्रयत्न किया। शैशव से ही मैं लोगों से किस प्रकार मिलता-जुलता हूँ, इस मिलने-जुलने में कैसा व्यवहार करता हूँ, कैसी भाषा बोलता हूँ, इस पर बड़ा ध्यान रखा गया। झुककर एक हाथ सिर तक ले जाकर मुझे अभिवादन करना सिखाया गया। उस समय दोनों हाथ जोड़कर पुराने ढंग की

भारतीय अभिवादन करने की प्रथा पुनः प्रचलित न हुई थी। एक हाथ से किया गया अभिवादन भारतीय ढंग का अभिवादन ही माना जाता था। इसी प्रकार बातचीत के कुछ प्रमुख सभ्य वाक्य भी फारसी के ही प्रचलित थे, जैसे पधारिये, विराजिये न कहकर तशरीफ लाइए, तशरीफ रखिए कहा जाता। आपका शुभ नाम न पूछकर आपका इस्मशरीफ पूछा जाता। मुझे भी ये ही वाक्य सिखाये गये और बाल्यावस्था में जब मैं राजा गोकुलदास महल में आने वाले देहातियों से बात करने में भी इन वाक्यों का उपयोग करता तब उनके इन्हें न समझ सकने के कारण मैं कुछ भौचक्का-सा रह जाता। व्यवहार, संभाषण आदि में अत्यधिक नम्रता रखना मुझे शैशव से ही सिखाया गया था।

राजा गोकुलदास महल तथा उसके दो विभागों के वायुमण्डल का जो अप्रत्यक्ष प्रभाव मुझ पर पड़ रहा था उसका वृत्त मैं इसके पहले के अध्याय में लिख चुका हूँ। मेरे पितामह के प्रत्यक्ष प्रयत्नों का मेरे मन पर जो असर पड़ा उसका विवरण इस प्रकार है।

घर में जब मैं अपने पितामह के साथ रहता, उनकी पूजा के समय भगवद्-कथा और उनकी नसीहतें सुनता, मन्दिर के उत्सवों में भाग लेता, मेरा मन इस सबके अनुकूल रहता।

दौरों में जब मैं उनके साथ जाता, नये-नये गाँवों और शहरों में घूमना मुझे बड़ा अच्छा लगता।

मेरे पितामह, जैसा उल्लेख हो चुका है, एक बहुत बड़े मालगुजार और जमींदार थे अतः जब वे गाँवों के दौरे पर जाते तब उनके किसान और आस-पास के मालगुजार उनसे मिलने आते। इनकी संख्या कभी-कभी सैकड़ों ही नहीं हजार-हजार दो-दो हजार तक भी पहुँच जाती। मेरे पितामह को टीके में रुपया दिया जाता। बदले में वे किसी को भोजन कराते, किसी को कपड़ा देते, किसी को उस समय जो एक लाल रंग की ऊनी बनात की चलन थी, वह बनाते। मालगुजारों, जमींदारों, ताल्लुकेदारों को जो यह टीका या नजराना देने की प्रथा थी इसका बड़ा विकृत रूप भी हो गया था। यह टैक्स के रूप में वसूल किया जाता। यदि जमींदार को मोटर की जरूरत है तो मोटराना, उसे हाथी की आवश्यकता है तो हाथियाना, उसे घोड़े की जरूरत है

तो घोड़ाना और उसके घर में व्याह-शादी या कोई और काम है तो उसके लिए भी किसी न किसी प्रकार का नजराना वसूल होता था। परन्तु इसका जो ठीक रूप था वह भी मैंने अपनी बाल्यावस्था में अपने पितामह के गाँवों के दौरे में देखा है। वे मालगुजार होते हुए भी बड़े लोकप्रिय मालगुजार थे। उन्हें यह टीका उनके किसान और अन्य छोटे मालगुजार बड़े उत्साह से, और उनके प्रति जो एक पूज्य भावना थी उसके कारण, देते और जितना देते उससे कहीं अधिक किसी न किसी रूप में पा जाते। मेरे पितामह एक बात बहुधा कहा करते—"किसी का मन दुखी कर यदि कोई पैसा लेता है तो उस पैसे से उसकी बरक्कत नहीं हो सकती ; इसी तरह बिना हक के बेईमानी के पैसे से नहीं।" इस सम्बन्ध में वे बहुधा एक बात कहते—"बेईमानी से कमाया हुआ धन उस बरफ के मानिंद रहता है जिस पर उबलता हुआ पानी छिड़का जाता हो।" बहुत वर्षों के बाद मैंने चीन देश की ठीक इसी तरह की एक कहावत पढ़ी। जहाँ तक मुझे याद है मेरे पितामह ने यह कभी नहीं कहा कि किसी चीनी कहावत में यह बात कही गयी है। तब क्या चीन की यह कहावत इस देश में उस समय इतनी प्रचलित थी या इस देश में ही उस समय कोई ऐसी कहावत का प्रचार था अथवा मेरे पितामह का यह कथन उन्हीं के दिमाग की सूझ थी ? कहना कठिन है। व्यवहार में जो पैसा आता उसके लिए वे कहा करते—"व्यवहार में यदि कोई पैसा आता है तो उस पैसे से ज्यादा लौटाने के लिए तैयारी रहनी चाहिए। व्यवहार का पैसा हजम करने का नहीं होता।" नजराने के पैसे को वे व्यवहार का पैसा मानते और तुरन्त उसे किसी न किसी रूप में लौटा देते। गाँवों के दौरों में वे प्रायः अपने एक गाँव से दूसरे गाँव को पैदल जाते। रास्ते में जितने गाँव मिलते उन गाँवों के मालगुजारों के कोठों पर जाते। वे मालगुजार उनके साथ हो जाते, कई किसान भी साथ हो जाते, और इस प्रकार एक जुलूस-सा बन जाता। प्रातःकाल वे निकलते और मध्याह्न में दूसरे मुकाम पर पहुँचते। मध्याह्न में भोजन का समय हो जाने के कारण इन सब आनेवाले साथियों के भोजन का प्रबन्ध होता। कभी-कभी इनकी संख्या दो-दो सौ, चार-चार सौ तक भी पहुँच जाती। तीसरे पहर मिलने वाले आते। इस समय होता टीका और टीके के बदले में सिरोपाव भी इसी समय बटता।

मेरे पितामह की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। वे केवल मालगुजारों का नाम जानते हों इतना ही नहीं, अपने अधिकांश किसानों के नाम भी जानते जिनकी संख्या कई हजार थी। किसानों के आराम तकलीफ की भी वे सदा जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते, खासकर इस बात का कि उनके मुलाजिम किसानों को कोई कष्ट तो नहीं रहे हैं। इन दौरों में यदि वे अपने किसी किसान की बीमारी का हाल सुनते तो उसके घर पहुँचते, किसी की मौत का हाल सुनते तो उसके कुटुम्बियों के प्रति संवेदना प्रकट करने उसके घर जाते। अबरख, कान्तिसार और ममीरे का सुरमा दवा के रूप में बहुत बाँटते। जिन किसानों के यहाँ व्याह-शादी या और कोई सामाजिक काम होता तो वे किसान उनसे कर्ज माँगते और तत्काल पाते। इस कर्ज की वसूली में वे कभी सख्ती न करते। जब मेरे पितामह का देहान्त हुआ उस समय इस प्रकार का कोई ग्यारह लाख रुपयों का किसानों का कर्ज मेरे पिताजी ने छोड़ा था। जिस गाँव में मेरे पितामह पहुँचते, पहला दिन तो इस सामाजिक काम में जाता, इसके बाद एक-दो दिन और ठहरकर वे अपना काम देखते, जिसमें मुख्य होता हिसाब-किताब और घर की खेती। सारे व्यवसायों में मेरे पितामह को खेती सबसे अधिक प्रिय थी। खेती के सम्बन्ध में वे कहा करते—"उत्तम खेती जो हर गहै। मध्यम खेती जो संग रहै। जिननै पूछी आज हर कहाँ। तिनके बैल बिकाने वहाँ।" गाँवों के इन दौरों में मेरी बड़ी आवभगत होती। मेरे पितामह तो ऐसे दौरों में प्रायः पैदल ही चलते, पर मैं टट्टुओं पर, पालकी में, न जाने किस-किस चीज पर बिठाया जाता। जब मैं गोद में चलता तो न जाने कितने लोग मुझे गोद में लेने को उत्सुक रहते। दौरे में मैं भी साथ हूँ यह खबर पहले से ही पहुँच जाती। मेरे स्वागत के लिए गाँव के बाहर ही स्त्रियाँ ढोलक लेकर गाने आ जातीं। मेरी आरती उतारी जाती, मेरी बलैयाँ ली जातीं; न जाने क्या-क्या किया जाता। मुझे देहाती बेर और मकोह तथा तालाबों के कमलगट्टे बड़े अच्छे लगते और फसल के समय हरे चने का होला। इन देहाती दौरों में मेरे पितामह मेरी उस बाल्यावस्था में भी मुझे न जाने कितनी बातें समझाने और सिखाने का प्रयत्न करते। मेरे मन पर इन दौरों का भी बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता। मेरे पितामह शहरों में भी जाते, पर शहरों की अपेक्षा

देहात में उनका समय अधिक बीतता। सी० सी० कोल्टन ने एक जगह लिखा है—"मुझे अनुभव से ज्ञात हुआ है कि जिन्होंने अपना सारा जीवन शहरों में बिताया है उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता को बढ़ाया है, पर अपने सद्गुणों को खोया है; अपने मन को मजबूत किया है, पर अपनी नैतिकता को कमजोर।" मेरे पितामह का जो अनुभव मुझे है उसके आधार पर मैं भी श्री कोल्टन के मत का हूँ।

शहरों में मेरे पितामह प्रायः वहाँ जाते जहाँ उनकी दूकानें और कारखाने होते। जिन शहरों में भी उनका काम रहता वहाँ का सबसे बड़ा कारबार माना जाता, यहाँ तक कि बम्बई, कलकत्ते के सर्राफे तक में। उन्हें लेने के लिए स्टेशन पर व्यापारी वर्ग की काफी भीड़ रहती। जब तक वे ठहरते उनसे मिलने को आनेवालों का ताँता-सा लगा रहता। जिन शहरों में मैं उनके साथ गया उनमें मुझे बम्बई, कलकत्ता और जयपुर का सबसे अधिक स्मरण है।

इन तीनों नगरों की अपनी-अपनी विशेषताएँ तब भी थीं और अब भी हैं। बम्बई आबादी में इस देश के बड़े से बड़ा शहर होते हुए भी क्षेत्रफल में छोटा सा है। कलकता आबादी में बम्बई से कुछ ही बड़ा होने पर भी क्षेत्रफल में बहुत बड़ा है। दोनों आधुनिक नगर हैं और आधुनिकता से ठीक उलटा प्राचीनता की झलक दिखानेवाला है जयपुर। फिर बम्बई एकदम साफ-सुथरा, कलकत्ता गन्दगी का घर और जयपुर न बहुत स्वच्छ और न बहुत मैला। समुद्र के दर्शन मुझे पहले-पहल बम्बई में हुए थे और सामने तट पर उसकी उठती हुई लहरों को तथा पीछे उसका असीम क्षितिज से मिले हुए रूप को देखकर मुझे याद है, कि पहले दिन न जाने कितनी देर तक मैं इन दृश्यों को एकटक देखता एवं एक पर दूसरी और दूसरी पर तीसरी उठती हुई लहरों को गिनता रहा था। बम्बई और कलकत्ते के ऊँचे-ऊँचे मकान मुझे बहुत आकर्षित शायद इसलिए न कर सके थे कि मेरे रहने के मकान उनसे किसी प्रकार छोटे न थे, शायद कुछ बातों में बड़े ही हों। हाँ, दोनों शहरों के होहल्ले से मैं कुछ भौंचक्का-सा रह गया था। इस होहल्ले में रेल का सा शब्द करनेवाली उस समय घोड़ों से खींची जानेवाली ट्रामगाड़ियों ने मेरे मन में कुछ कौतुक पैदा किया था और मेरी बड़ी इच्छा हुई थी उनमें बैठने की, पर मुझे उनमें बैठने न दिया गया था। कलकत्ते के अजायबघर, हाग मार्केट, और जू ने भी मुझे

बहुत आकर्षित किया था। जू तो न जाने कितने बार मैं गया था और वहाँ के चित्र-विचित्र जीवों को देखते-देखते अपने आपको विस्मृत कर देता था। जयपुर की प्राचीनता ने मुझे उस समय उसे न समझने पर भी अपने प्रति आकर्षित किया था और वहाँ की व्यवस्थित समकोणों में विभाजित चौपड़ों (चौराहों) ने अनजाने ही मेरे मन में एक प्रकार के विस्मय को उत्पन्न किया था। वहाँ की हवा महल इमारत से भी मैं काफी प्रभावित हुआ था। जयपुर की जिन दो अन्य वस्तुओं ने मुझे अत्यधिक आनन्दित किया था वे थीं वहाँ के जीवित नाचते हुए मोर तथा जीवित न होते हुए भी कलामय जीवन से पूर्ण कुछ कलात्मक मूर्तियाँ और चित्र। बम्बई, कलकत्ता और जयपुर के ये पुराने संस्मरण आज भी मेरे मन पर ताजे संस्मरणों के समान हैं। बाद में जयपुर के सम्बन्ध में मैंने सर एडविन आर्नोल्ड का एक कथन भी पढ़ा—"जयपुर एक ऐसा नगर है जिसका निर्माण सम्भवतः किसी कवि की स्वप्निल कल्पना में हुआ था। इस नगर का समकक्ष न भारत में ही कोई नगर है और न विश्व में।"

इन शहरों की भी अनेक चीजें दिखाकर मेरे पितामह मुझे न जाने क्या-क्या समझाते और सिखाते, पर बम्बई, कलकत्ते और जयपुर से भी मेरे मन पर गाँवों का कहीं अच्छा प्रभाव पड़ता।

जबलपुर नगर में घर और मन्दिर छोड़कर जहाँ मेरे पितामह जाते उनमें प्रधानतः दो प्रकार के स्थान होते—एक उन व्यक्तियों के घर जिनसे पितामह का सम्बन्ध था और दूसरे सरकारी अफसरों के बंगले। दान देकर सरकार के मार्फत कुछ संस्थाओं का निर्माण करा प्रबन्ध के लिए भी उन्हें सरकार को ही सौंप देने के सिवा किसी सार्वजनिक संस्था के सदस्य या पदाधिकारी के रूप में कोई सेवा अथवा किसी सार्वजनिक सभा में भाषण आदि देना मेरे पितामह का क्षेत्र ही नहीं था। जबलपुर की म्युनिसपैलिटी के सभापति थे उनके भतीजे और मेरे ताऊ दीवान बहादुर वल्लभदासजी और वे लगातार १८ वर्ष तक इस पद पर आसीन रहे। जबलपुर की डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के एक बार मेरे पितामह उपसभापति निर्वाचित हुए थे, पर सुना कि निर्वाचन के पश्चात् बहुत शीघ्र उन्होंने उस पद से स्तीफा दे दिया। कौंसिलों का निर्माण उनके जीवन काल में आरम्भ हो गया था, पर उस समय चुनाव न होकर अधिकांश

नामजदगी होती थी। सुनने में आया है कि वाइसराय की कौंसिल के लिए उन्हें नामज़द करने की मध्य प्रान्त के चीफ कमिश्नर ने सिफारिश की थी, पर जब प्रश्न उनके सामने आया तब उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी।

जिन व्यक्तियों से उनका सम्बन्ध था, और वे सभी जातियों तथा फिरकों के थे, तथा उनकी संख्या भी कम न थी, वे उनके दुख-सुख, आराम-तकलीफ सब कामों में जाते। वे धार्मिक दृष्टि से कट्टर हिन्दू थे और किसी विजातीय को छूने के बाद बिना स्नान किये पानी तक न पीते थे, पर सामाजिक दृष्टि से वे हिन्दू मुसलमान या अन्य किसी जाति में कोई भेद न रखते। जिनका उनसे सम्बन्ध था वह चाहे किसी भी जाति या फिरके का होता, उसके घर वे अवश्य पहुँचते; व्याह-शादी में, बीमारी में, मरने में और यों भी। व्याह-शादी में प्रायः हर जगह मेरे पितामह से शामयाना, डेरे, बिछायत, चौकड़ी, जोड़ी, सवार, कोतल घोड़े मँगवाये जाते और वे किसी भी सामान को भेजने में कभी इन्कार न करते। किसी भी सम्बन्धी की बीमारी और मुरदनी में जाने का वे विशेष ध्यान रखते। स्मशान और कबरिस्तान दोनों में जाते। मैं बीमारी और मुरदनी में तो न जाता, पर यों अपने पितामह के साथ इन सब जगह भी घूमता। कितनी आवभगत होती उनकी सर्वत्र ही और कैसा व्यक्तिगत सम्बन्ध था उनसे इन अगणित लोगों का। वे मुझ से प्रायः कहा करते—"दुनिया में जाती सम्बन्धों से बड़ी कोई चीज नहीं और वह होना चाहिए बिना जात-पाँत के भेद-भाव के, चाहे धरम की दृष्टि से कोई किसी से रोटी-बेटी व्यवहार न करे और खान-पान में कट्टर से कट्टर क्यों न रहे।" हिन्दू और मुसलमानों के दो त्योहारों का वे बड़ा ध्यान रखते—दशहरे और मुहर्रम का। ये दोनों त्योहार उन दिनों हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर मनाते। मुहर्रम में तो हिन्दू जितनी सवारियाँ रखते मुसलमान भी नहीं। मुहर्रम के समय जबलपुर में मनुष्य शेर बनकर नाचते हैं। मुझे याद है कि मैं अपने चचेरे भाइयों के साथ शेर भी बना हूँ।

मेरे पितामह को एक बात का सब जगह सबसे अधिक ध्यान रहता। वह था आत्मसम्मान। घर में ही नहीं, घर के बाहर नगर में, नगर के बाहर,

गाँवों और बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े-बड़े शहरों में सर्वत्र उनका सम्मान और आवभगत भी ऐसी होती थी जैसी उस समय बिरले व्यक्तियों की ही होती होगी। परन्तु जिन मेरे पितामह को आत्मसम्मान का इतना ध्यान था और दूसरे भी जिनका इतना सम्मान करते थे उनका उस समय के सरकारी अफसरों से और सरकारी अफसरों का उनसे जैसा व्यवहार था वह अन्य सारे व्यवहारों से एकदम भिन्न। इसका पता तब लगता जब वे इन अफसरों से मिलने उनके बंगलों पर जाते। इन मुलाकातों में मैं प्रायः उनके साथ रहता। उस समय मोटरें नहीं आयी थीं, अतः मेरे पितामह की सवारी होती दो घोड़ों की बग्घी। जब वे अफसरों से मिलने जाते तब बंगले के पोर्टिगो तक कभी अपनी बग्घी न ले जाते। साहब बहादुर के काम और मेम साहिबा के आराम में कोई खलल न पहुँचे इसलिए यह बग्घी पोर्टिगो से बहुत दूर खड़ी की जाती। वहीं बग्घी से उतरकर वे धीरे-धीरे साहब के दफ्तर के बरामदे तक पहुँचते और वहाँ चपरासी के द्वारा साहब को अपने आगमन की सूचना भेजते। जब तक उन्हें भीतर आने की आज्ञा न मिलती, वे बाहर खड़े रहते और जब भीतर आने की आज्ञा मिल जाती तब जूते बरामदे में उतार कर साहब बहादुर के दफ्तर में प्रवेश करते मानो किसी मन्दिर में जा रहे हों। वहाँ पहुँच जमीन तक झुककर साहब को सलाम करते और कुर्सी पर तभी बैठते जब साहब बहादुर उनसे बैठने को कहते। इनमें से अधिकांश अफसर तो खड़े होकर उनका स्वागत करते और हाथ मिलाकर उन्हें कुर्सी पर बिठाते भी, पर मैंने ऐसे अफसर भी देखे हैं जो उनकी इस झुककर की हुई सलाम का उत्तर थोड़ा सा सिर हिला अथवा दाहने हाथ की एक तर्जनी उँगली भर उठा कर देते, न कुर्सी से उठते और न उन्हें कुर्सी पर बैठने को कहते। बातचीत का आरम्भ प्रायः इस प्रकार होता—

"हुजूर का मिजाज शरीफ़ ?"

"आच्छा आच्छा।"

"मेम साहबा और बाबा लोग ?"

"आच्छा आच्छा।"

मुझे भी जूते उतारकर दफ्तर में प्रवेश कर इसी प्रकार सलाम करने

और मिजाजपुरशी की तहजीब सिखायी गयी थी। मैं भी इस सम्बन्ध में अपने पितामह का अनुसरण करता। जबलपुर से जानेवाले और वहाँ आनेवाले इन अफसरों को हमारे यहाँ से बहुधा बड़ी-बड़ी गार्डन पार्टियाँ दी जातीं, जिनमें हजारों रुपया खर्च होता। जिस शराब को छूने में भी मेरे पितामह पाप समझते उसी शराब की इन पार्टियों में नदियाँ बहतीं और मामूली शराब की नहीं, शैम्पीन, पोर्टवाइन आदि न जाने किन-किन बेशकीमती शराबों की। अंग्रेजों, अंग्रेजी सरकार और उसके इन अफसरों के सम्बन्ध में मेरे पितामह प्रायः कहा करते--"अंग्रेज जाति हमारी जाति से ऊँची जाति है, नहीं तो सात समुद्र पार से आये हुए मुट्ठी भर अंग्रेज इस तरह हम पर राज्य कर सकते थे? अंग्रेजी राज्य ऐसा राज्य है जिससे अच्छा राज्य इस देश पर कभी नहीं हुआ। पहले रोज बलवे, लड़ाई-झगड़े होते रहते थे, अब कैसी शान्ति है; चाहे कोई हथेली पर मोती उछालता शहरों और गाँवों में ही नहीं, जंगल में घूमता रहे कोई पूछने-वाला नहीं। हमें हमेशा राजभक्त रहना चाहिए। अफसरों के पास सारे अधि-कार हैं। कानून-कायदे एक तरफ पड़े रहते हैं और वे जो चाहे कर सकते हैं। दिन को रात और रात को दिन, काले को सफेद और सफेद को काला, जो चाहे कर डालें। उनकी मर्जी ही कानून है। इसलिए इन अफसरों से सदा उसी तरह डरना चाहिए जिस तरह कोई नैसर्गिक उत्पातों अग्निकाण्ड, झंझावात आदि से डरता है। और इन्हें शान्त रखने तथा खुश करने के लिए भी हमेशा उसी तरह कोशिश करते रहना चाहिए जैसे आदमी शनि, राहु, केतु आदि क्रूर ग्रहों की शान्ति और प्रसन्नता के लिए हर तरह के अनुष्ठान कराता और दान देता है।" मेरे पितामह का उस काल के शासकीय क्षेत्र में जो असर था उसे वे जैसा का तैसा अक्षुण्ण रखना चाहते थे, इसीलिए उस समय के अंग्रेज अफसरों की आवभगत आदि में सब कुछ करते हुए भी उनसे अपने लिए कुछ भी करने की बात तब तक कदापि न करते जब तक ऐसा करने को वे विवश न हो जाते। वे अन्य क्षेत्रों में तो पूंजीवादी सिद्धान्तों का अनुसरण क्वचित ही करते, पर इस विषय में अपने प्रभाव की पूंजी को जहाँ तक होता कभी न छूते, उसमें कुछ न कुछ जोड़ते ही जाते और उसका अल्प से अल्प अंश भी निकालने में सदा असमंजस में ही रहते।

मेरे मन पर मेरे पितामह के विषय में यदि कोई प्रतिकूल प्रभाव है तो उनका अंग्रेजों से सम्बन्ध का।

मेरे पितामह के इस विविध प्रकार के जीवन में उनके कुछ विशिष्ट साथी और कर्मचारी थे। इनमें मुझ पर जिनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा उनका भी कुछ उल्लेख करना यहाँ उपयुक्त होगा। कानूनी कार्यों के लिए उनके दो बड़े विश्वसनीय वकील थे। एक जबलपुर के श्री श्रीश्चन्दर राय चौधरी और दूसरे नरसिंहपुर के रायबहादुर अम्बिकाचरण दे। उस समय मध्य प्रदेश के वकीलों में बंगालियों का सबसे ऊँचा स्थान था। नागपुर के उस काल के सबसे बड़े वकील सर बिपिनकृष्ण बोस का नाम उस काल से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले सभी लोग जानते हैं। उसी प्रकार जबलपुर और जबलपुर के आस-पास के वकीलों में भी बंगाली वकीलों का ही सर्वश्रेष्ठ स्थान था। श्री राय चौधरी और अम्बिकाचरण उस काल के जबलपुर और नरसिंहपुर के सबसे बड़े वकील थे, पर मेरे मन पर इन दोनों का अच्छा प्रभाव न था। इसका प्रधान कारण कदाचित् यह था कि ये दोनों बहुत बुरी हिन्दी बोलते थे और यद्यपि इनकी हिन्दी मेरे पितामह अच्छी तरह समझ लेते थे, पर मुझे उसके समझने में बड़ी तकलीफ होती थी। मेरे पितामह आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति के बड़े पक्षपाती थे। जयपुर से हमारा बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था और जयपुर में आयुर्वेद का बड़ा जोर। जयपुर के राज्यवैद्य श्यामलालजी और स्वामी लक्ष्मीरामजी से उनका बड़ा निकट का सम्बन्ध था। ये लोग जबलपुर हमारे कुटुम्ब की छोटी-छोटी बीमारियों तक में आते। श्यामलालजी के छोटे भाई रामप्रतापजी को तथा उनके एक अन्य अनुयायी आनन्दवल्लभजी को तो श्यामलालजी ने हमारे कुटुम्ब के इलाज के लिए हमारे यहाँ रख ही दिया था। डाक्टरों में रायबहादुर डाक्टर सुरेन्द्रनाथ बराट से मेरे पितामह का बड़ा सम्बन्ध था। चिकित्सकों में इन सभी का और उनमें रामप्रतापजी का मुझ पर अच्छा प्रभाव था। मेरे पितामह के स्टेट के जनरल मैनेजर थे एक अंग्रेज श्री ई० ए० रसल। मेरे पितामह का सारा कामकाज हिन्दी और हिन्दी की उपभाषा मारवाड़ी में चलता था अतः स्टेट का कार्य तो रसल सा० शायद ही समझ सकते हों, पर अंग्रेजों से मेरे पितामह का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध

जो था। अतः यथार्थ में अंग्रेजों से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों की व्यवस्था श्री रसल करते थे और उन्हें जनरल मैनेजर का पद भर मिला हुआ था। रसल सा० का मुझ पर असर था। एक विदेशी होते हुए भी उन्होंने अपने को हमारे कुटुम्ब में विलीन-सा कर दिया था। उन्हें छूने के बाद बिना सिर से स्नान किये मेरे पितामह जल भी न पीते पर रसल सा० शायद उनके सबसे बड़े विश्वासपात्र व्यक्ति थे। मुनीम-गुमाश्ते तो मेरे पितामह के सैकड़ों ही थे। पर इनमें उनके सबसे विश्वासपात्र दो जैन ओसवाल मुनीम थे श्री बच्चूलालजी और नानकरामजी और दो माहेश्वरी मुनीम थे कन्हैयालालजी करवा और पूनमचन्दजी सुरजन। इन चारों का मुझ पर बड़ा प्रभाव था। मेरे पितामह के कथावाचक थे श्री बच्छराज व्यास। मैंने अपने पितामह के जीवन में और उनके बाद भी व्यासजी के मुख से अनेक पुराण सुने हैं। मेरे पितामह के समय के लोगों में मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव था बच्छराजजी का।

मेरे पितामह केवल दूसरी हिन्दी तक पढ़े थे, पर मेरी शिक्षा की उन्होंने अच्छी से अच्छी व्यवस्था की थी। एक पश्चिमी विद्वान क्लाइब बैल ने एक जगह लिखा है—"शिक्षा छठवीं ज्ञानेन्द्रिय है।" बैल महोदय का यह कथन तो मेरे पितामह को न मालूम था परन्तु स्वयं अधिक शिक्षित न होते हुए भी वे शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। बिना स्कूल और कालेज भेजे वे मुझे उस काल के राजा-महाराजाओं के राजकुमारों के सदृश शिक्षा दिलाना चाहते थे। अच्छी से अच्छी अंग्रेजी पढ़ाना, घोड़े पर चढ़ना, अंग्रेजी नाच आदि सभी सिखाना चाहते थे, जिससे मैं उस काल के भद्र से भद्र समाज के योग्य बन सकूं। आरम्भ से ही हिन्दी और अंग्रेजी साथ-साथ पढ़ाने के लिए जबलपुर के गवर्नमेंट कालेज के रिटायर्ड प्रोफेसर बाबू द्वारकानाथ सरकार को मेरा शिक्षक नियुक्त किया गया, जो मेरे गार्जियन भी थे। मेरे पितामह के साथ जब मैं दौरे पर जाता तब मेरे शिक्षक और गार्जियन भी मेरे साथ रहते। प्रोफेसर सरकार ने जिस एक विचार को अनेक प्रकार से मेरे मन में भरा उसे मैं जीवन भर कभी भी न भूल सका। इस विचार को मैं यहाँ रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार चैकब के शब्दों में रख देता हूँ—"आलसी जीवन कभी पवित्र जीवन नहीं हो सकता।" मुझमें चाहे अन्य कोई भी दोष क्यों न हों, मैं सरकार महोदय की इस बाल्यावस्था की शिक्षा के कारण आलसी कभी

विवाह

क्रान्तिवाद के आधुनिक युग में यह सत्य बहुधा हमारी आँखों से ओझल हो जाता है कि हमारे जीवन का वृहत् अंश हमारी इच्छाओं-अनिच्छाओं पर निर्भर न होकर ऐसी शक्तियों से संचालित और नियंत्रित हो रहा है जिन पर न तो हम अकेले ही कुछ अंकुश रखते हैं और न अपने अन्य मानवी साथियों से मिलकर ही कोई काबू पा सकते हैं। हमारे जीवन व्यापारों के लिए दिन-रात की अनिवार्य आवश्यकता है; किन्तु दिन होता है, रात होती है, पर हमारी इच्छा से नहीं, हमारे इशारे पर नहीं, वरन् उससे पूर्णतः स्वतन्त्र। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और वह सूर्यमण्डल की एक ग्रह है—इन्हीं दो बातों के कारण तो सुबह होता है, शाम होती है, पर न तो पृथ्वी के अपने धुरी पर घूमने को हम रोक सकते हैं और न उसकी गति में कोई परिवर्तन कर सकते हैं। हम हों या न हों, हमारी जाति हो या न हो, मानव हो या न हो, कोई जीव हो या न हो, वह तो अपनी धुरी पर अपनी नियत गति से घूमती ही रहेगी; उसमें तिल भर भी कोई परिवर्तन न होगा। सूर्य से पृथ्वी का जो सम्बन्ध है उसमें भी हमारा कोई हाथ नहीं। हम चाहने पर भी सूर्य से उसकी दूरी को घटा-बढ़ा नहीं सकते। सूर्य के प्रकाण्ड ताप से चाहे हमारे गात जल ही क्यों न रहे हों और पृथ्वी को सूर्य से कुछ फुट दूर कर देने से हमारी यह व्यथा दूर क्यों न हो सकती हो, किन्तु हम अपनी सारी सम्मिलित और केन्द्रित शक्ति लगाकर भी पृथ्वी को सूर्य से दूर नहीं कर सकते। सूर्य और पृथ्वी का यह सम्बन्ध उस समय स्थापित हो गया था जब मानव का अस्तित्व भी न था और वह तब भी बना रहेगा जब किसी कारण से क्यों न हो पृथ्वी से मानव का नाम निशान भी मिट गया होगा। पृथ्वी से इतनी दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं। पृथ्वी तल और पृथ्वी के गर्भ में ही जो अनेक शक्तियाँ सक्रिय हैं उन पर भी तो हमारा कोई विशेष नियंत्रण नहीं है। सहसा आकाश तिमिराच्छन्न हो

जाता है, किसी अज्ञात कोने में अंधड़ का ऐसा रेला आता है कि वर्षों के प्रयास द्वारा निर्मित मानव-सृष्टि ढह जाती है; मानव अपने जीवन की भी रक्षा नहीं कर पाता। मनुष्य गर्व से मत्त होकर समझता है कि प्रकृति उसकी दासी, उसकी चेरी, है किन्तु प्रकृति के एक थपेड़े में ही उसकी सोने की लंका विध्वस्त हो जाती है, पृथ्वी की भृकुटि की ज़रा-सी सिकुड़न से मृत्यु उसके सिर पर नाचने लगती है। आज भी जब मानव यह समझता है कि उसने प्रकृति को जीत लिया है, जब वह यह समझता है कि उसकी सृजन-शक्ति प्रकृति और परमात्मा दोनों से ही बढ़ी-चढ़ी है, वह कितना असहाय है, यह इसी बात से स्पष्ट है।

सूर्य और पृथ्वी की ब.त हम न भी सोचें तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य क्षेत्रों में हम अपने मालिक हैं। हृदय धड़कता है, यकृत से पित्त निकलता है, फुफ्फस रक्त को साफ करते हैं, किन्तु क्या ये क्रियायें हमारी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर करती हैं। यदि हम यह तय कर लें कि छुट्टी के दिन हम अपने हृदय को भी धड़कने से छुट्टी दे दें तो क्या उस दिन हृदय पिकनिक करने चला जायेगा और अपना कार्य उस दिन के लिए बन्द रखेगा? यदि हम यह सोचें कि भई आज तो रोटी का प्रबन्ध नहीं है चलो यकृत से कह दिया जाये कि आज अपना धंधा बन्द करो तो क्या वह हमारी बात मान जायेगा? काश हमारी यह शक्ति होती तो हमें अनेक चिन्ताओं, अनेक दुविधाओं, अनेक कठिनाइयों, अनेक व्यथाओं से छुटकारा मिल जाता। पर हमारी यह शक्ति नहीं और न ऐसी कोई संभाव्यता ही है कि किसी सुदूर भविष्य में भी हमारी ऐसी शक्ति हो जायेगी। इस विषय में तो हम नियति के दास हैं और सर्वदा ही दास रहेंगे।

किन्तु इन शारीरिक व्यापारों के क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रों में भी क्या हम पूर्णतः स्वतन्त्र हैं और अपनी इच्छा-अनिच्छा से जीवन चलाते हैं? इस सम्बन्ध में भी विचार करने पर पता चलता है कि हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र भी लगभग नहीं के बराबर ही है। हमारी भाषा, हमारी वेष-भूषा, हमारे आचार-विचार, हमारे पारस्परिक सम्बन्ध, हमारी धन-सम्पत्ति—लगभग सब कुछ हमें इतिहास की ऐसी देन हैं जिसमें हमारा स्वयं अपना कुछ विशेष अंश नहीं है।

मैं कौनसी भाषा बोलूं, इस प्रश्न का निर्णय मेरे जन्म से ही पूर्व मेरे लिए हो चुका था। न तो जन्म के दिन और न उसके पश्चात् मुझसे किसी ने यह राय ली कि मेरी भाषा क्या हो। इतिहास ने नियत कर दिया था कि मेरी भाषा हिन्दी और अंग्रेजी हो। मेरा जन्म हिन्दी भाषी परिवार में हुआ इसलिए माँ के दूध के साथ हिन्दी मेरे व्यक्तित्व का अंग बनने लगी। मेरा जीवन यापन अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन होना था अतः मेरे लिए अंग्रेजी का ज्ञान उपार्जन करना भी इतिहास ने मेरे भाग्य में लिख दिया था। वह बात मेरे ही साथ न थी वरन् उन सब नर-नारियों के साथ थी जो अंग्रेजी प्रभुओं के नीचे रहते हुए भारतीय जीवन के नियन्ता थे। यह बात केवल युग विशेष की ही न होकर मानव-जीवन का अभिन्न अंग है। रूसो ने आह भरकर यह कहा है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ था, किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों से आबद्ध है। उसका यह विचार था कि पृथ्वी-तल पर मानव-जीवन का शायद ऐसा युग था जिसमें प्रत्येक मानव सर्वथा स्वतंत्र था। यदि मानव इतिहास में एसा कोई युग होता तो भी मानव स्वतन्त्र न होता, क्योंकि उस समय भी वह प्रकृति की जंजीरों से, अपने शारीरिक व्यापारों की जंजीरों से और अपने मानसिक गठन की जंजीरों से बँधा ही होता। आज भी जो लोग यह सोचते हैं कि वे भूतकाल की इन सब जंजीरों से पिंड छुड़ा सकेगा, वे लोग यह भूल जाते हैं कि ये जंजीरें ऐसी धातु की नहीं बनी हैं जो मानव के रोष से जलकर राख हो जाती हैं या उसके हाथों से मसली जा सकती हैं। इन जंजीरों का निर्माण तो मानव का निजी शरीर, निजी मन, निजी जीवन क्रम है और इनको तोड़ने का अर्थ मानव-जीवन को ही मिटा देना है। हाँ, इन जंजीरों में परिवर्तन हो सकता है, इनका रंग-रूप बदला जा सकता है, किन्तु इन्हें मिटाया नहीं जा सकता, तोड़ा नहीं जा सकता।

इस सम्बन्ध में तो संभवतः उग्र से उग्र क्रान्तिकारी भी घोषणा नहीं करता कि वह सूर्य, चन्द्र, तारों और पृथ्वी से सृष्ट जंजीरों को तड़का देगा। यह सत्य कि ये अमानवी जंजीरें तड़कायी नहीं जा सकतीं, इतना स्पष्ट है कि इसके विषय में न तो किसी विशेष तर्क की आवश्यकता है और न थोड़ी सी भी शंका के लिए कोई स्थान। शारीरिक व्यापारों की अनिवार्यता के सम्बन्ध

में भी कोई क्रान्तिकारी शंका नहीं करता और न उनको मिटाने की बात सोच सकता है, किन्तु क्या शुद्ध सामाजिक क्षेत्र में भी आमूल क्रान्ति की जा सकती है ? गर्वोन्मत्त होकर कोई मानव कुछ भी सोचे या कहे, किन्तु यह अटल सत्य है कि आमूल क्रान्ति का स्वप्न आकाश कुसुम के समान ही सारहीन है। मानवी समाज का गठन ऐसा है कि उसमें ऐसी क्रान्ति नहीं की जा सकती।

यदि मानव-समाज केवल एक पीढ़ी से ही, और वह भी विचारवान वयस्कों की पीढ़ी से ही, गठित होता तो कदाचित् यह संभव होता कि वे लोग खून-पसीना एक करके अपने पारस्परिक सम्बन्धों को अपनी इच्छा के अनुसार गठित कर लेते, यद्यपि उनके लिए भी यह हिमालय प्रयास के समान ही होता, क्योंकि व्यक्ति की वासनात्मक बुद्धि की रचना उसके बाल्यकाल में ही या उससे भी पूर्व उसके पूर्वजों के जीवन में ही हो जाती है और इसलिए यह संभव नहीं रहता कि उस वासनात्मक बुद्धि का गठन कोई व्यक्ति वयस्क होने पर यदि निजी विवेक जैसी कोई वस्तु होती हो तो उसके अनुसार कर ले। किन्तु यदि मान भी लिया जाये कि विवेकवान एक ही पीढ़ी के लोग अपने मन के अनुकूल अपने सामाजिक सम्बन्ध गठित कर सकते हैं तो भी यह स्पष्ट है कि वास्तविक जीवन में यह संभव नहीं है, क्योंकि अतीत काल से आज तक और आज से लेकर अनजाने भविष्य तक एक दिन और एक क्षण भी ऐसा न हुआ है और न होगा जब कि मानव-जाति केवल एक विवेकवान पीढ़ी के लोगों से ही गठित रही हो या गठित हो सके। मानव जीवन का यह अनिवार्य सत्य है कि प्रत्येक क्षण मानव-जाति में कम से कम तीन पीढ़ियाँ एक साथ ही जीवित होती हैं—एक वृद्धों की पीढ़ी, एक युवकों की पीढ़ी और एक बालकों की पीढ़ी। स्पष्ट है कि इन तीन पीढ़ियों की न तो वासनात्मक बुद्धि और न विवेचनात्मक बुद्धि एक जैसी हो सकती है। साथ ही इन तीनों पीढ़ियों में जीवन के लगभग हर क्षेत्र में ऐसे घनिष्ठ और उलझे हुए सम्बन्ध होते हैं कि वे एक दूसरे पर प्रतिक्षण प्रभाव डालते रहते हैं। सच तो यह है कि इनमें से प्रथम पीढ़ी से ही द्वितीय पीढ़ी का और द्वितीय पीढ़ी से तृतीय पीढ़ी का न केवल शारीरिक वरन् मानसिक अस्तित्व भी होता है। हमारी वासनात्मक और विवेचनात्मक बुद्धि दोनों का ही आधार शब्द और भाषा है। किन्तु ये शब्द और

भाषा तो एक ही पीढ़ी की रचना नहीं होते। आज की प्रत्येक विकसित भाषा अनेक शताब्दियों से चली आ रही है और उसके निर्माण में अनेकों पीढ़ियों का हाथ रहा है। आज तो स्थिति यह है कि प्रत्येक विकसित भाषा का शब्द भण्डार, वाक्य-रचना और मुहावरे बहुत कुछ निश्चित-से हो गये हैं और इन भाषाओं के रूप और भण्डार में प्रत्येक नयी पीढ़ी अत्यन्त नगण्य ही अन्तर कर पाती है या कर सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि कितनी ही व्यापक क्रान्ति क्यों न की जाये वह भाषा के मूल रूप में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं कर सकती। जब भाषा में ही आमूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता तब यह भी संभव नहीं है कि उस भाषा से बहुत कुछ निर्मित होनेवाली वासनात्मक या विवेचनात्मक बुद्धि में भी कोई आमूल परिवर्तन किया जा सके। भाषा के अतिरिक्त जब मानव-जीवन के स्थायी प्राकृतिक और शारीरिक अंश पर ध्यान दिया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उस अंश से सम्बन्धित मानव-विचारों और शृंखलाओं में भी कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं किया जा सकता। चाहे कोई क्रान्तिकारी हो चाहे प्रतिक्रियावादी वह भोजन करेगा ही और बहुत कुछ एक-सा ही भोजन करेगा, एक से ही वस्त्र पहिनेगा, एक से ही घरबार में रहेगा, एक से ही रोगों का शिकार होगा, एक सी ही औषधियों का सेवन करेगा। आधुनिक युग की दो महान् क्रान्तियाँ हमारे सामने हैं--एक रूसी राज्य-क्रान्ति और दूसरी चीनी राज्य-क्रान्ति। किन्तु इन दोनों ही क्रान्तियों ने मानवों के रहन-सहन में क्या कोई विशिष्ट परिवर्तन किया है? वहाँ भी तो नर-नारी वही भोजन करते हैं, वही वस्त्र पहनते हैं, वही औषधि उपचार करते हैं, वही खेती-बाड़ी करते हैं, जैसे कि वहाँ से बाहर के समृद्ध देशों के नर-नारी करते हैं। वहाँ परिवर्तन हुए हैं, किन्तु वे परिवर्तन केवल आर्थिक सम्पन्नता के कारण हुए हैं। किन्तु इन परिवर्तनों के बावजूद यह तो स्पष्ट ही है कि वहाँ भी प्रत्येक नर-नारी कुछ वैसी ही जंजीरों से आबद्ध हैं जैसी जंजीरों से कि वे अन्यत्र आबद्ध हैं।

अतः यह मेरे लिए आश्चर्य और खेद की बात नहीं है कि मेरा जीवन भी इन सामाजिक शृंखलाओं से आबद्ध रहा और मेरे जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इन्हीं सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों और प्रवृत्तियों से निश्चित हुईं।

इन्हीं घटनाओं में मेरा विवाह भी था। जिन दिनों मेरा विवाह हुआ उन दिनों मेरे परिवार, मेरे पड़ौसियों, मेरे जाति और देश भाइयों में यह विश्वास घर किये हुए था कि विवाह करना प्रत्येक नर-नारी का धर्म है और ऐसा धर्म है जिसकी पूर्ति किये बिना वह न तो अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो सकता, और न स्वर्ग ही पा सकता। संभवतः इस विश्वास का आधार हमारे प्राचीन ऋषियों की यह व्यवस्था थी कि उन असाधारण व्यक्तियों के अतिरिक्त जो भगवान शिव के समान कामदेव को विजय कर चुके हैं, और जिन्हें सीधे ही संन्यास आश्रम में प्रवेश करने तथा अपना समय एवं जीवन आत्म-दर्शन की साधना में लगाने का अधिकार है अन्य व्यक्तियों को आश्रम धर्म का पालन करना चाहिए।

इन मनीषियों ने मानव-जीवन को चार भागों में बाँटा था। पहले भाग में तो उन्होंने व्यक्ति का यह धर्म ठहराया था कि वह गुरु के पास अध्ययन करे और विद्या एवं ज्ञान का उपार्जन करे। इस आश्रम में जीवन व्यतीत करते समय उसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी इन्द्रियों को संयत कर ऐसी साधना करे कि वह अपने आगे के जीवन को उन सिद्धान्तों के अनुरूप चला सके जो कि ऋषियों ने मानव-जीवन के हेतु तथा मुक्ति लाभ के लिए आवश्यक माने हैं। इस साधना का यह आवश्यक अंग माना गया था कि व्यक्ति हर प्रकार के कष्ट सहने के लिए अपने शरीर एवं मन को उपयुक्त बनाये। वह किसी प्रकार का भी साज-शृंगार न करे, किसी प्रकार की वासना या अनुचित भोग में रत न हो और अपना सारा समय, सारी शक्ति उन गुणों तथा विद्या एवं ज्ञान के उपार्जन में लगाये जिनके बिना वह अपने जीवन के चरम ध्येय को नहीं पा सकता।

इस बारे में भगवान् मनु के निम्न वचन उद्धरणीय हैं—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
संनियम्येन्द्रियग्रामतपोवृद्ध्यर्थमात्मनः।
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्या देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च।

वर्जयेन्मधुमांसंचगंधमाल्यंरसान्स्त्रियः ।
शुक्तानियानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।
अभ्यंगमंजनं चाक्षणोरुपानच्छत्र धारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ।
द्यूतं च जनवादं च परीवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालमामुपघातं परस्य च ।
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धिस्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतात्मजः ।

लगभग ऐसा ही विधान महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी किया है। उन्होंने कहा है—

मधुमांसांजनोच्छिष्ट शुक्त स्त्री प्राणिहिंसनम् ।
भास्करालोकनाश्लील परिवादांश्च वर्जयेत् ॥३३॥

इस आश्रम के समाप्त होने पर व्यक्ति के जीवन का दूसरा भाग प्रारम्भ होता था। इस भाग में व्यक्ति का यह धर्म ठहराया गया था कि वह विवाह करे, संतान उत्पन्न करे, धन उपार्जन करे तथा बटुकों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों का भरण पोषण करे। इसे गृहस्थाश्रम कहा जाता था। यह आश्रम अन्य सब आश्रमों का आर्थिक आधार माना जाता था। इस आश्रम में भी व्यक्ति को यह छूट नहीं थी कि वह मनमानी रीति में इन्द्रिय भोग करे। इसके विपरीत इस आश्रम को भी धर्म पालन का एक साधन ठहराया गया था और इसीलिए उसे भोग की शय्या न मानकर धर्म साधना का अंग माना गया था।

गृहस्थाश्रम धर्म के पालन के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था थी। इस आश्रम में नर-नारी के लिए यह धर्म ठहराया गया था कि वे साथ तो रहें, किन्तु किसी प्रकार की काम-वासना न रखें।

जीवन के अन्तिम भाग को संन्याश्रम कहा जाता था। इसमें व्यक्ति का यह धर्म था कि वह मेरा तेरा का सारा सम्बन्ध त्यागकर अपनी सब वासनाओं का शमन कर अपनी सारी शक्ति तथा समय तत्त्वदर्शन में लगा दे। साथ ही अपने ज्ञान एवं तप से गृहस्थों तथा ब्रह्मचारियों के जीवन को भी आलोकित और पुनीत करे।

मैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि क्या ऐसा कोई युग था जब कि इस आश्रम धर्म के अनुसार व्यक्तियों का जीवन चलता था अथवा यह केवल आदर्श मात्र ही रहा, किन्तु इतना तो सत्य ही है कि जब मेरा विवाह हुआ उस समय आश्रम धर्म की यह व्यवस्था हमारे समाज में प्रचलित न थी। कुछ नर-नारी संन्यास अवश्य लेते थे, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम और वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था लगभग लुप्तप्राय हो चुकी थी। फिर भी इस आश्रम धर्म के आधार तल में जो मान्यता थी वह हमारे समाज में अवश्य फैली हुई थी। यदि किसी व्यक्ति का विवाह नहीं होता था तो यह उसके लिए तथा उसके परिवारवालों के लिए भारी दुर्भाग्य की बात समझी जाती थी। यह समझा जाता था कि उसका जीवन अकारथ हो गया। साथ ही उन दिनों यह कोई न समझता था कि विवाह केवल अपने भोग के हेतु किया जाता है। इसके विपरीत यह मान्यता फैली हुई थी कि विवाह अपने पितृ-ऋण को चुकाने के लिए तथा अपने पूर्वजों को पुंगी नरक से बचाने के लिए किया जाता है। इस विषय में व्यक्ति का निजी सुख-दुःख गौण समझा जाता था। यहाँ तक कि यह मान्यता थी कि यदि विपत्ति का पहाड़ भी आ पड़े तो भी इस धर्म का पालन करना ही चाहिए। इसीलिए रंक से रंक ऋण लेकर भी, हर प्रकार की व्यथा सहकर भी इस धर्म को जीवन भर निभाने का भरसक प्रयास करता था।

विवाह के प्रति इस दृष्टिकोण को वे लोग हास्यास्पद समझते हैं जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की सामाजिक मान्यताओं को जीवन का चरम सत्य मानकर अपना लिया है, उस शताब्दी में शुद्ध व्यक्तिवाद का सिद्धान्त यूरोप में सामाजिक जीवन का आधार मान लिया गया। प्रत्येक सामाजिक संस्था को उसी की कसौटी पर कसा जाने लगा। इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना गया कि मानवों के सब सम्बन्ध व्यक्ति की सुख साधना के हेतु हैं, व्यक्ति की सुख साधना का अर्थ उसकी इन्द्रिय तृप्ति से है, अतः इस सिद्धान्त के अनुसार वही संस्था ठीक है जो व्यक्ति की सर्वाधिक इन्द्रिय तृप्ति करती है। इसी मान्यता के आधार पर वहाँ के अनेक नर-नारियों ने यूरोप की पुरानी विवाह संस्था में आमूल परिवर्तन की माँग की और उसके स्वरूप को बदल डाला। ईसाई धर्म के अनुसार तो नर-नारी का सम्बन्ध ईश्वर नियत करता है, किन्तु इस व्यक्तिवाद

के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप में यह विचार फैला कि नर-नारी का वैवाहिक सम्बन्ध समाज की अन्य संस्थाओं के समान ही विवाह करने वाले नर-नारी की पारस्परिक इच्छा पर आश्रित होता है, जिस पर उनका भावी जीवन निर्भर रहता है। किन्तु काम के वशीभूत युवक-युवती के मन में भावी जीवन की आवश्यकता का रूप क्या हो सकता है इसका अनुमान करने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए। किन्हीं विरले व्यक्तियों को छोड़कर अन्य युवक-युवतियों के मन में एक दूसरे से विवाह करने की इच्छा इन्द्रिय भोग के लिए ही पैदा होती है। इस कारण यह कहना अनुचित न होगा कि यूरोप में विवाह काम-वासना की खुली तृप्ति करने का ही साधन मात्र रह गया। जो लोग विवाह को केवल भोग का ही साधन मानने लगे हैं वे यदि विवाह के प्रति हमारी परम्परागत आस्था को हास्यास्पद तथा हानिकर समझें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। जो अपने ही भोग को समस्त विश्व और समस्त मानव जाति का एक मात्र ध्येय मानते हों, जो हर क्षण यह सोचते हों कि समस्त चराचर जगत् उनकी ही सुख साधना के हेतु बना है, वे यह कैसे मान सकते हैं कि कोई सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की भोग साधना के लिए न होकर इतिहास की परम्परा और जातीय जीवन की शृंखला को अक्षुण्ण एवं अमर बनाने के हेतु होता है। किन्तु विवाह के प्रति यह विचार हमारे देश में पहले कभी न था और आज भी हमारे देश की जनता के निन्यानवे प्रतिशत लोग विवाह के प्रति यह विचार नहीं रखते। हाँ, अब कुछ दिनों से चलचित्रों में जो वैवाहिक आदर्श चित्रित किये जा रहे हैं उनसे यह विचार अवश्य फैल रहा है कि विवाह तो केवल व्यक्ति की भोग साधना के लिए ही है, उसका सम्बन्ध परिवार, जाति, राष्ट्र या अन्य किसी समूह से न होकर केवल व्यक्ति से तथा अपने मन से ही है।

मैं समझता हूँ कि विवाह के प्रति यह दृष्टिकोण समष्टि के लिए तो अहितकर है ही यह व्यष्टि के लिए भी पूर्णतः अहितकर है। विवाह के सम्बन्ध में यह भावना कि वह नर-नारी की काम-वासना की तृप्ति का ही दूसरा नाम है विवाह के ठीक स्वरूप को न पहचानना है। यह ठीक है कि वैवाहिक बन्धन में एक महत्त्वपूर्ण भाग काम तृप्ति का होता है, किन्तु उसी कारण से विवाह को काम तृप्ति का ही दूसरा नाम मान लेना मेरी समझ में भारी भूल है। वैवाहिक

सम्बन्ध उससे कहीं अधिक व्यापक और किन्हीं अन्य ध्येयों पर आश्रित है। यदि ऐसा न होता तो जहाँ तक काम तृप्ति या मैथुन का प्रश्न है पशु और मानव में कोई अन्तर ही न रहता। यदि वैवाहिक बन्धन और काम तृप्ति के विभिन्न प्रकारों के इतिहास पर दृष्टि डाली जाये तो यह बात भली भाँति व्यक्त हो जायेगी।

आज यह बात सब समाजशास्त्री मानते हैं कि मानवों की सब वर्तमान सामाजिक संस्थाएँ एवं सम्बन्ध मानवों और उनकी प्राकृतिक तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों की रगड़ से शनैः शनैः उत्पन्न हुए हैं। वे यह भी मानते हैं कि मानव का वर्तमान शारीरिक गठन भी उसी नियम के प्रभाव से शनैः शनैः निर्मित हुआ है जो कि समस्त प्राणिजगत् में क्रियाशील है। उनका यह कथन है कि जीवन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए अपनी परिस्थितियों को अपने अनुकूल करने का प्रयास करता है और यदि ऐसा संभव नहीं होता तो उन परिस्थितियों से अपना समन्वय कर लेता है। जीवन की इसी प्रवृत्ति के कारण वनस्पति, मत्स्य, पक्षी और पशुओं की अनेक योनियाँ विकसित हुई हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप क्या पशु, क्या पक्षी अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उदाहरणार्थ पक्षी अपने लिए घोंसला बनाते हैं और इस प्रकार अपनी प्राकृतिक परिस्थिति में परिवर्तन करते हैं यद्यपि वह परिवर्तन अत्यन्त ही थोड़ी मात्रा में होता है। इसी प्रकार पशु भी अपने लिए माँद बनाते हैं। किन्तु इन सब पशु-पक्षियों में एक ऐसा पशु निकला जो अपनी परिस्थितियों में भारी अन्तर करने में सफल हो गया। वही पशु-मानव है। परन्तु यह पशु-मानव ऐसा करने में इस वजह से सफल हो पाया कि उसके शारीरिक गठन का विकास अन्य पशुओं से किसी कदर भिन्न प्रकार का हो गया। वह खड़ा होकर चलने लगा, उसका धड़ वक्र न रहकर सीधा हो गया और उसके मस्तिष्क का वजन तथा आकार भी अन्य पशुओं से कुछ भिन्न हो गया। अतः आज यह निर्विवाद सत्य माना जाता है कि अन्य मानवी संस्थाओं की भाँति वैवाहिक सम्बन्ध एवं काम तृप्ति के विभिन्न प्रकार भी इसी सर्वव्यापी विकास क्रम के परिणाम हैं। इस बात का फैसला करने के हेतु कि क्या विवाह केवल नर-नारी की काम तृप्ति का ही नाम है यह देखना

चाहिए कि वैवाहिक सम्बन्ध का और नर-नारी के पारस्परिक मैथुन का विकास-क्रम क्या रहा है।

यह तो स्पष्ट ही है कि मैथुन करने की प्रवृत्ति मानवों में भी उसी समय से चली आ रही है जब कि वह मानव न होकर पूर्ण रूप से पशु अवस्था में था। यह तो सृष्टि के लिए ही आवश्यक था अन्यथा मानव का निर्माण ही न होता। प्राणिजगत् पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उसमें प्रजनन के दो तरीके हैं एक तो अमैथुनी प्रजनन और दूसरा मैथुनी प्रजनन। ऐसे कुछ जन्तु हैं जो स्वयं अपने ही शरीर के व्यापार से प्रजनन कर लेते हैं। प्राणिशास्त्रियों का यह मत है कि इस प्रकार अमैथुनी प्रजनन करने वाली योनियाँ जीवन के विकास के प्रारम्भिक क्रम में उत्पन्न योनियाँ हैं और इस कारण कार्यक्षमता की दृष्टि से अत्यन्त निम्न कोटि की हैं। दूसरे प्रकार के वे प्राणी हैं जिनमें दो सजातीय प्राणियों के पारस्परिक मिलन से ही प्रजनन होता है। यह मिलन लैंगिक होता है। इसी को हमारे शास्त्रकारों ने मैथुन की संज्ञा दी है। मानव इन्हीं मैथुनी योनियों में से एक है। मानवों में नर-नारी के लैंगिक मिलन या मैथुन के बिना प्रजनन नहीं होता। जैसा ऊपर कहा गया है यह प्रत्यक्ष ही है कि मैथुन की यह अनिवार्यता मानव नामी प्राणी में उस समय भी वर्तमान थी जब वह उन सब गुणों से परिपूर्ण न हुआ था जिनके कारण उसे मानव की संज्ञा प्राप्त हुई। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विकास-क्रम में मानव जिस पशु पूर्वज की सन्तान है उन पशु पूर्वजों से ही मानव को मैथुन की अनिवार्यता दाय में मिली है। यद्यपि आज उस पशु पूर्वज के जीवन कलाप का इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है इस कारण यह अकाट्य रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनमें मैथुन क्रम सर्वथा वैसा ही था या नहीं जैसा कि वह उनकी निकटतम योनियों अर्थात् चिम्पान्जी, लंगूर, बन्दर इत्यादि में पाया जाता है, किन्तु आज भी जो जातियाँ असभ्यता की अवस्था को किसी कदर पार नहीं कर पायी हैं उनमें मैथुन की प्रथा को देखकर हम कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मानव के पशु-पूर्वजों में अथवा पशुओं के समान ही कोई नर किसी नारी से अपनी काम तृप्ति कर लेता था। उस नर-नारी में उसी प्रयोजन के हेतु कुछ क्षणों का ही सम्बन्ध होता था। उसके पश्चात् यह आवश्यक नहीं था कि वह उस नारी के साथ रहे या

पुनः उससे ही अपनी काम तृप्ति करे। किन्तु जैसे-जैसे वे पशु-पूर्वज विकास-क्रम में मानव रूप की ओर अग्रसर होते गये वैसे-वैसे मैथुन के सम्बन्ध में उनमें कुछ परिवर्तन भी हुए। मानवों की ऐसी कोई जाति नहीं मिलती जिसमें सर्वथा अनियन्त्रित मैथुन की प्रथा पायी जाती हो। आस्ट्रेलिया महाद्वीप और प्रशान्त महासागर के कुछ अन्य द्वीपों में ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जिन्हें सभ्यता की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ी जातियाँ कहा जा सकता है। इनमें भी अनियन्त्रित मैथुन की प्रथा नहीं मिलती।

इन तथा अन्य जातियों के सामाजिक सम्बन्धों एवं प्राचीन गाथाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवों में आरंभ में यह प्रथा थी कि एक ही वंश के सब नर उसी वंश की सब नारियों के साथ और एक ही वंश की सब नारियाँ उसी वंश के सब पुरुषों के साथ मैथुन कर सकते या कर सकती थीं। साथ ही ये नर-नारी अन्य वंश के नर-नारियों से मैथुन न कर सकते थे। इस प्रथा का अवशेष आजकल भी कुछ भारतीय जातियों तक में मिलता है। नीलगिरि की वेदा जाति में यह प्रथा आज भी वर्तमान है कि भाई अपनी सगी बहन से ही मैथुन करता है। इसी प्रकार की प्रथा प्राचीन मिश्र देशवासियों में भी थी। परन्तु मैथुन की इस प्रथा के कारण यह संभव न था कि यह कहा जा सके कि किसी बालक का पिता कौन है। यहाँ तक कि बालक की माता भी यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकती थी, क्योंकि उसका तो उस वंश के सब पुरुषों से ही मैथुनी सम्बन्ध होता था। यदि बालक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता था तो केवल यही कि वह किस माता की सन्तान है। दूसरे शब्दों में उन युगों में पितृत्व केवल कल्पना था पर मातृत्व तथ्य। अतः उन युगों में माता से बालक की वंश परम्परा निश्चित होती थी।

आरम्भ में तो इस प्रथा में ऐसा कोई बन्धन न था कि वंश की एक पीढ़ी वालों में ही पारस्परिक मैथुनी सम्बन्ध हो। पिता अपनी पुत्री से और पुत्र अपनी माता तक से मैथुनी सम्बन्ध रख सकता था, किन्तु किन्हीं कारणों से क्यों न हो बाद में यह बन्धन हो गया कि मैथुनी सम्बन्ध एक ही पीढ़ी वाले नर-नारियों तक सीमित रहे। इस एक वंशीय मैथुन की प्रथा को भी कुछ समाज-शास्त्री विवाह की संज्ञा देते हैं, किन्तु मैं समझता हूँ कि यह ठीक नहीं है।

विवाह सम्बन्ध में जो विशेषता है वह इस प्रथा में नहीं पायी जाती। यह विशेषता क्या है इस सम्बन्ध में मैं बाद में कुछ कहूँगा। यहाँ तो इतना ही कह देना ठीक है कि इस प्रथा में वह विशेषता न थी। इस वजह से इसे विवाह की संज्ञा न देनी चाहिए।

यह प्रथा अनेक वर्षों तक लगभग सारे मानव जगत् में वर्तमान रही। बाद में यह अधिकतर जातियों से विलुप्त हो गयी। किसी कारण से क्यों न हो मानवों में यह विचार पैदा होगया कि एक वंशीय मैथुन अहितकर है इसलिए वह नहीं किया जाना चाहिए। उन दिनों सब अहितकर बातों को पाप की संज्ञा दी जाती थी, क्योंकि नर-नारियों को ऐसी अहितकर बात करने से रोकने के हेतु प्रभावशाली साधन यही था कि यह कहा जाये कि वह बात करने से देवता अप्रसन्न होंगे और उस बात के करने वालों को देवता दण्डित करेंगे। अतः एक वंशीय मैथुन को भी अनेक जातियों में पाप ठहरा दिया गया। किन्तु तब तक वंश का निश्चय तो माता के नाम से ही होता था। एक ही माता की सन्तान तथा इन सन्तानों की सन्तान को उस माता के गोत्र का माना जाता था। अतः एक वंशीय मैथुन के निषेध का अर्थ सगोत्र मैथुन का निषेध ही हुआ।

यह निषेध किसी एक दिन सामूहिक निश्चय के कारण नहीं हुआ, वरन ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की भावना शनैः शनैः फैलनी आरंभ हुई। जब यह जातीय चेतना में पर्याप्त व्याप्त हो गयी तब यह जाति का मान्य नियम बन गयी।

संभवतः इस निषेध के पैदा होने के कारण जाति का ऐसा विभाजन हुआ कि एक भाग वाले सब नर दूसरे भाग वाली सब नारियों से मैथुन सम्बन्ध रखने के अधिकारी हो गये। इस प्रकार के जातीय विभाग आस्ट्रेलिया की कुछ जातियों में मिलते हैं॥ इन विभागों के निर्णय के लिए ही संभवतः टोटम की प्रथा चली। यौवन में पदार्पण करते समय प्रत्येक लड़के या लड़की को एक दिवस अलग रहना पड़ता था। उस समय वह प्रथम बार जिस पक्षी को देखे उसी पक्षी का टोटम उसे दे दिया जाता था। उदाहरणार्थ यदि किसी लड़के ने मयूर देखा तो वह मयूर टोटम का माना जाता था। उसे यह अधिकार प्राप्त हो जाता था कि प्रत्येक मयूर टोटम वाली लड़की से वह मैथुन कर सके। इस प्रकार एक वंशीय

मैथुन के स्थान में एक टोटनीय मैथुन की प्रथा आरम्भ हुई। इस युग में भी यह संभव न था कि निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि किसी बालक या बालिका का पिता कौन है। माता के बारे में न तो कभी शंका हो सकती है, न कभी हुई। अतः इस प्रकार इस युग में भी संतान माता के ही साथ रहती थी और माता के ही गोत्र से ज्ञात होती थी। इस प्रथा को भी कुछ समाजशास्त्री विवाह का नाम देते हैं, किन्तु मेरे विचार में इस मैथुनीय सम्बन्ध को भी विवाह नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षणिक होता था। इसमें मैथुनीय सम्बन्ध वाले नर-नारी सहवास न करते थे।

वर्ग मैथुन की ये प्रथाएँ संभवतः तब तक बनी रहीं जब तक कि मानवों के गिरोह किसी स्थान विशेष के वासी न हुए थे और जब तक वे अपने आहार की खोज में फिरते थे। परन्तु जब पशुओं के पालने तथा उनके दूध एवं मांस पर जीवन व्यतीत करने के तरीके मानवों ने जान लिये तब इस बात की आवश्यकता हुई कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पशुओं के पालने, चराने और दुहने के लिए सहायक हों। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में उस संस्था का जन्म हुआ जिसे हम विवाह कहते हैं।

विवाह नर-नारी के उस सम्बन्ध का द्योतक है जिसके बल पर नर नारी से या नारी नर से अपनी काम पिपासा को शान्त करने का अधिकार रखती है, जिसके कारण वे नर-नारी साथ-साथ रहते हैं, जीवन-यापन में पारस्परिक एक दूसरे की सहायता करते हैं और अपने मैथुनीय सम्बन्ध से उत्पन्न अपनी सन्तान का लाल-पालन करते हैं। जैसा मैं कह चुका हूँ नर-नारी में मैथुनीय सम्बन्ध तो सर्वदा से रहा है, किन्तु वह सम्बन्ध केवल क्षणिक और शारीरिक होता था। उसमें एक दूसरे के साहचर्य का, सहयोग का प्रश्न पैदा न होता था। किन्तु एक युग ऐसा आया जब मैथुनीय सम्बन्ध के साथ-साथ ही नर-नारी साथ-साथ रहने, परस्पर एक दूसरे की सहायता, साहचर्य को भी आवश्यक और वांछनीय समझने लगे। पारस्परिक सहजीवन की यह आवश्यकता कब और क्यों प्रकट हुई इस सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मतभेद है। कुछ समाजशास्त्रियों का यह कथन है कि सन्तान-प्रेम के कारण यह आवश्यकता पैदा हुई। नारी के हृदय में प्रकृति ने सन्तान-प्रेम भर दिया है। वह अपनी

सन्तान के लालन-पालन के हेतु हर प्रकार के कष्ट सहती है, सहने को प्रस्तुत रहती है। अतः मातृत्व से प्रेरित होकर उसने उस नर के साथ रहने या उसे अपने साथ रखने का प्रयास आरम्भ किया जिससे उसका गर्भ ठहरा था। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि जब तक वर्ग मैथुन की प्रथा थी तब तक प्रत्येक बालक-बालिका के लालन-पालन का भार समस्त जाति के सिर पर होता था। चूँकि वह जाति अधिकतर भाई-बहनों से मिलकर बनती थी अतः बालक-बालिकाओं का लालन-पालन माताओं के अतिरिक्त मामाओं पर होता था। अतः उस युग में सन्तान के लालन-पालन में कोई कमी थी ऐसा नहीं प्रतीत होता। अन्य समाजशास्त्री यह मानते हैं कि जब वैयक्तिक सम्पत्ति का जन्म हुआ उस समय यह आवश्यकता हुई कि इस वैयक्तिक सम्पत्ति की देखभाल के लिए प्रत्येक व्यक्ति के स्थायी सहायक हों। ये स्थायी सहायक दो प्रकार के तो हो ही सकते थे। एक तो वे जो किसी नर या नारी से स्थायी मैथुनीय सम्बन्ध से बँधे हों दूसरे वे जो इस मैथुनीय सम्बन्ध से उत्पन्न किसी नर या नारी की सन्तान हों। अतः वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा के लिए प्रत्येक जाति में व्यक्तियों ने इन दो प्रकार के सहायकों को अपने पास एकत्रित करना आरम्भ किया। इसी कारण विवाह नामी प्रथा का जन्म हुआ। विवाह सम्बन्ध और कोरे मैथुनीय सम्बन्ध में भेद होने की बात मैं पहले कह चुका हूँ। यहाँ उस भेद के बारे में भी कह दूँ। मैथुनीय सम्बन्ध तो केवल नर-नारी का शारीरिक या लैंगिक सम्बन्ध है वह किसी भी नर का किसी नारी से हो सकता है तथा बहुधा होता है। जहाँ तक इस सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ तक मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु विवाह केवल मानवों में ही होता है पशुओं में नहीं। विवाह लैंगिक सम्बन्ध के अतिरिक्त मानसिक सम्बन्ध भी है। इसका आधार यह भावना भी है कि नर या नारी को अपनी काम-वासना की तृप्ति किसी से भी न कर लेनी चाहिए वरन् यथासाध्य जीवन पर्यन्त उसी या उन्हीं व्यक्तियों से करनी चाहिए जिनसे करने की उसने सब के सामने एक बार प्रतिज्ञा की है और जिनको उसने अपना पति या पत्नी मान लिया है। अर्थात् मैथुन में धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे का कोई प्रश्न नहीं उठता। विवाह मैथुन को धर्म अधर्म के सूत्र से बाँध देता है। इसके अतिरिक्त कोरे

मैथुनीय सम्बन्ध में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उस क्षणिक सम्बन्ध के पूर्व या पश्चात् वैसा सम्बन्ध करने वाले नर या नारी का पारस्परिक सहायता करने का भी कोई कर्त्तव्य है। जैसे ही वह सम्बन्ध समाप्त हुआ वैसे ही नर अपने रास्ते चला जाता है, नारी अपने। परन्तु विवाह में ऐसी बात नहीं है। यद्यपि विवाह में भी नर-नारी में मैथुनीय सम्बन्ध होता है, किन्तु साथ ही प्रत्येक क्षण नर और नारी दोनों में ही यह विचार बना रहता है कि उस सम्बन्ध के पूर्व और पश्चात् उन दोनों का यह कर्त्तव्य है कि वे एक दूसरे के सुख-दुःख में साथी रहें, सहायक रहें। कोरे मैथुन और विवाह में तीसरा भेद यह है कि कोरे मैथुनीय सम्बन्ध में यह विचार नहीं रहता कि उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान के लालन-पालन का भार किस पर या किसी पर भी है या नहीं। जहाँ तक नर का प्रश्न होता है वह तो बहुधा उस परिणाम से कुछ वास्ता नहीं रखता, नारी भी कभी-कभी उस परिणाम का गला घोंटती है, किन्तु विवाह में यह कर्त्तव्य निहित है कि उससे पैदा होने वाली संतान के लालन-पालन का भार नर-नारी दोनों पर ही है; उस कर्त्तव्य से दोनों में से कोई विमुख नहीं हो सकता। थोड़े शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मैथुन केवल प्राकृतिक व्यापार है जिसे नर-नारी क्षण भर के लिए मिलकर करते हैं, विवाह सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा न केवल नर-नारी के इस प्राकृतिक व्यापार का ही नियमन होता है वरन् उससे उत्पन्न सन्तान के लिए भी प्रबन्ध होता है।

किन्तु विवाह का यह शुद्ध स्वरूप उस युग में भी व्यक्त न हुआ जिसमें कि इसका जन्म हुआ। जैसा मैं कह चुका हूँ विवाह का जन्म संभवतः इस हेतु हुआ कि उसके आधार पर एक व्यक्ति के साथ अन्य व्यक्ति रह सकते थे और उस व्यक्ति की वैयक्तिक सम्पत्ति के रक्षण एवं वृद्धि में उसकी सहायता कर सकते थे। अतः उस युग में विवाह एक प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध था। जो हो, उस युग में बहुपत्नी और बहुपति विवाह की प्रथाएँ रहीं। ऐसी कुछ जातियाँ थीं जिनमें प्रत्येक नर कई नारियों से विवाह करता था और ऐसी भी जातियाँ थीं जिनमें प्रत्येक नारी कई नरों से विवाह करती थी।

पर विवाह की ये प्रथाएँ कालान्तर में आर्थिक दृष्टि से उतनी उपयोगी न

रहीं, जितनी कि वे पशु पालन के युग में थीं। ज्यों-ज्यों आर्थिक तंत्र विषम तथा जटिल होता गया, उसके सुचारु रूप से चलाने के लिए विशेष कला-कौशल की, योग्यता की आवश्यकता होने लगी, त्यों-त्यों यह संभव न रहा कि कोई व्यक्ति आर्थिक तंत्र का पूरा-पूरा लाभ अपनी पत्नियों, सन्तान या दास-दासियों के द्वारा ही उठा सके। उसे उन लोगों के श्रम की आवश्यकता पड़ने लगी जो अपने-अपने हुनर में पहुँचे हुए थे। अतः बहुत सी पत्नियों के रखने की वह आर्थिक उपयोगिता न रही जो पशु पालन या आरंभिक कृषि युग में थी। इस प्रकार बहुपत्नियाँ, बहुपति विवाह प्रथाओं का आर्थिक आधार टूट गया। शनैः शनैः ये प्रथाएँ लोगों को दोषपूर्ण दिखने लगीं और इनके स्थान में एक पत्नी तथा एक पति विवाह प्रथाओं का जन्म होने लगा। जहाँ भी मजूरी देकर मजूरों के रखने की प्रथा आरंभ हुई वहीं एक पति या एक पत्नी विवाह की प्रथा का भी विकास शुरू हुआ। यहाँ मैं यह कह दूं कि एक पत्नी या एक पति विवाह का अर्थ यह न था कि नर अनेक नारियों से मैथुन न करता था या एक नारी अनेक पुरुषों से मैथुन न करती थी। ऐसे अनेक देश हैं और ऐसी अनेक जातियाँ हैं जहाँ आज भी विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् भी नर अनेक नारियों से मैथुन करता है और वैसे ही नारी अनेक नरों से मैथुन करती है। अतः एक पत्नी विवाह का अर्थ नर-नारी के मैथुन को इतना सीमित करना नहीं है जितना कि यह आर्थिक आधार है कि एक ही समय एक व्यक्ति की यह आर्थिक शक्ति नहीं होती कि वह अनेक पत्नियों और उनकी सन्तान का सम्यक् भरण-पोषण कर सके। जब तक अनेक पत्नियाँ तथा उनकी सन्तान आर्थिक उत्पादन का भी साधन थीं तब तक अनेक पत्नियाँ रखना किसी के लिए भार होने के बजाय लाभदायक ही था। किन्तु जब ऐसा न रहा तब अनेक पत्नियाँ रखना सामन्तों के अतिरिक्त अन्यों के हेतु संभव न रहा। अतः एक पत्नी या एक पति विवाह की प्रथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई। यह भी स्मरण रहे कि इस प्रथा का प्राबल्य उन्हीं देशों और जातियों में अधिक हो सकता है जो प्रधानतः उद्योग-धन्धों में लगी हुई हैं। कृषि और पशु-पालन करने वाली जातियों में बहु पत्नी या बहु पति विवाह की प्रथाएँ आज भी पायी जाती हैं।

साथ ही जैसे-जैसे विवाह का आर्थिक आधार जर्जरित होता गया वैसे-वैसे विवाह के सम्बन्ध में यह विचार बढ़ता गया कि वह तो इन्द्रिय भोग का साधन है। इस विचार को इस बात से भी बल मिला कि समाज में कुछ ऐसे लोग थे जिन्हें अपने जीवन-यापन के लिए स्वयं किसी प्रकार का परिश्रम करने की आवश्यकता न थी। ये लोग अपने धन के बल पर अनेक दास-दासियाँ रखते थे और स्वयं अपना सारा समय तथा शक्ति विलास एवं आमोद-प्रमोद में व्यतीत करते थे। उनके लिए विवाह भी विलास का एक साधन ही हो गया। अतः यह स्वाभाविक ही था कि यह विचार पैदा हो कि विवाह केवल ऐसा सम्बन्ध है जो किसी नर-नारी विशेष की भोग-साधना के हेतु किया जाता है। इस विचार के प्रबल होने पर युवक-युवतियों द्वारा यह माँग की जाने लगी कि अपना विवाह वे स्वयं अपनी इच्छा से करें और उसके निश्चित करने में उनके माता-पिता का हाथ न हो। इससे पूर्व युवक-युवतियों का विवाह उनके माता-पिता या अन्य नातेदारों द्वारा ही तय किया जाता था। विवाह करने वाली दम्पत्ति की इच्छा अनिच्छा जानने का कोई प्रश्न ही न होता था। किन्तु जब यूरोपीय उद्योगवाद और पूँजीवाद का उदय अठारहवीं शताब्दी में हुआ तब वहाँ यह प्रश्न भी उठने लगा।

आजकल तो यूरोपीय संस्कृति से प्रभावित देशों में एक नये प्रकार के विवाह की बात जोर-शोर से फैलायी जा रही है। कहा जाता है कि विवाह तो युवक-युवती के पारस्परिक लैंगिक सम्बन्ध के लिए है। अतः इससे पूर्व कि यह व्यवस्था की जाये कि वे आपस में वैवाहिक बंधन में बँधेंगे उन्हें परस्पर कुछ दिनों साथ रहकर और मैथुन करके यह देख लेना चाहिए कि उनका मानसिक और शारीरिक मेल ठीक बैठ सकता है या नहीं। इस साहचर्य्य विवाह (कम्पेनियनेट मैरिज) का आदर्श आज पाश्चात्य देशों में किन्हीं विचारकों द्वारा फैलाया जा रहा है।

विवाह के विकास के इस संक्षिप्त वर्णन से यह बात भली भाँति प्रकट हो जाती है कि विवाह का जन्म और विकास व्यक्ति के अपने निजी मन और इच्छाओं के आधार पर न होकर सामाजिक जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के कारण हुआ है। अतः यह कथन कि विवाह तो केवल नर-नारी की निजी

इच्छा पर ही निर्भर करता है, उनमें समाज का कोई दखल नहीं होना चाहिए, सरासर भ्रममूलक है ।

मेरा जन्म हिन्दू समाज में हुआ था । अतः मेरा विवाह भी उन्हीं आदर्शों और परम्पराओं के अनुकूल हुआ, जो हिन्दू समाज में अनेक सहस्राब्दियों से प्रचलित हो गयी थीं । विवाह ही क्यों, मेरे आरंभिक जीवन के कूल भी उन्हीं परम्पराओं के अनुरूप ही निर्मित हुए थे । अतः विवाह सम्बन्धी इन परम्पराओं में छिपी मान्यताओं के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कह देना अनुचित न होगा ।

हिन्दू सामाजिक परम्पराओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कुछ ऊपरी भेदों के बावजूद ये सारे देश में लगभग एक समान ही हैं । भारत की ऐतिहासिक एकता की जो हम बात कहते हैं वह भी समस्त देश में इसी सामाजिक एकरूपता का ही दूसरा नाम है । अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि इन परम्पराओं के आधारतल में जो मान्यताएँ हैं वे ही भारतीय सामाजिक जीवन के आदर्श हैं । इन मान्यताओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि पार्थिव जीवन स्वयं ध्येय न होकर ऐसा साधन है जिसके द्वारा जीव अपने सच्चे स्वरूप को पहचानने में समर्थ हो सकता है । यह ठीक है कि भारत में ऐसे विचारक भी हुए हैं जिनका यह मत था कि पार्थिव जीवन ही सब कुछ है और इसी वजह से जो यह उपदेश देते थे कि जब तक जीयें सुख से जीयें ऋण लेकर छककर घी पीयें । किन्तु ऐसे विचारकों का भारतीय सामाजिक परम्परा तथा सामाजिक गठन पर कोई विशिष्ट प्रभाव न पड़ा । हो सकता है कि यत्र-तत्र इने-गिने नर-नारियों पर इन लोगों के विचारों का प्रभाव पड़ा हो । किन्तु ये इने-गिने लोग भी उसी सामाजिक तन्त्र के सदस्य रहे, उसी के सूत्रों से बँधे रहे । इसलिए इस भौतिक सुख के सिद्धान्त को मानते रहने पर भी उन मान्यताओं से मुक्त न हो पाये जिन पर भारतीय सामाजिक तन्त्र का ढाँचा ठहरा हुआ है । अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह उन्होंने उन्हीं सामाजिक नियमों के अनुसार किया जिनके अनुसार उनके अन्य भाई-बहन करते थे । खानपान के सम्बन्ध में भी वे इन नियमों से बहुत कुछ बँधे रहे । अतः इन विचारकों के सिद्धान्तों तथा उपदेशों को मैं अपवाद ही मानता हूँ और समझता हूँ कि वे भारतीय सामाजिक शरीर में कुछ क्षणिक एवं नगण्य विकार मात्र ही थे ।

इस कारण भारतीय सामाजिक आदर्शों के सम्बन्ध में मैं उनको गिनती में नहीं लेता। परन्तु यह मान्यता कि पार्थिव जीवन जीव के आत्मदर्शन का साधन मात्र है, हिमाचल से लेकर कुमारी उपद्वीप तक तथा पांचाल से लेकर कामरूप तक भारतीय सामाजिक तंत्र का आधार सहस्राब्दियों से रहा है। अतः सब भारतीय सामाजिक संस्थाएँ—और विवाह भी उनमें से एक है—उसी आदर्श के साधन मात्र हैं। भारतीय सामाजिक तंत्र के तल में दूसरी मान्यता यह है कि समस्त विश्व के हृदय में जो चेतना व्याप्त है और जिस चेतना के कारण ही अनेक रूपवाला होते हुए भी विश्व तत्वतः एक है, उसी चेतना का एक व्यक्त रूप नर है, दूसरा रूप है नारी। इस मान्यता को हमारे शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार की उपमाओं से व्यक्त किया है। इसी मान्यता के कारण हमारे यहाँ अर्धनारीश्वर की कल्पना हुई। ईश्वर और माया का विचार फैला। सच तो यह है कि हमारे मनीषियों एवं ज्ञानियों दोनों ने ही परम सत्य को नर-नारी के संयुक्त रूप में ही माना और जाना है। यही कारण है कि हमारे यहाँ भगवान का नाम संयुक्त होता है। हम केवल राम या कृष्ण न भजकर सीता-राम और राधाकृष्ण भजते हैं। इसी कारण महाकवि तुलसीदास ने कहा कि "सियाराममय सब जग जाना"। अतः हिन्दू समाज में यह विधान अनेक सहस्राब्दियों से चला आ रहा है कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान या सामाजिक कृत्य केवल पुरुष या केवल स्त्री द्वारा ही पूरा नहीं किया जा सकता। उसके उचित रूप से सम्पादन के हेतु उसके करने में एक ही समय नर-नारी दोनों संयुक्त रहने चाहिएँ। इस विधान के कारण भगवान राम को अपने अश्वमेघ यज्ञ के सम्पादन को भगवती सीता की स्वर्ण प्रतिमा रखनी पड़ी थी, क्योंकि उस समय सजीव सीता उनके पास न थीं। यह ठीक है कि पिछली शताब्दियों में यह सत्य हमारे लोगों की आँखों के सामने कुछ धुंधला-सा हो गया था। किन्तु चाहे वे इस बात को न भी जानते रहे हों, पर अपने प्रत्येक अनुष्ठान में हमारे यहाँ के नरों को नारी को साथ लेना ही पड़ता था। दूसरे शब्दों में हमारे यहाँ यह मान्यता थी कि धर्म और संस्कारों की दृष्टि से स्वयं नर या स्वयं नारी अपूर्ण हैं, पंगु हैं, अनधिकारी हैं और वे तभी पूर्ण हो सकते हैं, धर्म कृत्यों के अधिकारी हो सकते हैं, जब वे एक दूसरे से बँध गये हों, एक दूसरे के हो गये

हों। अतः विवाह एक प्रकार से इस चरम सत्य के पहचानने का साधन था। इसी वजह से वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य भी था।

साथ ही हिन्दुओं में यह विचार भी था कि नर-नारी का यह सम्बन्ध अटूट है, यह अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। यह ठीक है कि अनेक जन्म-जन्मांतर में नर विभिन्न रूप धारण करता है, इन विभिन्न रूपों में अपनी अमर प्रेयसी को भी विभिन्न रूपों में पाता है, किन्तु प्रेम का यह सूत्र अटूट है, आदि अन्तहीन है। सत्यवान-सावित्री के कथानक में इस मान्यता ने सजीव रूप धारण कर लिया है। आज भी रवि बाबू के लगभग सभी उपन्यासों में नर-नारी के इसी अमर तथा अटूट सम्बन्ध की झलक मिलती है। हमारे साहित्य में इसी अटूट सम्बन्ध के अनेक कथानक भरे पड़े हैं। सच तो यह है कि कथा-गाथाओं की प्रथा के कारण यह मान्यता हमारे देश के नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में फैल गयी, अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति भी नर-नारी के इस अटूट सम्बन्ध की बात जानता और मानता है। यह ठीक है कि हमारे देश में इस महान् आदर्श का पालन करने में हममें से अनेक समर्थ नहीं हुए हैं, अपनी पशु-प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर इससे पतित हो गये हैं, किन्तु विवाह के सम्बन्ध में यह मान्यता, यह आदर्श हमारे देश के सामने सर्वदा रहा है।

अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि विवाह के सम्बन्ध में हमारे समाज में यह विचार फैला हुआ था कि यह तो विधि के विधान के अनुसार होता है, इसमें किसी व्यक्ति का वश नहीं। यह ठीक है कि उन दिनों यह बात कि किस नर का किस नारी से विवाह सम्बन्ध हो उस नर या नारी के पितृव्यों द्वारा ही तय की जाती थी, किन्तु इस काम में वे अपने को केवल निमित्त मात्र ही मानते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उस नर के लिए नारी तो विधाता ने स्वयं निश्चित कर दी है। जब जन्म-जन्मान्तर से ही यह सम्बन्ध निश्चित चला आ रहा है तो उसमें तर्क करके कोई क्या परिवर्तन कर सकता है। पुरातन काल में इस अटूट और अमर सम्बन्ध का आभास इस बात से मिलता था कि नर-नारी दोनों के ही मन में साथ ही एक दूसरे के प्रति प्रेम की उत्पत्ति हो। सावित्री-सत्यवान के आख्यान में इसी बात को दर्शाया गया है, किन्तु जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूँ उन दिनों इस सम्बन्ध के आभास पाने का

काम ज्योतिषियों पर छोड़ दिया गया था। वे ही ग्रह, नक्षत्र देखकर यह तय करते थे कि किस नर का किस नारी से यह अटूट सम्बन्ध विधि ने निश्चित किया है। अतः उन दिनों यह आवश्यक न रहा था कि जिनका विवाह हो उनके एक दूसरे के प्रति मन की भावना को जानकर ही उनका विवाह तय किया जाये। जिन परिस्थितियों में होकर हिन्दू समाज गुजरा था, जिन परिस्थितियों में वह उस समय था उनसे यह संभव भी न रह गया था कि इस अटूट सम्बन्ध का आभास पाने के लिए वह पुरातन प्रथा बनी रहे। साथ ही यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि वह पुरातन प्रथा आजकल की प्रेम-प्रथा से सर्वथा भिन्न थी। पुरातन प्रथा का आधार यह दृढ़ विश्वास था कि एक नर के लिए विधि ने एक विशिष्ट नारी ही रची है और जन्म-जन्मान्तर में वही नर-नारी प्रेम-सूत्र में बँधते हैं। अतः पुरुष स्त्री दोनों ही अपने सामने यह आदर्श रखते थे कि वे एक क्षण के लिए भी पर-पुरुष या पर-स्त्री को देखकर मोहित न हों। इतना ही नहीं, उनका यह विश्वास भी था कि जो अपने धर्म में स्थिर हैं, जो सत्यव्रती हैं, उनका मन पर-पुरुष या पर-स्त्री को देखकर विचलित हो ही नहीं सकता अतः उस युग में किसी नर या नारी के लिए यह बात धर्म न समझी जाती थी कि वह एक से प्रेम करने के पश्चात् किसी दूसरे से प्रेम करे। उन दिनों यही मत था कि प्रेम केवल एक बार और केवल एक से ही हो सकता है, वह एक जन्म के लिए ही नहीं वरन् जन्म-जन्मान्तर के लिए होता है, किन्तु आज का प्रेम तो दीवाना है, वह तो क्षण-क्षण बदलता है, कभी-कभी तो उसमें इतनी द्रुत गति से परिवर्तन होता है कि सुबह विवाह होता है, संध्याकाल में तलाक हो जाता है। आज के प्रेम का यह रूप तो होना ही है, क्योंकि उसके आधार तल में यह विश्वास है ही नहीं कि नर विशेष का नारी विशेष से अमर तथा अटूट सम्बन्ध है। इसके विपरीत आज तो तलाक विवाह का एक निश्चित अंग माना जाता है और विवाह दो व्यक्तियों की इन्द्रिय तृप्ति का एक साधन समझा जाता है। अतः सावित्री सत्यवान के प्रेम की दुहाई देकर आजकल के प्रेम को अच्छा तथा मान्य ठहराना सर्वथा निन्दनीय है।

जिन दिनों मेरे विवाह का प्रश्न उठा उन दिनों हमारे समाज में यह प्रथा

थी कि कम उम्र में ही विवाह कर देना चाहिए। यह प्रथा क्यों पैदा हुई इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अभी विश्लेषण नहीं किया गया है। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इसकी उत्पत्ति संयुक्त पारिवारिक पद्धति की आवश्यकताओं के कारण हुई। संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के अनेक नर-नारी साथ रहते हैं, साथ-खाते पीते हैं, साथ काम करते हैं। इनमें से कुछ तो वृद्ध होते हैं, कुछ युवा और कुछ बालक। इन सब के साथ तालमेल रखकर जीवन-यापन करने के हेतु यह आवश्यक है कि व्यक्ति विशेष उन सब के स्वभाव एवं प्रवृत्तियों से पूर्णतः परिचित हो और उनसे उसका जीवन इतना बिंध गया हो कि वह उन सब को अपना ही समझे और वे भी उसे अपना ही मानें। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, इनसे इतना हिल-मिल जाने के लिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति विशेष संयुक्त परिवार में उस समय सम्मिलित हो जाये जब कि उसका मन निर्माणावस्था में ही हो। मानव-जीवन का यह नियम सा है कि लगभग सभी मानवों को मानसिक चेतना एक अवस्था के पश्चात् इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि तत्पश्चात् उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना या उसका किसी अन्य चेतना से समन्वय करना संभव नहीं रहता। केवल बालकपन में ही मानसिक चेतना ऐसी दशा में रहती है कि उसको चाहे जैसा गढ़ लिया जा सकता है। संयुक्त परिवार में तो व्यक्ति विशेष की मानव-चेतना को परिवार के अनुकूल गढ़ने की अनिवार्यता रहती है और केवल बालकों की ही चेतना इस प्रकार गढ़े जाने के योग्य होती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि विवाह द्वारा अन्य परिवार से आने वाली नारी बाल्यावस्था में ही परिवार का अंग बन जाय। अतः यह बहुत संभव है कि संयुक्त परिवार की उस मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के हेतु हमारे देश में बाल्य विवाह की प्रथा का जन्म हुआ। संयुक्त परिवार की एक दूसरी आवश्यकता से भी इस प्रथा के विकास की संभावना है। मैं कह चुका हूँ कि संयुक्त परिवार में अनेक नर-नारी साथ-साथ रहते हैं। इनमें से अनेक युवा-युवती होते हैं। यह ठीक है कि ये सब नर-नारी एक दूसरे के ऐसे निकट सम्बन्धी होते हैं जिनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु उन नर-नारियों में भी मैथुन हो जाता है जिनका एक दूसरे से मैथुन करना सर्वथा

वर्जित है। अतः जहाँ उठती जवानी वाले अनेक युवक-युवतियाँ अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में रहती हों वहाँ यह बड़ी सम्भाव्यता रहती है कि उनमें परस्पर मैथुनीय सम्बन्ध अनायास ही स्थापित हो जाय। इस प्रकार की मैथुनीय विश्रृंखलता से बचने का एक साधन यह है कि पूर्णतः युवा-युवती होने से पूर्व ही इन लोगों का विवाह कर दिया जाय जिससे यथासमय वे अपने विवाहित साथी से ही मैथुन करें। इस कारण भी यह कुछ आवश्यक-सा था कि बाल्य विवाह प्रथा का विकास हो।

आजकल बाल्य विवाह को बहुत बुरा समझा जाता है। किन्तु इस विचार के पीछे यह मान्यता है कि विवाह नर-नारी के मैथुनीय सम्बन्ध का ही दूसर नाम है। चूँकि कच्ची आयु में मैथुन करने से पति पत्नी के अपने-अपने शरीर पर तो हानिकर प्रभाव पड़ता ही है साथ ही ऐसे मैथुन से उत्पन्न होने वाले बालक भी हृष्ट-पुष्ट नहीं होते, इसलिए ऐसा मैथुन हानिकर तो होगा ही। किन्तु जैसा मैं कह चुका हूँ भारतीय विवाह के सम्बन्ध में यह मान्यता निराधार है। भारतीय विवाह उन दिनों नर-नारी के मैथुन का ही दूसरा नाम न था। इसके विपरीत विवाह होने पर भी मैथुन आरम्भ होने का प्रश्न वर्षों तक न उठता था। सच बात तो यह है कि उन दिनों बाल्य विवाह का केवल यही परिणाम होता था कि भावी वधू संयुक्त परिवार में आ जाती थी, उसके सदस्यों में हिलमिल जा सकती थी। जहाँ तक मैथुन का प्रश्न था वहाँ तक संयुक्त परिवार के वयोवृद्धों का इतना कठोर नियंत्रण होता था कि पति-पत्नी के लिए कच्ची आयु में मैथुन आरम्भ करने का प्रश्न ही पैदा न होता था। मुझे स्वयं इसका अनुभव है। यदि ऐसी बात न होती, यदि सत्य में ही बाल्य विवाह का अर्थ बाल्यावस्था में मैथुन होता तो भारतीय जाति का अस्तित्व अब तक कभी का मिट गया होता। हमारे यहाँ बाल्य विवाह की प्रथा काफी पुरानी है। इतने वर्षों में तो हमारे देश के नर-नारियों में इतना शारीरिक ह्रास हो गया होता कि वे थोड़ी उम्र में ही समाप्त हो जाया करते। किन्तु आज सहस्राब्दियों पश्चात् भी भारतीय जाति का अस्तित्व बना हुआ है। यदि आज हमारी औसत आयु अन्य देशों की अपेक्षा कम है तो उसका कारण बाल्य विवाह न होकर हमारे देश का दारिद्रय और उससे उत्पन्न अन्य दोष हैं। आजकल कुछ यह

ध्रुव सत्य समझा जाने लगा है कि प्रौढ़ आयु में विवाह किया जाये। किन्तु यदि प्रौढ़ आयु तक नर-नारी अपनी काम-वासना को पूर्णतः वश में रखने में सफल हो सकते तब तो इस विचार में कुछ तथ्य होता। वास्तविकता तो यह है कि कामाग्नि तो एक विशिष्ट अवस्था से भड़कने लग जाती है। अतः चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही युवक-युवती मैथुन करने के योग्य हो जाते हैं। क्या भारत क्या पृथ्वी के अन्य देशों में इस अवस्था में अनेक युवक-युवती विवाह किये बिना भी परस्पर मैथुन करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त लड़कों और लड़कियों में अनेक ऐसे अप्राकृतिक दोष पैदा हो जाते हैं जो पूर्णतः अहित-कर होते हैं। अतः केवल यह दुहाई देकर कि बाल्य मैथुन के अहितकर परिणामों से बचने के लिए विवाह करने की आयु काफी बड़ी करदी जाय ऐसी बात है जो सर्वथा ठीक नहीं है। चाहे बाल्य विवाह हो और चाहे बाल्य विवाह न हो, बाल्य मैथुन तो उन परिस्थितियों में होगा ही जिनमें जीवन भोग माना जाता है। उसके अहितकर परिणाम भी होंगे ही। इसके अतिरिक्त इस बात को भी न भूलना चाहिए कि भोग के इस आदर्श के वातावरण में ज्यादा बड़ी उम्र में विवाह लगभग मैथुन का ही दूसरा नाम हो जाता है। विवाह में जो साहचर्य्य है, जो सहयोग भावना है, जो सौहार्द है, वह तो उस समय आँख में इतना गड़ता नहीं, इसके विपरीत पति-पत्नी मैथुन में इतने ग़र्क हो जाते हैं कि उन्हें दीन-दुनिया का होश नहीं रहता। इस अति का परिणाम यह होता है कि पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण बहुत कुछ क्षीण हो जाता है और बहुधा वे एक दूसरे के लिए भार रूप हो जाते हैं। कम से कम बाल्य विवाह में मैथुन की अति न तो होती है और न हो सकती है। अतः उसमें यह संभाव्यता रहती है कि पति-पत्नी एक दूसरे के व्यक्तित्व के और पहलुओं को भी पहचानें और उनमें साहचर्य्य-भावना बढ़े। इस सब कथन का यह अर्थ नहीं है कि मैं आज बाल्य विवाह का पुनरुद्धार चाहता हूँ। मेरा प्रयोजन तो केवल यही दिखाना है कि बाल्य विवाह में स्वयं वैसे दोष नहीं हैं जैसे उसके सिर मढ़े जाते हैं। वे दोष बाल्य मैथुन में हैं। अतः उन दोषों को दूर करने के लिए अत्यन्त प्रभाव-शाली साधन यही है कि हम ब्रह्मचर्य का वह आदर्श पुनः जीवित करें जो हमारे देश के मनीषियों ने हमारे हेतु अतीत में रखा था। ब्रह्मचर्य आदर्श के

पीछे यह मान्यता है कि जीवन भोग के लिए नहीं वरन् आत्म-दर्शन के लिए है, जगत् में बसने वाले अमर सत्य से अपना तादात्म्य करने में है। मेरा यह विश्वास है कि जब तक जीवन का चरम सत्य केवल पार्थिव भोग ही समझा जाता रहेगा तब तक अवांछनीय मैथुन को हम समाज से न मिटा सकेंगे। इसे मिटाने के लिए हमें व्यक्ति को इस आदर्श से प्रेरित करना पड़ेगा कि जीवन की चरम सार्थकता सत्य की खोज में है, दूसरों के आँसुओं को पोंछने में है, दूसरे के अभाव को दूर करने में है और पृथ्वी से सब प्रकार का दुःख-दारिद्रय मिटा देने में है—इसी आदर्श की पूर्ति के लिए अपनी सारी शक्ति तथा समय लगा देने में है। दूसरे शब्दों में जीवन की सार्थकता विश्वात्मा से अपने तादात्म्य में है। इसी आदर्श को हमारे मनीषियों ने हमारी जाति के सामने रखा था। उसी की साधना के लिए मानव-जीवन को चार आश्रमों में बाँटा था। मेरा अपना विचार है कि वह आश्रम-व्यवस्था इस आदर्श के प्रसार के लिए, इस आदर्श को व्यक्ति के जीवन की प्रेरणा शक्ति बनाने के लिए आवश्यक है। इसलिए नर-नारी के सम्बन्ध को उचित आधार पर स्थापित करने को ब्रह्मचर्याश्रम की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि वही बाल्य मैथुन का अन्त कर सकता है और विवाह के प्रति लोगों में यह भावना पैदा कर सकता है कि यह हमारा ऐसा कर्तव्य है जिसे हमें आत्म-दर्शन के लिए पूरा करना है।

अपनी पतित अवस्था में भी भारतीय विवाह में यह आदर्श आज तक कुछ-कुछ बना हुआ है। इसी कारण भारतीय विवाह अभी उतना विशृंखल नहीं हो गया है जैसा कि वह अन्यत्र हो गया है। यद्यपि पुराने प्रकार के भारतीय विवाह और पाश्चात्य विवाह के सम्बन्ध में इस दृष्टि से आँकड़े इकट्ठे नहीं किये गये हैं कि वे कहाँ तक स्थायी और सुखकर होते हैं तथापि इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय विवाह में जितनी माधुरी और शान्ति पायी जाती है उतनी पाश्चात्य विवाहों में नहीं। भारतीय विवाह में आत्म-समर्पण की भावना निहित है क्योंकि बाल्यकाल से ही भारतीय के सामने यह आदर्श रखा जाता है कि जीवन की चरम सार्थकता अपने अहं को फुलाने में नहीं है वरन् उसे विश्वात्मा में लीन कर देने में है। अतः भारतीय विवाह में आत्म-समर्पण द्वारा पति-पत्नी एक दूसरे से इतने हिलमिल जाते हैं कि उनमें अन्तर रहता ही

नहीं। यह आत्म-समर्पण क्षणिक मोह के कारण नहीं वरन् स्थायी कर्त्तव्य-भावना के कारण होता है। इसके विपरीत पाश्चात्य विवाह में आत्म-समर्पण आदर्श न होकर क्षणिक आवेग का परिणाम ही होता है; न तो पति और न पत्नी अपने व्यक्तित्व से पैदा हुई खाई को भूल पाता है, जिसका फल यह होता है कि गाढ़ आलिंगन में भी पति और पत्नी में मानसिक खाई बनी रहती है और अहम्मन्यता की दीवार उन्हें एक दूसरे से अलग रखती है। यह ठीक है कि यह खाई सर्वथा नहीं पाटी जा सकती, किन्तु तो भी इसको इतना कम तो किया जा सकता ही है कि वह नगण्य हो जाय। भारतीय आत्म-समर्पण के आदर्श से ऐसा करना सम्भव है, किन्तु पाश्चात्य अहम्मन्यता के आदर्श द्वारा ऐसा करना संभव नहीं है। इसी बात को पूज्य बापू ने अपने चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया था। जब वे गोलमेज सम्मेलन के लिए इंगलैंड गये थे तब उन से किसी ने यह पूछा था कि भारतीय विवाह इतनी संख्या में क्यों सफल होते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि "इसका मुख्य कारण यही है कि जहाँ आप लोग उससे विवाह करते हैं जिसे आप प्यार करते हैं वहाँ भारतीय उसे प्यार करते हैं जिससे वे विवाह करते हैं।"

इससे अधिक सुन्दर शब्दों में भारतीय विवाह की परिभाषा नहीं की जा सकती। बापू ने अपने इस उत्तर से स्पष्ट कर दिया कि भारतीय विवाह उस कर्त्तव्य का श्रीगणेश करता है जो नर या नारी पर इस नाते है कि वह मानव-योनि का प्राणी है अर्थात् अपने अहं के संकुचित दायरे के बाहर जाकर अपने को अन्य प्राणियों में लीन कर देना और इस प्रकार अपने सच्चे रूप को पहचान लेना।

इसी कर्त्तव्य-पथ का पथिक मैं अपने बाल्यकाल में ही बना दिया गया।

मेरी सगाई राजस्थान के जयपुर राज्य में शेखावाटी नामक इलाके के सीकर नगर में रहनेवाले सीकर के जागीरदार राव राजाजी के पोद्दार लक्ष्मीनारायण जी बीयाणी की पुत्री गोदावरी देवी से उस समय हो गयी थी जब हम दोनों को ही पूरा होश नहीं था। जयपुर में मेरे पितामह का विवाह हुआ था और जयपुर रियासत में उनका बहुत बड़ा लेन-देन एवं कारबार था। जयपुर में उनका एक अच्छा मकान था। जयपुर नरेश के दरबार में उनका काफी सम्मान

था। वे वहाँ के ताजीमी सरदारों में एक थे। जयपुर नरेश के सिवा भी मेरे पितामह का उस समय के अनेक राजा-महाराजाओं से सम्बन्ध था जैसे बड़ौदा, मैसूर, ग्वालियर, इन्दौर, रीवाँ, त्रावणकोर, कोचीन, कपूरथला, नेपाल, जोधपुर, जयसलमेर आदि। इनमें से कई उस समय नर्मदा स्नान के लिए जबलपुर आते और मेरे पितामह के ही मेहमान होते थे।

जैसा ऊपर कहा गया है मेरे विवाह के समय भारतवर्ष में बाल-विवाह की पद्धति थी, मारवाड़ियों में तो सबसे अधिक और सगाई-ब्याह घर के बड़े-बूढ़े ही करते थे। मेरी सगाई भी मेरे पितामह ने ही की थी। उनकी अवस्था अब ७० वर्ष के निकट होने के कारण मेरी १२ वर्ष की अवस्था में ही विवाह का मुहूर्त भी निकलवा लिया गया। यह मुहूर्त विवाह के कोई एक वर्ष पहले निकला, क्योंकि विवाह की तैयारी जो होनी थी।

उस समय इस देश के सभी समुदायों में विवाह में बड़ी धूमधाम होती थी, मारवाड़ियों में तो सबसे अधिक। फिर यह विवाह तो उस समय के मारवाड़ियों के सबसे बड़े व्यक्ति के एकमात्र पौत्र का था अतः धूमधाम में कोई कोर-कसर कैसे रहती। एक वर्ष पहले से विवाह की तैयारी आरम्भ हुई। जबलपुर में, जबलपुर से सीकर तक मार्ग में और सीकर में। सीकर पर्यन्त उस समय रेल न थी। रींगस नामक स्टेशन से सीकर १८ कोस रह जाता था और यह रास्ता था रेगिस्तान का। अतः जबलपुर से रींगस तक के रेल के रास्ते के प्रबन्ध में जितनी सावधानी की आवश्यकता थी उससे कहीं अधिक सावधानी की आवश्यकता थी रींगस से सीकर तक के रास्ते में। जबलपुर में राजा गोकुलदास महल और जहाँ विवाह के भोज इत्यादि होनेवाले थे उस गोपाल बाग की सफाई, पुताई, रंग इत्यादि में महीनों लगे। बारात, कोई तीन हजार आदमी, जबलपुर से सीकर तीन स्पेशल ट्रेनों से जानेवाली थी। ये स्पेशल ट्रेनें एक दिन इलाहाबाद और एक दिन दिल्ली ठहरकर तीसरे दिन रींगस पहुँचनेवाली थीं। अतः इन दोनों स्थानों पर तीन-तीन हजार आदमियों के ठहरने के कैम्प बने, क्योंकि इतने आदमियों का किसी एक धर्मशाला या मकान में ठहरना तो सम्भव न था और अलग-अलग बाराती ठहराये जायँ तो बारात का आनन्द ही क्या रह जाय। रींगस से सीकर पहुँचने में भी इतनी

बड़ी बारात को दो दिन लगते थे। रींगस से चलकर रानोली और रानोली से सीकर के निकट देवीपुरा। तीसरे दिन सबेरे देवीपुरा से सीकर को बारात सजनेवाली थी। अतः रींगस, रानोली और देवीपुरा में भी कैम्प बनवाये गये। इसके पश्चात् सीकर का नम्बर था। वहाँ ठहरने का कैम्प बना और जहाँ महफिलें होनेवाली थीं (उस समय, विवाह की जो दो प्रधान बातें रहती थीं, भोजन और महफिल, उन दोनों में भी महफिल का स्थान ऊँचा था) वह सभा-मण्डप था। बारात ठहरने के कैम्प तो सादे थे, पर यह सभामण्डप ? यह सभामण्डप कोई सादा दरबारी टैण्ट या सार्वजनिक सभा का पण्डाल न था, वह था विवाह का सभामण्डप, सारे आरायशी के सामानों से सुसज्जित। इसमें कोई पाँच हजार आदमियों के बैठने का स्थान था।

विवाह की तिथि के कोई डेढ़ महीने पहले जबलपुर में विवाह के नेग-दस्तूर आरम्भ हुए; इनमें प्रधान थीं बिनौरियाँ। बिनौरियाँ उन दावतों का नाम है जिनमें संध्या को भोज होता है और भोज के बाद जुलूस निकलता है। हर दिन दावत होती और दावत होने के बाद रात को जुलूस घूमता। इन जुलूसों में आतिशबाजियाँ चलतीं और वेश्याओं का नाच होता। हजारों नर-नारियों की भीड़ होती। कभी-कभी आतिशबाजी और अत्यधिक भीड़ के कारण दुर्घटनाएँ भी घटित हो जातीं।

बारात की रवानगी के पहले एक स्पेशल में कोई नब्बे घोड़े और नाना प्रकार का सामान सीकर रवाना हुआ और इसके बाद तीन स्पेशल ट्रेनों से लगभग तीन हजार आदमियों की बारात। सुना यह गया कि रुपये को पानी की तरह बहाकर प्रबन्ध ऐसा किया गया था कि रास्ते में कोई कष्ट न हो। फिर फागुन का महीना था अतः मौसम की भी इस सुप्रबन्ध में सहायता रही।

कहा जाता है कि सीकर में जैसी यह बारात सजी वैसी न उसके पहले कोई सजी थी न उसके बाद अब तक। मेरे पितामह का सम्बन्ध राजस्थान के सभी मुख्य-मुख्य राजा-महाराजाओं से था अतः जबलपुर के घोड़ों और सामान के अतिरिक्त उनके हाथी, घोड़े, ऊँट, पालकी, तामझाम, आदि सारे सामान का इस बारात में उपयोग हुआ था।

बारात एक हफ्ते सीकर ठहरी। दावतों में कितना खिलाया गया और कितनी

जूठन पड़ी ? महफिलों में नाच और गाने के लिए सारे भारतवर्ष की उस समय की प्रसिद्ध गायिकाएँ, गौहर, मल्का, जोहरा, हुस्ना, अच्छन, विद्याधरी आदि न जाने कितनी इकट्ठी हुई थीं। रोज शाम को ६ बजे से प्रातःकाल ६ बजे भैरवी होने तक महफिलें चलतीं। कितना मद्यपान होता इन महफिलों में !

लौटते समय जब मैंने अपनी बालिका वधू को अच्छी तरह देखा, तब मेरी आँखें आँसुओं से भर गयीं। साँवले रंग की साधारण से साधारण दुबली-पतली बेपढ़ी-लिखी गँवार-सी एक लड़की। मैं सुन्दर माना जाता था, शायद था भी। मेरे घर में इतना धन था। मैं सोचने लगा कि क्या मुझे ऐसी ही पत्नी मिल सकती थी ? विवाह के सम्बन्ध में भारतीय आदर्शों का जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, मुझे उस समय कोई ज्ञान न था।

विवाह के एक वर्ष पहले मेरा यज्ञोपवीत भी करवा दिया गया था। यद्यपि यज्ञोपवीत में कोई विशेष धूमधाम नहीं हुई थी, पर वह शास्त्र की सम्पूर्ण विधि के अनुसार हुआ था। मेरे पितामह का इस बात पर बड़ा ध्यान था कि मेरे सोलहों संस्कार विधिपूर्वक हों। यज्ञोपवीत के पहले के भी मेरे सारे संस्कार हो चुके थे।

यज्ञोपवीत के होते ही एक बात और भी हुई थी। जिस दिन मेरा यज्ञोपवीत हुआ उसी दिन से मुझसे त्रिकाल संध्योपासन आरम्भ कराया गया था। एक पण्डित इस काम के लिए नियुक्त हुए थे। कुछ दिन में मुझे संध्या के सारे मन्त्र कंठस्थ हो गये। यज्ञोपवीत के दिन से आज तक मेरी त्रिकाल संध्या चलती रही है। आगे चलकर मैं वर्षों जेलों में रहा, कई बार विदेश भी गया, कुछ समय तक इन मामलों में संशयात्मा भी हुआ, पर मेरी संध्या, पूजा, पाठ, कभी नहीं छूटे।

पितामह की मृत्यु

दार्शनिक कई प्रकार के हैं, परन्तु उनके दो मोटे विभाजन किये जा सकते हैं—एक ईश्वरवादी और दूसरे निरीश्वरवादी। ईश्वरवादी दार्शनिकों और निरीश्वरवादी दार्शनिकों दोनों के ही कई विभाग हो सकते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों की दृष्टि में यह सारी सृष्टि ईश्वरमय है और यद्यपि इसका मूल रूप एक ईश्वर चैतन्य तत्त्व ही है तथापि ईश्वर की लीला के लिए उसी की इच्छा से प्रकृति ने उत्पन्न हो इसकी बाह्य रचना अगणित रूपों और नामों में की है। मूल चैतन्य आत्मा है जो ईश्वर का अंश है तथा अमर एवं शाश्वत है और बाह्य नाम रूपात्मक रचना जड़ है जो नाशवान है। निरीश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर और आत्मा के झगड़े में नहीं पड़ते, परन्तु वे भी चैतन्य से ही जड़ का प्रादुर्भाव मानते हैं।

वैज्ञानिक और दार्शनिकों का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अधिकांश वैज्ञानिक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं। यह सारी सृष्टि मूल में एक ही तत्त्व है, दार्शनिकों के इस सिद्धान्त से उनका मतभेद नहीं, पर वे कहते हैं कि वह मूल तत्त्व जड़ है। वही जड़ आप से आप अगणित रूपों में परिणत होता है और जब उसके ये रूप बनते हैं तब इनमें से कई में चेतना उत्पन्न हो जाती है। मूल जड़ तत्त्व के अगणित रूप परमाणुओं के द्वारा बनते हैं। एक एक परमाणु में दो प्रकार के विद्युत अणु (इलैक्ट्रान) रहते हैं—एक उद्अणु (पाजिटिव) और दूसरा निम्नअणु (नैगेटिव)। परमाणु इतने छोटे होते हैं कि एक पतली से पतली सुई की नोक पर अगणित परमाणु रखे जा सकते हैं। सारी चेतन और जड़ सृष्टि इन्हीं परमाणुओं का संग्रह है। जहाँ तक चेतन सृष्टि का सम्बन्ध है ये परमाणु इकट्ठे हो कोष (सैल) बनाते हैं। एकाकी कोषा अगणित कोषाओं में परिपात हो नाना प्रकार की चेतन सृष्टि को उत्पन्न करता है।

दार्शनिक चेतन का नाश न मान जड़ का ही नाश मानते हैं। जहाँ तक चेतन का सम्बन्ध है उनका सारा विवेचन संक्षेप में भगवद्गीता के इस श्लोक में आ जाता है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्तापो न शोशयति मारुतः॥"

और ऐसा चेतन इस बाह्य जड़ के एक रूप को छोड़ नये-नये जड़ रूपों को जिस प्रकार ग्रहण करता है उसके सम्बन्ध में भगवद्गीता में ही एक सुन्दर उक्ति दी है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि ग्रहण्णाति नरो पराणि।
तथा शरीरानि विहाय जीर्णान्
यन्यानि संयाति नवानि दे ही॥

यह है दार्शनिकों की मृत्यु की परिभाषा। अधिकांश वैज्ञानिकों की मृत्यु-सम्बन्धी परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। वे जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानते हैं। परमाणु में जो दो तरह के विद्युत अणु हैं उद्अणु और निम्रणु वे लोहे और चुम्बक के सदृश एक दूसरे को खींचते तथा उद्अणु उद्अणु से और निम्रणु निम्रणु से दूर रहते हैं। इस खिचाव और हटाव के कारण जो गति पैदा होती है वही चेतन है। जब इन अणुओं की स्थिति या गति में अन्तर होता है तब यह खिचाव और हटाव समाप्त होकर चेतन की समाप्ति हो जाती है। यही मृत्यु है। इस मृत्यु के पश्चात् आत्मा के सदृश कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती।

जो कुछ हो, इस सृष्टि की रचना ही ऐसी है कि एक सी स्थिति में कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। परिवर्तन ही इस सृष्टि का नियम है और यह परिवर्तनशीलता ही इस सृष्टि के सारे सुख-दुःख का कारण। एक ओर यदि यह परिवर्तन नाना प्रकार के सुखों की उत्पत्ति करता है तो दूसरी ओर नाना प्रकार के दुःखों की।

मृत्यु इन सब परिवर्तनों में सबसे बड़ा और सबसे दुखद परिवर्तन है, यदि आत्मा अमर और शाश्वत है, नये-नये आच्छादनों में पुनः पुनः आती और जाती है तो भी और यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है और जड़ ही परमाणुओं

के द्वारा नये-नये रूपों में आता और जाता है तो भी। मृत्यु-लोक की यह सृष्टि जितनी पुरानी है, मृत्यु भी उतनी ही, परन्तु इतने पर भी जब भी यह कहीं आती है, तब नयी सर्वथा नयी दिखायी पड़ती है।

इस मृत्यु के प्रथम दर्शन मैंने अपने विवाह के कोई दस महीने के बाद ही, जब मैं अपने बारहवें वर्ष में था, तब किये। उस समय मैं दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के उपर्युक्त भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों और मृत्यु के सम्बन्ध में उनकी अलग-अलग परिभाषाओं को तो न जानता था, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता को मैं सुन और पढ़ चुका था, जिसमें मृत्यु की जितनी तुच्छता सिद्ध की गयी है, उतनी कदाचित् किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं। रामायण, महाभारत और अनेक पुराण तथा धर्म ग्रन्थ भी मैंने सुने थे, जिनमें मृत्यु शोचनीय नहीं, यह पग-पग पर कहा गया है। मृत्यु शब्द और उस शब्द के अर्थ से भी मैं परिचित था। नित्य ही सुना करता था कि अमुक-अमुक व्यक्ति मर गया, परन्तु मेरा यह सारा ज्ञान, मृत्यु शब्द तथा उसका अर्थ समझना, एक बात थी और मृत्यु का प्रत्यक्ष दर्शन तथा मृत शरीर देखना सर्वथा दूसरी। मृत्यु हुई थी उसकी जिसका मुझ पर सबसे अधिक स्नेह था और जिसे मैं भी उस समय तक के अपने जीवन में सबसे अधिक चाहता था। यह मृत्यु थी मेरे पितामह की।

मेरे पितामह मृत्यु के समय सत्तरवें वर्ष में थे। वे ऊँचे पूरे, कुछ मोटे व्यक्ति थे। सदा स्वस्थ रहते थे। इतनी आयु में भी सोलह घण्टे काम कर सकते और दस-बारह मील सहज में पैदल चल सकते थे। मृत्यु के पहले उन्हें कोई लम्बी बीमारी भी नहीं हुई थी। वे मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के अपने गाँवों का दौरा करने गये थे। वहाँ उन्हें एकाएक अतीसार हुआ। दो दिन दौरे में बीमार रह कर जबलपुर लौटे और दो दिन ही जबलपुर में रह सके। उनकी धर्म-कर्म में अत्यधिक निष्ठा थी। वल्लभकुल सम्प्रदाय की मर्याद दीक्षा भी उन्होंने ले ली थी। दौरे से लौटने के पश्चात् उन्होंने किसी से बात तक न की, मुझ पर इतना अधिक स्नेह होने पर भी मुझ तक से नहीं। भगवद्भजन करते हुए उन्होंने चार दिन की बीमारी में ही भगवद्गति प्राप्त की।

मेरे पितामह के दौरे से लौटते ही उनकी बीमारी की खबर सारे नगर में फैल गयी थी और उनकी बीमारी के इस अवसर पर मैंने राजा गोकुलदास

महल में जितनी भीड़ देखी उतनी इसके पहले कभी भी नहीं, मेरे विवाह और उसकी बड़ी-बड़ी महफिलों में भी नहीं। मुझे अब तक याद है कितने समुदायों के कितनी तरह के व्यक्ति उन दो दिनों और दो रातों में राजा गोकुलदास महल में जमा रहते।

अन्त समय कितना दान-पुण्य हुआ और श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता के साथ कितने ऊँचे सामुदायिक स्वर में भगवन्नाम का उच्चारण! दिसम्बर की सरदी में रात्रि को १० बजे उनकी मृत्यु हुई। कैसा वह दृश्य था! एक ओर कुछ पंडित धर्म-ग्रन्थों का पाठ कर रहे थे। दूसरी ओर एक समुदाय "हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे" का ऊँचे स्वर से उच्चारण। तीसरी ओर मेरी दादी और उनके साथ मेरी माताजी तथा स्त्रियों का एक समुदाय रो-पीट रहा था। चौथी ओर मेरे ताऊ वल्लभदासजी, मेरे पिता आदि कुटुम्बी शहर के प्रतिष्ठित लोगों के बीच बैठे हुए आँसू बहा रहे थे तथा उनके चारों ओर जो लोग बैठे थे वे उन्हें नाना प्रकार से समझा रहे थे। रोना जन्म और मृत्यु दोनों ही अवसरों पर सुनायी देता है, लेकिन कितना फर्क होता है इन दो तरह के रुदन में। फिर जन्म के वक्त रोता है जन्मनेवाला और मरने के समय रोते हैं पीछे रह जानेवाले। इन रुदन करनेवालों के बीच में मेरे पितामह का शव था। उनकी मृत्यु कोई लम्बी बीमारी के बाद नहीं हुई थी। दो-चार दिन की बीमारी उस प्रकार के बलिष्ठ और स्थूल शरीर में कोई अन्तर भी न कर सकी थी। वे वैसे ही सीधे लेटे हुए थे जैसे सोते समय लेटते थे। अपने जीवित पितामह और मृत पितामह में मुझे कोई फर्क भी न दिखायी देता था और इतने पर भी कितना फर्क हो गया था! बाह्य अन्तर न होते हुए भी जीवित और मृतक अलग-अलग वर्गों के हो जाते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में मृत्यु को तुच्छ माननेवाला मेरा सुना हुआ धर्म-ग्रन्थों का सारा ज्ञान हवा हो गया। मृत्यु शब्द और उसका अर्थ तथा रोज के मृत्यु के संवाद एक बात थी और प्रत्यक्ष मृत्यु का दृश्य, शव का दर्शन सर्वथा दूसरी बात! मुझे ऐसी ठेस लगी, जैसी उसके पहले जीवन में कभी न लगी थी। मैं फूट-फूट कर रो रहा था।

उस दिन रात भर राजा गोकुलदास महल का वह दृश्य वैसा का वैसा रहा,

अन्तर इतना ही पड़ा कि जबलपुर की दिसम्बर की सर्दी होने पर भी महल के बाहर भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। रात भर में उनके शव ले जाने के लिए सोने के कलशों वाला एक विमान तैयार किया गया। प्रात:काल फौजी बैण्ड पहुँचा और उनके शव का जुलूस आरंभ हुआ। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी समुदायों के धनी, निर्धन सभी वर्गों के सरकारी, गैर सरकारी सभी तरह के लोग उस जुलूस में थे। भीड़ इतनी थी जितनी उस समय के जबलपुर में शायद किसी अवसर पर नहीं हुई थी। जो दर्शन के रूप में अर्थी देखते हैं उनमें से अधिकांश के मन में आता है—"इतनी बड़ी दुनियाँ में, इतनी बड़ी जनसंख्या में एक रहा तो क्या, और गया तो क्या।" जब हम कहीं की नित्य होने वाली जन्म-मरण की संख्या पढ़ते हैं तब उसका तो हमारे मन पर कोई असर ही नहीं पड़ता। परन्तु जिनके घर में कोई मर जाता है, उनकी, या जो किसी आत्मीय अथवा मित्र का मरण सुनता है उसकी, दशा कुछ दूसरी ही होती है। तो क्या यथार्थ में इस सृष्टि को व्यापक दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता ? व्यापक दृष्टि से देखने पर तो मनुष्य सारी कोमल भावनाओं से रहित एक पाषाण का निर्जीव पुतला बन जायगा, चाहे फिर वह जीवित ही क्यों न रहे। गोपाल बाग में हमारे कुटुम्ब के स्मशान में पिताजी ने चन्दन की चिता पर मेरे पितामह के शव का दाह संस्कार किया। जिस प्रकार मृत्यु को मैंने सर्वप्रथम इस अवसर पर देखा उसी प्रकार मृतक के संस्कार को भी। उस बड़ी भारी भीड़ में कदाचित् सबसे अधिक शोकाकुल मैं ही था।

मृत्यु निष्क्रियता की मूर्तिमन्त प्रतीक है। जो मरता है वही निष्क्रिय होता है, ऐसा नहीं, पर जहाँ मृत्यु आती है वहाँ निष्क्रियता का साम्राज्य-सा हो जाता है। मरनेवाले के सिवा उस घर के अन्य निवासी भी निष्क्रिय हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार मृत्यु निष्क्रियता की प्रतीक है उसी प्रकार जीवन सक्रियता का। अत: सदा के लिए मृतक हो निष्क्रिय हो सकता है, जीवित नहीं। इसी कारण जो जीवित हैं उनके द्वारा मृत्यु के निष्क्रिय राज्य का अन्त हो पुन: जीवन के सक्रिय राज्य की स्थापना होती है। इस लोक की रचना के अनुसार हर जन्म लेनेवाले की एक दिन मृत्यु होती है, इसीलिए इस लोक का नाम मृत्यु-लोक है, परन्तु यथार्थ में यह गलत नाम है, क्योंकि एक तो इस लोक में

जितने जन्मे हैं उनसे मरनेवालों की संख्या कम, दूसरे जितने जीवित रहते हैं उनसे मरनेवाले कहीं कम, इसलिए दरअसल इस लोक का नाम होना चाहिए जीवन-लोक, न कि मृत्यु-लोक। इस लोक में यथार्थ में महत्त्व है सक्रियता को, निष्क्रियता को नहीं। मैंने कभी एक छोटा-सा संवाद पढ़ा था—"आन्तरिक दुःखों की क्या कोई दवा है ?" "हाँ, समय।" फिर कई मृत्युएँ ऐसी होती हैं जो मृतक को तो निष्क्रिय बनाती ही हैं, पर जहाँ वे आती हैं वहाँ के वायुमण्डल को नहीं। ऐसी मृत्युएँ वृद्धों की मृत्युएँ होती हैं और ऐसे वृद्धों की जो अपने कामों में कृतकार्य हो अपने कामों को आगे चलाने के लिए अपने वंशजों तथा अन्य साधनों को छोड़कर जाते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवित अवस्था की अपेक्षा भी मृतक अवस्था में अधिक भाग्यशाली माने जाते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि किस व्यक्ति का जीवन सफल हुआ और किस का विफल यह उसकी मृत्यु के पश्चात् ही कहा जा सकता है। इसीलिए जो दीर्घायु में सब दृष्टियों से कृतकार्य होकर अपने वंशजों और सम्पन्नता को छोड़कर जाते हैं उनके शव को विमान पर बाजे-गाजे के साथ ले जाने तथा उनके श्राद्ध आदि सारे कर्मों को धूमधाम से करने की इस देश के अनेकों समुदायों में प्रथा है। मारवाड़ी समुदाय उन्हीं समुदायों में एक समुदाय है।

मेरे पितामह की मृत्यु ७० वर्ष की दीर्घायु में हुई थी। वे हर दृष्टि से कृतकार्य माने जाते थे। जो कुछ भी इस लोक में और इस गरीब देश में प्राप्त करने के योग्य था, धन, सम्मान, शान-शौकत, सभी उन्हें प्राप्त था। भगवान ने भी उन पर कृपा की थी। वंश मे भी उनके पुत्र-पौत्रादि सभी थे। अपनी मृत्यु के पहले वे एक और महत्त्वपूर्ण कार्य कर गये थे। वह था कौटुम्बिक सम्पत्ति का अपने पुत्र और भतीजे के बीच का बटवारा। इस प्रकार के बटवारों के झगड़ों में अदालतें चल जाती हैं और रियासतें बर्बाद हो जाती हैं। अपने पुत्र और भतीजे का यह बटवारा उन्होंने इस प्रकार किया था कि दोनों कुटुम्बों के बीच किसी प्रकार के भी मनोमालिन्य की छाया तक न आने पायी थी और यह बटवारा एक आदर्श ढंग से किया हुआ बटवारा माना जाता था।

मेरे पितामह की मृत्यु ने कुटुम्ब को शोकाकुल न किया हो यह तो नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा लगता था, जैसे मेरा सर्वस्व ही चला गया हो, परन्तु यह

मृत्यु निष्क्रियता नहीं लायी। उनके श्राद्ध की तैयारी आरम्भ हुई। विधि-पूर्वक श्राद्ध हुआ। उनकी अस्थियाँ स्पेशल ट्रेन द्वारा प्रयाग गयीं। जबलपुर में ही नहीं हमारी सभी दूकानों और गाँवों में, ब्राह्मण भोजन और जाति बिरादरी तथा व्यवहारियों का भोजन, जिसे उस समय मारवाड़ियों में "औसर" कहा करते थे, हुआ। भारत के चारों प्रधान तीर्थ जो चार धामों के नाम से विख्यात हैं—जगदीशपुरी, द्वारका, रामेश्वर और बदरीनाथ में, तथा वृज, काशी, प्रयागराज और पुष्कर आदि में ब्राह्मणों और अभ्यागतों तथा भिक्षुओं को नाना प्रकार के दान दिये गये। वल्लभकुल सम्प्रदाय के सबसे बड़े मन्दिर श्रीनाथद्वारे तथा वल्लभ कुल के अन्य सात प्रधान मन्दिरों और हमारे गुरुद्वारे काशी के गोपाल मन्दिर में बड़ी-बड़ी भेंट की गयीं।

इस समय की दो बातें मुझे जीवन में कभी विस्तृत न होंगी। ये दो बातें मुझ पर अपना बहुत बड़ा प्रभाव छोड़ गयी हैं।

पहली बात थी गरुड़ पुराण का श्रवण। हमारे यहाँ मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध तक गरुड़ पुराण का वाचन होता है। मैं धर्म ग्रंथों के श्रवण में सदा तल्लीन-सा ही हो जाया करता था। इस अवसर पर मैंने गरुड़ पुराण सुना। गरुड़ पुराण में वर्णित नरकों के वर्णन ने तथा किन-किन पापों के कारण प्राणी को ये नरक मिलते हैं, मुझ पर बड़ा भारी प्रभाव डाला।

दूसरी बात मेरे पितामह के श्राद्ध के सम्बन्ध में मेरे ताऊ वल्लभदासजी और मेरे पिता की बातचीत थी। मेरे पिता और वल्लभदासजी दोनों की सम्पत्ति मेरे पितामह बाँट गये थे अतः मेरे पिताजी ने स्वाभाविक रूप में अपने चचेरे भाई से कहा—

"अब जब बटवारा हो चुका है तब राजा साहब के श्राद्ध का सारा खर्च कुटुम्ब की इसी शाखा को लगाना चाहिए।"

वल्लभदासजी मेरे पिता से अवस्था में कोई दस वर्ष बड़े थे। वे पिताजी को घूरते हुए बोले—

"क्या कहा? तुम्हें शर्म आनी चाहिए, ऐसी बात कहने में। मेरे पिता मेरी चार वर्ष की अवस्था में मर गये थे। मैंने तुम्हारे पिता को ही सदा अपना पिता माना है और तुमसे भी अधिक उन्होंने मुझ पर प्रेम रखा है।

उनके श्राद्धादि में जो खर्च हुआ है, वह आधा-आधा दोनों जगह लिखा जायगा।"

यह रकम कोई छोटी-मोटी रकम न थी; यह पहुँच गयी थी लाखों तक। आज जब मैं सगे भाइयों का ही नहीं, बाप-बेटों और मर्द-औरतों तक का एक-एक पैसे के लिए सिर फोड़ना देखता हूँ तब मुझे अपने ताऊजी और पिताजी जी का उपर्युक्त सम्भाषण याद आ जाता है।

मेरे पितामह की मृत्यु का मुझे तो इतना धक्का लगा कि मैं तो बीमार ही पड़ गया। मुझे जीर्ण ज्वर हो गया और उससे पिंड छूट कर अच्छे होने में मुझे कोई छः महीने लग गये।

पितामह की मृत्यु के पश्चात् मैं पिताजी के संरक्षण में

मेरे पितामह की मृत्यु तक मेरे जीवन में मेरा जिनसे सम्पर्क आया था उनमें प्रधान थे मेरे पितामह, मेरी माता, मेरे शिक्षक, मेरी छोटी बहन, और मेरे कुछ नौकर। जिस वायुमण्डल में मैं रह रहा था, वह था प्रधानतः पितामह से सम्बन्ध रखनेवाला वायुमण्डल—घर में, मन्दिर में, नगर में, नगर के बाहर पितामह के दौरों में, गाँवों, और भिन्न-भिन्न शहरों में। जहाँ तक मेरी माताजी का सम्बन्ध था, उनका मुख्य उद्देश्य था मुझे अपने पितामह की इच्छाओं के अनुकूल चलाना। वे पतिपरायणा थीं भी और इस दृष्टि से राजा गोकुलदास महल के उस विभाग से भी वे अपना सम्बन्ध विच्छेद न कर सकतीं। अतः कभी-कभी पहले अधिकतर माताजी के साथ और अब अकेले भी मैं राजा गोकुलदास महल के पिताजी वाले विभाग में भी जाता, पर बहुत कम। हाँ, इतना कम सम्पर्क रहते हुए भी इस विभाग का असर मेरे ऊपर न हो, यह नहीं। कई बार उस विभाग में रहनेवाले व्यक्ति, वहाँ की वस्तुएँ और घटनाएँ मुझे याद आतीं, कभी-कभी बिना स्पष्ट इच्छा के ही मैं उनका चिन्तन भी करने लगता। माहेमुनीर अब पिताजी के पास न थी। उसके बाद लखनऊ की ही एक वेश्या अद्धा बिग्गन आयी थी और अद्धा बिग्गन के बाद बम्बई की चन्दा बाई वैंलिकर, जिसकी बड़ी बहन लक्ष्मी बाई वैंलिकर महाराजा ग्वालियर के पास थी। अद्धा बिग्गन के जमाने में तो कोई नयी बात होने का मुझे स्मरण नहीं है, पर चन्दा बाई वैंलिकर माहेमुनीर और अद्धा बिग्गन दोनों से एकदम भिन्न थी। एक तो वह अत्यधिक सुन्दर थी, इतनी सुन्दर जितनी सुन्दर महिला आज तक भी मैंने कोई नहीं देखी, दूसरे एकदम भारतीय। वह बड़ी लम्बी पूजा करती, एकादशी, शिवरात्रि, चारों जयन्ती अर्थात् कृष्ण जन्माष्टमी, राम नवमी, नरसिंह चतुर्दशी और वामन द्वादशी आदि का व्रत

रखती और इन सब अवसरों पर फूल-पत्तियों के बड़े-बड़े मण्डप बना उनमें भगवान की मूर्तियों की स्थापना कर कथा करवाती। ऐसे अवसरों पर महफिल के रूप में नहीं, पर तंबूरा ले वह स्वयं गाना गाती। मेरी माताजी जब भी वहाँ जातीं उनके पैर छूतीं और उन्हें आदर-पूर्वक ऊँचे स्थान पर बैठा स्वयं उनकी दासी के समान गद्दी, गलीचा, आदि के नीचे बैठती। मेरी माताजी का सम्मान चन्दा बाई से अधिक शायद किसी ने न किया था। माहेमुनीर और अद्धा बिग्गन को छूकर माताजी नहातीं, पर चन्दाबाई के आने के बाद उनकी यह झंझट मिट गयी। दूसरे माहेमुनीर और अद्धा बिग्गन उनसे बराबरी का सा सम्बन्ध रखतीं, अनेक बार तो उनके बर्ताव से यह तक झलकता कि वे ही अपने को श्रेष्ठ मानती हैं, पर चन्दाबाई का बर्ताव इससे उल्टा था, अतः चन्दाबाई से माताजी प्रसन्न रहतीं। चन्दाबाई के आने के बाद राजा गोकुलदास महल के इस विभाग में भी धार्मिक वायुमण्डल का पुट चढ़ गया था। फिर भी मुझे इस विभाग के माहेमुनीर के समय का ही अधिक स्मरण आता और इस स्मरण में सबसे ज्यादा रश्केमुनीर। अपने विवाह के पश्चात् तो रश्के-मुनीर मुझे और अधिक याद आने लगी थी।

मुझे स्कूल तो भेजा ही न गया था, पर जैसा कहा जा चुका है घर पर ही मेरी पढ़ाई का अच्छे से अच्छा प्रबन्ध करने का प्रयत्न किया गया था। मेरे पहले शिक्षक बाबू द्वारकानाथ सरकार अब न थे। अब हिन्दी और अंग्रेजी के पृथक्-पृथक् शिक्षक रखे गये थे। हिन्दी मुझे पढ़ाते पं० वृजबल्लभ मिश्र और अंग्रेजी एक अंग्रेज मिस्टर डिगविट। हिन्दी और अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अलग-अलग शिक्षक इसलिए नियुक्त किये गये थे जिससे मुझे दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार हो जाय। अंग्रेजी के लिए अंग्रेज शिक्षक विशेषतः इसलिए रखे गये थे कि मेरा अंग्रेजी का उच्चारण ठीक अंग्रेजों जैसा हो। उस समय उच्च वर्ग का उद्देश्य अपनी सन्तान को अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी तहजीब सब कुछ अंग्रेजों के सदृश सिखाने का रहता था। चूंकि हमारा कुटुम्ब धार्मिक कुटुम्ब भी था इसलिए इस सम्बन्ध में थोड़ी त्रुटि रही। विलायत आदि इसी कारण मैं न भेजा गया। फिर भी आदर्श तो वही था। मुझे भाषा के अतिरिक्त अन्य विषय बहुत कम पढ़ाये जाते। साहित्य से जो मेरी अभिरुचि हुई उसका प्रधान कारण कदाचित यही था।

उस समय मेरी प्रधान साथी थी मेरी छोटी बहन राजकुमारी। यह मुझ से कोई साढ़े चार वर्ष छोटी थी और बड़े उग्र स्वभाव की। मैं शैशव से ही सौम्य स्वभाव का माना जाता था। इसका स्वभाव था मेरे स्वभाव के ठीक विपरीत। जब उसे समझ आयी, अर्थात् उसकी लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में, तब मैं अच्छी तरह समझने-बूझने ही नहीं पढ़ने-लिखने भी लगा था। मैं उसे बहुत प्यार करता, पर न जाने क्यों, वह मुझ से सदा रूठी रहती। बिना किसी बात के झगड़ा भी करती। कभी-कभी मुझे मार भी देती। जब कोई खिलौने आते तब मुझे शायद ही कोई खिलौना मिल पाता। परन्तु खिलौनों से खेलने की मेरी उम्र बीत चली थी अतः यह झगड़ा कोई बड़ा झगड़ा न रहा था। आम की मौसम में यह झगड़ा अधिक होता। हमारे यहाँ जयपुर की दूकान से कलाकन्द, मिश्रीमावा और साँभर की फीनी तथा बीकानेर के भाजियों की पार्सलें, कलकत्ते की दूकान से रसगुल्लों की पार्सलें मथुरा की धर्मशाला से मथुरा के पेड़ों, खुरचन, आगरे के पेठे और दालमोंठ की पार्सलें, और बम्बई की दूकान से बम्बई अलफांजो आम की पूरी मौसम भर पार्सलें आतीं। बरसात होने के पहले गर्मी में आम कम खाना चाहिए, यह एक मत है, परन्तु अलफांजो आम तो पानी बरसते ही समाप्त हो जाते हैं, अतः इन आमों को तो गर्मी में ही खाया जा सकता है। हम दोनों को भोजन के समय एक आम दिया जाता और झगड़ा होता उसके बटवारे में। मुझे भी ये आम बहुत पसन्द थे और मेरी बहन को भी। मैं इस सम्बन्ध में अपने लोभ का संवरण न कर पाता और मेरी बहन भला आधे बटवारे को कब स्वीकार करने चली। वह झगड़ा करती, इस झगड़े में मैं कभी पिट भी जाता और दोष मेरा न होते हुए भी वह जोर से रोती। जीत अन्त में उसी की होती, तीन-चौथाई आम उसे मिलता और एक-चौथाई तथा कभी-कभी इससे भी कम में मुझे सन्तोष करना पड़ता। भोजन का महत्त्व जीवन में शायद सबसे अधिक है और यह हर अवस्था में, चाहे शैशव, बाल्य-काल, यौवन और वृद्धावस्था कोई भी क्यों न हो।

ऐसी थी मेरी सारी परिस्थिति जिसमें मेरे पितामह की मृत्यु के पश्चात् मेरे पिता कुटुम्ब के कर्त्ता हुए। मेरे पितामह की मृत्यु तक पिताजी को न घर के किसी काम से कोई मतलब था और न मुझ से। मेरे पितामह के समय मेरे

ताऊजी और मेरे पिताजी के बीच सम्पत्ति का बटवारा हो ही चुका था, अतः अब पिताजी ने घर में और घर के बाहर भी हर दृष्टि से अपने पिता का स्थान लिया।

मेरे पितामह और पिताजी में कुछ बातों में साम्य था और कुछ में भिन्नता। दोनों के निर्माण में पूर्वजन्म के कर्मों का हाथ तो होगा ही, आनुवंशिकता और वातावरण का भी स्पष्ट प्रभाव था। पिताजी मेरे पितामह के सदृश ही, वरन् उनसे भी कुछ ऊँचे थे। शरीर में वे मेरे पितामह के समान स्थूल तो नहीं थे, पर वैसे ही मजबूत थे। रंग में वे मेरे पितामह से भी अधिक साँवले थे, क्योंकि मेरी दादी भी साँवली थीं और आँख-नाक आदि सारे अवयव उनके मेरे पितामह के सदृश ही थे। पिताजी की धार्मिक भावनाएँ हमारे कुल के अनुरूप ही थीं। वे भी वल्लभ कुल सम्प्रदाय में दीक्षित थे और नित्य मन्दिर जाते थे। अपने और अपने कुल के आत्म-सम्मान का भी उन्हें वैसा ही ख्याल रहता जैसा मेरे पितामह को। राजभक्त भी वे वैसे ही थे जैसे मेरे पितामह और अंग्रेज अफसरों से उनके मिलने-जुलने का भी वही तरीका था जो मेरे पितामह का। ये थीं कुछ साम्यताएँ मेरे पितामह की और पिताजी की। अब कुछ भिन्नताएँ सुनिए। मेरे पितामह का जीवन जितना सादा था उतना ही पिताजी का शान-शौकत वाला। मेरे पितामह जितने सौम्य थे मेरे पिता उतने ही उग्र स्वभाव के। जरा सी बात पर वे बिगड़ पड़ते। एक चाबुक उनके पास रहता जिसे वे "सुलतान दूल्हा" कहते और कई बार इससे नौकरों की खबर ली जाती। हाँ, उनका क्रोध शान्त बहुत शीघ्र हो जाता और उस क्रोध में यदि किसी पर सुलतान दूल्हा चल जाता तो उसे एक मोटी इनाम देकर उसका परिमार्जन भी तत्काल होता। जब मैं उस काल के नौकर वर्ग से आज के समय के इस वर्ग का मिलान करता हूँ, तब मुझे कहना ही पड़ता है कि उस काल के मालिकों के व्यवहार का यह परिणाम निकलना ही चाहिए था जो निकला है। उस समय के ये घरू नौकर कदाचित् मानव नहीं माने जाते थे, जब चाहे तब पीट दिया और जब चाहे तब इनाम दे दी। रजवाड़ों के राजा-महाराजाओं के अपने नौकरों के प्रति इसी प्रकार के व्यवहारों की न जाने कितनी कथाएँ हैं। अभी भी आर्थिक दृष्टि से मालिक नौकरों के इन वर्गों में

चाहे बहुत बड़ा अन्तर हो, (और इस अन्तर का निकलना ही नहीं, पर मालिक नौकर के इस प्रकार के वर्गों का ही लोप होना अनिवार्य है) परन्तु आज कोई भी मालिक अपने किसी भी नौकर की सुल्तान दूल्हे के सदृश चीज से खबर लेने की कल्पना तक नहीं कर सकता। मेरे पितामह रोजगार-धन्धे, खेती आदि अपने रियासती काम में जितने दक्ष थे उतने ही पिताजी अनभिज्ञ। इसका नतीजा भी बहुत शीघ्र निकला। मेरे पितामह की मृत्यु के बाद सारा काम मुनीम-गुमाश्तों के हाथ में चला गया। खूब खाना-पीना और नुकसान शुरू हुए। आमदनी घटी, खर्च बढ़ा, कर्ज हुआ, और सेवारामजी के समय से लगातार तीन पीढ़ियों में, लगभग सवा सौ वर्ष तक जिस घर ने आर्थिक दृष्टि से उत्तरोत्तर उन्नति की थी, मेरे पितामह की मृत्यु के केवल पाँच वर्ष बाद ही उसी घर पर आर्थिक कष्ट के बादल मँडराने लगे और फिर तो यह आर्थिक कष्ट चला लगभग चालीस वर्ष तक। लगातार चालीस वर्ष तक जो आर्थिक आपत्ति चली उसमें बाद में मेरी भी जिम्मेदारी नहीं है यह मैं न कहूँगा। मैं भी इसके लिए जिम्मेदार हूँ। मैंने भी घर नहीं देखा, सार्वजनिक जीवन में लाखों रुपया खर्च किया। मेरे पितामह के बाद पिताजी ने अपना सामाजिक व्यक्तिगत सम्पर्क भी बढ़ाना आरम्भ किया। वेश्याओं के संग छोड़ने तथा अपनी शान-शौकत वाले जीवन में परिवर्तन करने के सिवा शेष सारी बातों में पिताजी मेरे पितामह का ही अनुसरण करते। मृत्यु के बाद मेरे पितामह के प्रति उनका आदर भी बहुत बढ़ गया था।

मेरे पितामह के पश्चात् मेरा चार्ज भी मेरे पिताजी को मिल गया। मेरे निर्माण सम्बन्धी उद्देश्यों में मेरे पिताजी का भी वही मत था जो मेरे पितामह का। अतः मेरी शिक्षा आदि के विषय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, अब मेरा राजा गोकुलदास महल के उनके विलासी विभाग में जाना अवश्य बन्द हो गया। अब मैं बड़ा हो रहा था। और कोई भी पिता, चाहे वह स्वयं कैसे भी भ्रष्ट चरित्र का क्यों न हो, यह कभी नहीं चाहता कि इस दिशा में पुत्र उसका अनुसरण करे। इसे छोड़ मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें पूर्ववत् चल रही थीं। परन्तु मेरे हृदय में मेरे पिताजी के लिए वह स्नेह नहीं था जो पितामह के लिए था। मैं उनसे डरता था।

यौवन की ओर

मेरी बाढ़ बचपन से ही अच्छी थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मैं अठारह वर्ष के लगभग का दिखने लगा था। उन दिनों पिता के जीवित रहते मूँछें मुँड़ाने की प्रथा नहीं थी। अतः पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही मेरे जो रेख निकल आयी थी उसके न मुँड़ाये जाने के कारण उस रेख ने मेरी अवस्था को कुछ और बढ़ा दिया था। विवाह तो मेरा बारह वर्ष की उम्र में ही हो गया था, पर उन दिनों बाल-विवाह होते हुए भी गौने तक पत्नी के पति-गृह में न आने का रिवाज था अतः गौने तक मैंने एक बार ही विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी को देखा था। जिस समय मैंने अपनी पत्नी को देखा था उस समय मेरे मन में काम-चेतना (सैक्स) के विचारों की कहाँ तक उत्पत्ति हो गयी थी, यह आज कह सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। यों तो इससे भी बहुत पहले से राजा गोकुलदास महल के पिता जी वाले विभाग में मेरे आवागमन के कारण मैं इन बातों को कुछ-कुछ समझता था, पर इसे अथवा विवाह के समय जो भावनाएँ मेरे मन में उठी थीं उन्हें स्पष्ट रूप से काम-चेतना नहीं कहा जा सकता। काम-चेतना की स्पष्ट भावनाएँ मेरे मन में लगभग पन्द्रह वर्ष की अवस्था से उठने लगीं और ये उठीं ललित कला से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ गन्दे साहित्य को पढ़ने, उस समय की पारसी नाटक कम्पनियों के कुछ अश्लील नाटक देखने तथा एक महिला के कारण, जो हमारे कुल की एक निकट की रिश्तेदार थीं।

मेरी शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था का विवेचन पहले किया जा चुका है। शिक्षा की वही व्यवस्था चल रही थी और अब मैं मैट्रिक का पाठ्यक्रम पढ़ रहा था, परन्तु मैट्रिक में मुझे गणित नहीं पढ़ाया जा रहा था। बीजगणित और रेखागणित तो मुझे पढ़ाया ही नहीं गया था। गणित (अर्थमेटिक) का थोड़ा सा

कर बन्द हो गयी थी। अब मुझे पढ़ाया जा रहा था उस समय का हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और इतिहास का मैट्रिक का पाठ्यक्रम। इसके कुछ वर्ष पहले पाठ्य-क्रम के अलावा मुझे उपन्यास पढ़ने का शौक हो गया था। उन दिनों जबलपुर में तुलसीदासजी स्वर्णकार नामक एक सज्जन ने "सरस्वती क्लब" नामक एक छोटा-सा पुस्तकालय स्थापित किया था। इसका चार आना महीना चन्दा था। मैं उपन्यासों को यहीं से मँगाकर पढ़ता, आरम्भ में कुछ छिपे-छिपे, क्योंकि उस समय उपन्यास पढ़ना अच्छा नहीं माना जाता था। उस बीच हिन्दी में एक ओर बाबू देवकीनन्दन खत्री की "चन्द्रकान्ता" और "चन्द्रकान्ता सन्तति" का जोर था और दूसरी ओर अंग्रेजी "मिस्ट्रीज आफ दी कोर्ट आफ लन्दन" उपन्यास के अनुवाद "लन्दन रहस्य" का। "चन्द्रकान्ता" और "चन्द्र कान्ता सन्तति" में कुछ ऐयारी और तिलिस्म के अद्भुत वर्णन थे। "चन्द्रकान्ता" और "चन्द्रकान्ता सन्तति" के सदृश ही ऐयारी और तिलिस्मवाले "कुसुम कुमारी", "गुलाब कुँवरि" इत्यादि कई उपन्यास निकले थे। "लन्दन रहस्य" का हर महीने एक भाग निकलता था। मैं इन उपन्यासों को इतने चाव से पढ़ता कि कभी-कभी तो सारी रात इन्हें पढ़ते-पढ़ते ही बीत जाती। इन ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यासों का तो मुझ पर बहुत बुरा प्रभाव न पड़ा, परन्तु "लन्दन रहस्य" का बहुत ही बुरा। और तिलिस्मी तथा ऐयारी उपन्यास तो "लन्दन रहस्य" के बहुत पहले से मिलना आरम्भ हो गये थे। जहाँ तक मुझे याद है मैंने पहला तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यास कोई ग्यारह वर्ष की अवस्था में पढ़ा था। मेरा लेखन भी यथार्थ में इसे पढ़ने से ही आरम्भ हुआ। बारह वर्ष की उम्र में मैंने भी एक छोटा सा तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यास लिखा था। इसका नाम था "चम्पावती"।

साहित्य के नाटक विभाग से मुझे कुछ स्वाभाविक दिलचस्पी थी। इन दिनों नाटक कम्पनियों का बम्बई में खूब दौरदौरा था। पारसी नाटक कम्पनियों में उर्दू के नाटक होते तथा गुजराती और मराठी के भी रंगमंच थे। पारसी नाटक कम्पनियों में खटाऊ की अलफ्रेड कम्पनी और न्यू अलफ्रेड कम्पनी मुख्य थीं। ये कम्पनियाँ शेक्सपियर के नाटकों को तोड़-मरोड़ कर खेला करतीं। इन नाटकों के कुछ के बड़े अजीब नाम होते. जैसे—"असीरे हिर्स"

"मुरीदेशक", "बज़्मेफानी", "खूने नाहक" । कलाकारों में खटाऊ कम्पनी के मालिक कावस जी खटाऊ और उनके साथ ही एक वेश्या जोहरा बहुत प्रसिद्ध थे । गुजराती में देशी नाटक समाज सबसे विख्यात था । इसके "सौभाग्य सुन्दरी", "वसन्त प्रभा" आदि नाटक बहुत प्रसिद्ध थे और इसके कलाकारों में बापूराव और जयशंकर की बड़ी ख्याति थी । बापूराव पुरुष का काम करता और जयशंकर स्त्री का । स्त्री का काम करते-करते जयशंकर ने तो अपने बाल इत्यादि भी बढ़ा लिये थे और उसके देखने का तथा अंग विक्षेप आदि का सारा ढंग स्त्रियों के समान हो गया था। मराठी क्षेत्र में बाल गन्धर्व की कम्पनी बहुत प्रसिद्ध थी । यह अधिकतर सती द्रौपदी आदि पौराणिक खेल खेलती और इसके मुख्य कलाकार थे स्वयं बाल गन्धर्व, जो स्त्री का काम करते थे । मैं इन दिनों बम्बई कई बार गया और मैंने इन सभी कम्पनियों के नाटक देखे । पारसी नाटक कम्पनियों के नाटकों की भाषा उर्दू होती । राजा गोकुलदास महल के पिताजी वाले विभाग के सम्पर्क के कारण मैं बचपन में ही माहेमुनीर और अद्धा बिग्गन की गोद में बहुत कुछ उर्दू सीख गया था, अतः मुझे पारसी नाटक कम्पनियों की भाषा समझने में कठिनाई न होती । गुजराती अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी से अधिक मिलती-जुलती है । अतः गुजराती भी मैं समझ लेता, इन नाटकों के बहुत देखने के कारण और अधिक । पर मराठी समझने में मुझे उस समय कठिनाई होती । अतः मैं सबसे अधिक पारसी नाटक कम्पनियों के नाटक देखता और उनके बाद गुजराती । पारसी नाटक कम्पनियों के अधिक नाटक देखने का एक कारण और था । ये कम्पनियाँ दौरे पर भी निकलतीं । विशेषकर खटाऊ की अल्फ्रेड जबलपुर भी आती । इन पारसी नाटक कम्पनियों के नाटकों का भी मुझ पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । यदि कभी कोई नैतिक दृष्टि से इन नाटकों को देखने का विरोध करता तो चट से मैं प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपेनहार का एक कथन उसके सम्मुख रख देता जो मैंने उन्हीं दिनों पढ़ा था । शोपेनहार ने लिखा था—"नाटक में न जाना बिना दर्पण के बाल सँवारने आदि के समान है ।"

जिन मेरी नातेदार महिला के प्रति मैं बहुत आकृष्ट हुआ, उनका नाम और परिचय देना किसी प्रकार भी उचित न होगा । वे विवाहिता थीं, हमारी

या विधवा नहीं। इनकी अवस्था मुझ से कुछ अधिक थी, देखने में ये अत्यन्त सुन्दर थीं, वर्ण में गौर, सारे अंग-प्रत्यंग ढले हुए से, नेत्र सबसे अधिक आकर्षक—महाकवि रसखान के दोहे के निम्नलिखित चरण के अनुसार "अमी हलाहल मद भरे श्वेत, श्याम, रतनार"। मेरा इनके प्रति जितना आकर्षण था उनका मेरे प्रति उससे अधिक ही होगा, कम नहीं। मैं घण्टों उनके समीप बैठा रहता। चौबीसों घण्टे उनके पास जाने की इच्छा रहती और जाने के बाद हटने की नहीं।

यह गन्दा साहित्य, अश्लील नाटक और परम सुन्दरी महिला सबने मिल कर मेरे मन को अत्यन्त विक्षुब्ध कर दिया। उस समय का मुझे स्पष्ट स्मरण है। दिन-रात दिमागी ऐयाशी में बीतता; कभी "लन्दन रहस्य" की कथाओं को याद कर कर, कभी देखे हुए नाटकों के कुछ दृश्यों के स्मरण में और कभी अपनी इन प्रेयसी के विविध प्रकार के संगों में। टालस्टाय ने एक जगह लिखा है—"बुरी कृति चाहे फिर न दुहरायी जाय और उस पर चाहे पश्चात्ताप हो, परन्तु बुरे विचार बार-बार बुरे कृत्यों को प्रोत्साहित करते हैं। बुरी कृति अन्य बुरे कृत्य का केवल मार्ग बनाती है, पर बुरे विचार अधःपतन के रास्ते में विवश बनाकर खींच ले जाते हैं।"

आज जब मैं उस काल का स्मरण करता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि यह कथन कितना सत्य है। इस सम्बन्ध में डारविन ने एक स्थान पर लिखा है—"नैतिक संस्कृति का ऊँचे से ऊँचा वह स्थान है, जहाँ हम इस बात को स्वीकार करें कि हमें अपने विचारों का संयम करना चाहिए।" और नैतिक क्या, तथा अनैतिक क्या—इस पर अर्नेस्ट हैमिंगवे ने एक सरल व्याख्या की है—"जिस काम को करने के बाद अच्छा लगे वह नैतिक है और जिस काम को करने के बाद बुरा लगे वह अनैतिक।" साथ ही इस विषय में जैफरसन की भी एक उक्ति बड़ी सुन्दर है। वे लिखते हैं—"ऐसे किसी विचार को मन में आश्रय न दो, जिसे तुम अन्यों के सम्मुख प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाओ। जब किसी कृति को करते समय यह लालच हो कि वह कृति गोपनीय रहे तब अपने आपसे पूछो कि क्या तुम उसे सर्वसाधारण के सामने कह सकते हो। यदि नहीं तो समझ लो कि वह निश्चयपूर्वक गलत है।"

मेरी इन प्रेयसी का और मेरा सम्बन्ध धीरे-धीरे बढ़ चला। उन दिनों घूंघट रखने का रिवाज था। मैंने यों तो उनका मुख कई बार देखा था और वे यह जानती भी थीं, परन्तु धीरे-धीरे मैंने उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए उनके मुख के दर्शन के लिए प्रार्थना की। प्रथम प्रार्थना के पश्चात् ये प्रार्थनाएँ बढ़ चलीं। उस समय जिनका रिश्ता घूँघट रखने का रहता उनसे इस प्रकार की प्रार्थना भी एक अनुचित बात मानी जाती। कई प्रार्थनाओं के पश्चात् भी जब घूँघट न खुला तब एक दिन जबर्दस्ती मैंने घूंघट खोल दिया। कुछ झगड़ा-सा, कुछ खीझ-सी और फिर से घूंघट निकालने का प्रयत्न, पर जो कुछ हो रहा था उससे स्पष्ट था कि यह सब नखरा और दिखावा था। मैंने फिर से घूंघट में मुख न छिपने दिया। अन्त में इस विषय पर यह समझौता हुआ कि एकान्त में वे मेरे सामने घूँघट न रखेंगी, पर अन्यों के सामने घूंघट रहेगा। चूँकि एकान्त में घूँघट रहनेवाला न था, इसलिए अब यह कोशिश शुरू हुई कि हमारी भेंट के लिए अधिक से अधिक एकान्त का स्थान और समय निकाला जाय। स्थान की महल में कमी न थी। समय निकाला जाने लगा। इसके पहले भी हम एकान्त में न बैठते हों, यह नहीं, पर वह बैठक दूसरों से छिपकर न होती। घूंघट-रहित बैठने के लिए लुका-छिपी की जरूरत पड़ी और यह शुरू हुई। अब तक हम लोग खूब बातें करते और न जाने कितने विषयों पर। ये विषय रहते कभी स्वयं के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले, जिनमें बाल्यावस्था से उस समय तक का जीवन आ जाता, कभी घर, जिसमें घर के सारे व्यक्तियों के गुण दोष आ जाते, कभी बाहर, और इसमें तो उस समय तक के ज्ञान की सारी सृष्टि आ जाती। हमारी यह बातचीत कभी समाप्त ही न होती, पर घूंघट रहित सम्मेलनों में यह बातचीत एकाएक नहीं के बराबर रह गयी। इन सम्मेलनों में मैं प्रायः चुपचाप उनका मुख देखा करता। पहले उनके नेत्र नीचे झुके रहते, पर धीरे-धीरे उन्होंने भी मुझे देखना आरम्भ किया। इसके कुछ दिन बाद ही एक बात और शुरू हुई। अब जब मैं उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करता तब वे भी मेरे सौन्दर्य की। हाँ, मेरी प्रशंसा कुछ लम्बी होती, उनकी एकदम संक्षिप्त। अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुन वे प्रायः इतना ही कहतीं—"और आप क्या कम हैं।" [illegible]

बड़े-बड़े लोचनों की पुतलियाँ आँखों के कोनों पर पहुँच कुछ ऊपर की ओर उठ जातीं। एक दिन यों ही उनकी ओर देखते-देखते एकाएक मैंने उनकी आँखों को चूम लिया। इस कृति से मेरे सारे शरीर में एक ऐसी बिजली दौड़ी जैसा इसके पहले कभी न हुआ था। मेरा यह अनुभव मेरे लिए नवीन एकदम नवीन था। मेरी इस कृति का मेरी उन प्रेयसी ने कोई विरोध न किया। हाँ, जिन आँखों को मैंने चूमा था वे नीचे अवश्य झुक गयीं। कुछ दिनों या घण्टों के बाद नहीं, पर अब तो कुछ क्षणों के बाद ही मेरे इन चुम्बनों की शृंखला-सी बँध गयी और इसके बाद की सीढ़ी आलिंगन पर भी चढ़ने में मुझे अब देर न लगी। चुम्बन के सदृश आलिंगन भी मेरे लिए एक नया अनुभव था। मेरे चुम्बन का तो उन्होंने कोई उत्तर न दिया था, पर मेरे इस आलिंगन का मुझे उत्तर मिला। उनकी शुभ्र, सुन्दर दोनों गोल-गोल बाहुएँ मेरे गले में थीं। कितनी देर खड़े रहे हम लोग उस दशा में इसका तो मुझे स्मरण नहीं, पर मेरे लिए वह दशा एक प्रकार की विचित्र तन्द्रा की ही दशा थी। मेरा हृदय धड़क रहा था। मेरे कानों के चारों ओर से ज्वालाएँ-सी निकल रही थीं। मेरी आँखों के सामने एक अद्भुत प्रकार का कुहरा-सा छा गया था। मेरे फेफड़े धोकनी के सदृश जल्दी-जल्दी साँसें भर तथा निकाल रहे थे। मेरे सारे अंग-प्रत्यंगों, समस्त अवयवों के रोम-कूपों से स्वेद बह रहा था। मेरी यह अद्भुत तन्द्रा टूटी उनके भाषण द्वारा। अपनी बाहुओं को मेरी ग्रीवा से निकालते हुए उन्होंने कुछ इस प्रकार कहा—"हम लोग क्या कर रहे हैं? शायद हम होश में नहीं हैं। गरुड़ पुराण की बातें याद नहीं हैं? ऐसे काम करनेवालों को कुम्भीपाक नरक मिलता है, जिसमें पुरुषों को लोहे की लाल तपी हुई स्त्रियों का और स्त्रियों को लोहे के लाल तपे हुए पुरुषों का संग करना पड़ता है।" उनके इस भाषण से मेरा सारा नशा-सा उतर गया। मेरे ऊपर भी गरुड़ पुराण के नरकों के वर्णन का कम प्रभाव न था। इन दिनों की दिमागी ऐयाशी में वह वर्णन विस्मृत-सा हो गया था, पर आज उसका स्मरण दिलाते ही वह फिर से आँखों के सामने आ गया। मेरी उन नातेदार महिला के संस्कार भी मेरे ही समान थे। हम दोनों एक दूसरे के प्रति लालसात्मक भावनाओं से खिंचे हुए चले जा रहे थे, पर जिसे पूर्ण पतन कहा जाता है उससे हम दोनों को इस कुम्भीपाक नरक के

भय ने बचा लिया। इस भय के स्थान पर हमारे मन में यदि कहीं कोई कलात्मक भावनाओं का उदय हो जाता तो हमारी जो दशा होती उसका सुन्दर वर्णन टाल्स्टाय ने एक स्थान पर किया है। वे लिखते हैं—"मानव बहुत दूर तक पशु है। परन्तु इस पाशविकता का भी यदि पतन न हो तो वह आत्मिकता की उँचाई से इस पाशविकता की ओर देखता है और चाहे वह इस पाशविकता से संघर्ष करता रहे अथवा उसका पतन भी हो जाय, कम से कम वह जो है वह रह सकता है। परन्तु यदि उसकी पाशविकता झूठी संस्कृति या झूठे कवित्व के परदे में ढक कुछ माँगें करने लगे तब तो मानव समस्त ज्ञान को भूल पाशविकता का पूजक हो जाता है। अच्छे और बुरे का भेद तक नहीं कर पाता। तब वह होता है भयानक।"

बाद में जब मेरा इस प्रकार के नरक स्वर्ग में विश्वास न रहा तब इस घटना पर मुझे अपने पर ही हँसी आये बिना न रही, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मेरा बचाव नरक के भय ने ही किया। आगे चलकर मेरे जीवन में ऐसा समय भी आया था जब फ्रायड के प्रभाव के कारण काम-चेतना से सम्बन्ध रखनेवाली नैतिकता (सैक्स मुरैलटी) में ही मेरा विश्वास न रह गया था, और ऐसे समय में भी यदि मैं इस विषय में पथ-भ्रष्ट नहीं हुआ तो उसके अन्य कारण थे, पर उस समय नरक के भय के कारण ही मेरा बचाव हुआ, इसमें मुझे थोड़ा भी सन्देह नहीं है। आज भी कभी-कभी मुझे उन दिनों की याद आ जाती है और क्या अच्छा है तथा क्या बुरा इसकी परिभाषा भी मेरा मन करने लगता है। क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है इसे मैं मानता हूँ। मानव अपनी दृष्टि से सदा अच्छे का ही चुनाव भी करता है, लेकिन इस चुनाव के बाद जो नतीजे निकलते हैं उन्हें भी उसे बिना किसी खेद के भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए, जो बहुधा नहीं होता। यदि समाज के अनुभव द्वारा स्वीकृत अच्छे और बुरे की परिभाषा मंजूर नहीं करनी है तो फिर मीठा-मीठा गप और कड़वा-कड़वा थू तो नहीं हो सकता।

यहाँ से मेरे और मेरी उन प्रेयसी के सम्बन्ध ने एक नया रूप लिया। बाहर से जो मस्तिष्क स्थिरचर्म और स्थिर बालों से युक्त दिखता उसके अन्दर कैसी दौड़ मची रहती। हम दोनों का एक दूसरे पर एक ही प्रकार का प्रणय है

यह अब हम दोनों को ही स्पष्ट रूप से ज्ञात था। इस दृष्टि से एक दूसरे को प्राप्त करने के लिए हम दोनों ही छटपटाते और उस प्राप्ति में अपने सिवा अन्य किसी को बाधक न देख वह छटपटाहट कितनी बढ़ती जाती ! अब तक हमारे प्रेम में सुख रहा था, केवल सुख। हम दोनों धीरे-धीरे एक दूसरे की प्राप्ति के लिए बढ़ रहे थे अतः दोनों एक ही मार्ग पर बढ़ते जाते थे। एक तरह की उत्कण्ठा, एक तरह की आतुरता, एक तरह के अधैर्य से वह रास्ता तय किया जा रहा था। इस चाल में चाहे उत्कण्ठा, आतुरता, अधैर्य रहा हो, पर दुख नहीं था। एक सीमा तक हम चले, पर उस सीमा पर पहुँच बिना किसी अन्य के रोके हम ही रुक गये और इस रुकावट के कारण जो छटपटाहट आरम्भ हुई उसने एक अजीब तरह के दुख, कष्ट और क्लेश तीनों को ही उत्पन्न किया। आह! कैसी दुःख, कष्ट और क्लेशमय वह छटपटाहट थी ! हम दोनों ने खूब वाद-विवाद कर यह तय किया कि हमारा अब तक का मार्ग घोर अकल्याणकारी मार्ग था। इस मार्ग को छोड़ने के लिए हमने अपने ऊपर ही अनेक प्रतिबन्ध लगाये जैसे—एकान्त में अब हम कभी न मिलेंगे, यदि कभी मिलेंगे तो भी एक दूसरे का स्पर्श कभी न करेंगे इत्यादि। पर इन प्रतिबन्धों का निभना सरल न था। रोज निश्चय करते और रोज ही वह निश्चय टूटता। अब निश्चय टूटने पर प्रायश्चित्त के विधान बने, जैसे एकान्त में मिलने पर चार-चार रुपये के गोदान का संकल्प, स्पर्श करने पर एक-एक दिन का निराहार व्रत। इन प्रायश्चित्तों ने तो प्रतिबन्धों का तोड़ना कठिन के स्थान पर और सरल कर दिया। हम रोज ही प्रतिबन्ध तोड़ते और प्रायश्चित्त कर डालते। कभी-कभी तो यहाँ तक विचार उठने लगा कि सारा सुख भोगकर ही कोई प्रायश्चित्त न कर डाला जाय। बाद में मुझे इन प्रायश्चित्तों पर भी हँसी आने लगी, पर जिस समय ये प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया गया था इनमें भी मुझे पूर्ण विश्वास था।

जब ये एकान्त-मिलन और स्पर्शास्पर्श किसी प्रकार भी न छूटे, तब हमने अन्त में एक दूसरे से कभी न मिलने तक का निर्णय किया, पर यह भी एक सप्ताह से अधिक न निभा। हम दोनों एक दूसरे के लिए लोहा और चुम्बक

दोनों ही थे जिनका एक दूसरे के प्रति आकर्षण बार-बार प्रयत्न करने पर भी न रुक रहा था।

गन्दे साहित्य, अश्लील नाटक और इन प्रेयसी के इस प्रणय ने काम-चेतना के इस आरम्भिक जीवन में मुझे झकझोर-सा डाला। कवि सम्राट् रवीन्द्र बाबू ने एक जगह लिखा है—"बुरी पुस्तकों का पढ़ना विष पीने के तुल्य है।" अपने उस काल के जीवन का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि यह कथन कितना सत्य है। मेरी पढ़ाई में यह जीवन सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ और मेरी तन्दुरुस्ती पर भी इसका असर हुए बिना न रहा। इस प्रकार के सुख की अभिलाषा का नशा शायद सबसे बड़ा नशा है और ऐसे सुख की प्यास कदाचित कभी भी न बुझनेवाली प्यास है।

गौना और उसके बाद

सोलहवें वर्ष में मेरा गौना हुआ । कोई सौ आदमी बड़ी धूमधाम से सीकर गये । वहाँ कई दिन मुकाम रहा । खूब खातिर तसल्ली हुई और इसके अन्त में मैं अपनी पत्नी को बिदा करा सीकर से जबलपुर आ गया ।

कोई तीन वर्ष के पश्चात् मैंने फिर से अपनी पत्नी को देखा था । वह कुछ बड़ी अवश्य हो गयी थी, पर न शरीर में भरी थी और न रंग में ही कोई परिवर्तन हुआ था । जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, राजस्थान में उन दिनों लड़कियों की शिक्षा ? जबलपुर से कई बार लिखे जाने के कारण एक मामूली सा अध्यापक रख दिया गया था, जिसने उसे वर्णमाला और अंकों का कुछ ज्ञान करा दिया था । चौदह-पन्द्रह वर्ष की लड़की की उतनी ही शिक्षा हुई थी जितनी पाँच-छः वर्ष की लड़की की होती ।

विवाह के समय इस लड़की को पत्नी के रूप में देख मेरी आँखों में आँसू छलछला आये थे । उस समय मेरे मन में न तो काम-चेतना की कोई स्पष्ट भावना उत्पन्न हुई थी, न "लन्दन रहस्य" जैसे गन्दे साहित्य तथा अश्लील नाटकों का ही प्रभाव था और न जबलपुर वाली मेरी नातेदार महिला से मेरा ऐसा कोई सम्बन्ध हुआ था जैसा आजकल था । बाल्यावस्था में रश्केमुनीर को देख मेरा मन बिना किसी स्पष्ट काम-चेतना की भावना के उसकी ओर आकृष्ट अवश्य हुआ था, परन्तु आजकल के अंग्रेजी नाच और स्केटिंग में जो नित नयी अंग्रेज तथा एँग्लो-इण्डियन लड़कियों से मेरा सम्पर्क होता था वैसा भी विवाह के समय कोई आयोजन न था। अतः उस समय अपनी ऐसी पत्नी को देख मेरे मन की जो अवस्था हुई थी उसमें और आज की स्थिति में अन्तर था ।

अब मैं काम-चेतना सम्बन्धी बातों को स्पष्ट समझता था, उसके कारण मेरा मन विक्षुब्ध भी रहता था। मेरी इस विक्षुब्धता को मेरी उस नातेदार महिला ने पराकाष्ठा को पहुँचा दिया था। मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में मैंने पाया

एसी पत्नी को जो सौन्दर्य में मेरी उन नातेदार महिला के तलवे की बराबरी भी न कर सकती थी और यद्यपि नाच तथा स्केटिंग में आनेवाली अंग्रेज एवं एँग्लो-इण्डियन छोकरियों के प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था, तथापि उनके सामने भी अत्यन्त कुरूप कही जा सकती थी। अपनी पत्नी को देख हठात् मुझे उस समय तक देखी हुई सभी सुन्दर स्त्रियाँ स्मरण आयीं— रश्केमुनीर, चन्दा वैंलिकर, मेरी नातेदार प्रेयसी, और जिनके प्रति मेरा कोई खिचाव न हुआ था ऐसी अंग्रेज तथा एँग्लो-इण्डियन लड़कियाँ भी। इन सबके स्मरण ने मुझे अपनी पत्नी के प्रति और अधिक विरागी बना दिया, मैं बार-बार अपना भाग्य कोसने लगा। आँसू उमड़-उमड़कर मेरे नेत्रों में भरते और मैं उन्हें पीने का प्रयत्न करता।

विवाह के बाद जो सुहाग रात होती है मेरी वह हुई गौने के पश्चात् जबलपुर आकर तथा उपर्युक्त भावनाओं में। गन्दे साहित्य, अश्लील नाटक और मेरी नातेदार महिला ने मुझे मानसिक दृष्टि से चाहे पवित्र न रखा हो पर शारीरिक दृष्टि से मैं सर्वथा शुद्ध था। सुहाग रात का मुझे जो अनुभव हुआ वह मेरे लिए एकदम नवीन था। मेरी पत्नी के प्रति मेरा आकर्षण न रहते हुए भी इस सुहाग रात ने मुझे उन दिनों के सारे ताप से एक प्रकार की शीतलता-सी दी। मेरा विक्षुब्ध मन सन्तुष्ट-सा हो गया। कुंभीपाक नरक के जिस भय ने मेरी इन्द्रियों पर प्रतिबन्ध-सा लगा रखा था उस बेचैनी से मुझे छुटकारा मिल गया। मेरी जिस पत्नी ने मुझे थोड़ा भी आकर्षित नहीं किया था, वरन् जिसे देख-देखकर न जाने कितने बार मेरे आँसू उमड़े थे उसी ने मुझे एक नयी राहत दी। मैं उसकी ओर आकर्षित हुआ और अब बिना किसी प्रयत्न अथवा स्पष्ट जानकारी के हमारी घनिष्ठता होने तथा बढ़ने लगी।

प्रेम की उत्पत्ति कई प्रकार से होती है। कभी दो सुन्दर व्यक्तियों के एक दूसरे को देखते ही प्रथम दृष्टि में ही, कभी दो व्यक्तियों के साथ-साथ रहते हुए धीरे-धीरे और कभी दो व्यक्तियों का यदि साथ रहना अनिवार्य हो जाय तो उस विवश दशा में। पुरुष और स्त्री के बीच जिन विधियों से प्रणय उत्पन्न होता है उनमें कदाचित् ये तीन ही प्रधान हैं। प्रेम की उत्पत्ति का कौनसा प्रकार श्रेयस्कर है इस विषय में आस्कर वाइल्ड ने एक स्थान पर लिखा है—

"प्रेम रोमांस भावनाओं से आरम्भ नहीं होना चाहिए। उसका आरम्भ होना चाहिए विज्ञान से और अन्तःभावनाओं से।" जो कुछ हो, पर इन तीनों ही प्रकार के प्रेमों में यदि पुरुष और स्त्री पवित्र रहे हों तो क्या पूछना है। यह पवित्रता यदि मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की रही हो तब तो सर्व-श्रेष्ठ, पर मानसिक पवित्रता न रहकर शारीरिक पवित्रता भी रह गयी हो तो भी काम चल जाता है।

अपनी पत्नी के प्रति मेरे प्रेम की उत्पत्ति हमारे अनिवार्य संग के कारण विवश परिस्थिति में हुई थी। मेरी पत्नी तो दोनों ही दृष्टियों से पवित्र थी, पर मैं केवल एक दृष्टि से। कुछ अन्य भी ऐसे कारण हुए, जिससे यह प्रेम बढ़ चला, और केवल बढ़ा इतना ही नहीं, धीरे-धीरे ऐसा दृढ़ और स्थायी हुआ कि जिस पत्नी को देखने से मेरे बार-बार आँसू उमड़े थे वही मेरे सुखी गार्हस्थ्य जीवन का सबसे बड़ा अवलम्ब सिद्ध हुई।

कभी-कभी जर्मनी की इस कहावत में कि "कम अवस्था में विवाह होने पर वृद्धावस्था तक प्रेम रहता है।" मुझे सत्य जान पड़ता है।

मेरी पत्नी अल्पवयस्क और अशिक्षित होने पर भी प्रचक्षण बुद्धिवाली थी और इस बुद्धि ने उसे तीव्र व्यवहार बुद्धि (कामन सैन्स) दी थी, साथ ही वह बड़ी भावुक थी। वह न सुन्दर है, न शिक्षित, तथा उसका विवाह एक सुन्दर और शिक्षित व्यक्ति से हुआ है—इसे वह जानती थी; साथ ही उसे यह भी मालूम था कि आर्थिक तथा सम्मान की दृष्टि से जिस कुटुम्ब में यह जन्मी थी उसका हमारे कुटुम्ब से कोई मिलान न हो सकता था। वह यह भी जानती थी कि वह न मुझे पसन्द आयी है और न मेरी माताजी आदि को। अतः गौने के बाद ससुराल आते ही उसने मुझे तथा मेरे कुटुम्ब को प्रसन्न करने एवं प्रसन्न रखने के लिए स्वयं को हर दृष्टि से समर्पित करने का रास्ता पकड़ा। एक अशिक्षित अल्पवयस्क लड़की का, जिसे मनोविज्ञान कौनसी वस्तु है इसका स्वप्न में भी ज्ञान न था, (और उसे क्या मनोविज्ञान का उस समय ज्ञान ही कितनों को था) मेरे प्रति जैसा समर्पण वाला प्रेम मैंने देखा वह मेरे लिए उस समय तक के अनुभवों में एक नितान्त नवीन अनुभव था। इसी प्रकार माताजी आदि ने उससे जो आदर पाया उसने उन सब के मुख से शीघ्र

ही उसकी प्रशंसा आरम्भ करा दी। मेरे प्रति उसका प्रेम और कुटुम्बी जनों के प्रति आदर कोई दिखावा न था, वह अन्तर-प्रेरणा की वस्तु थी, सत्य सर्वथा सत्य। उस समय इन बातों को मैं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने की शक्ति न रखता था, पर आज जब जीवन का सिंहावलोकन करता हूँ तब उसके महत्त्व को समझ सकता हूँ। मेरी पत्नी का मेरे प्रति यह प्रेम और मेरे कुटुम्बियों के प्रति यह आदर, जो उसके हमारे घर में पैर रखते ही आरम्भ हुआ, वह आज तक वैसा का वैसा चला आता है, उसके माता होने और प्रौढ़ा होने पर भी। मेरी माता तो बड़े सौम्य स्वभाव की थीं, पर मेरी बहन बड़े प्रखर प्रकृति की। वह अनेक बार मेरी पत्नी को बड़ी क्रूर बातें कह देतीं, पर वह कभी भी उसका उत्तर न देती।

मेरे जीवन ने प्रेम का एक नवीन श्रोत देखा। मेरी पत्नी में गौर वर्ण का आकर्षण नहीं था, सौन्दर्य की तड़क-भड़क नहीं थी, काम चेतना को उभारने की कोई सामग्री नहीं थी, पर जो कुछ था वह मुझे केवल उसी समय तक न मिला था, ऐसा नहीं, अब तक भी उसे छोड़ और कहीं नहीं मिला है। इसी अनुभव के कारण सच्चे प्रेम की व्याख्या के सम्बन्ध में मैं तो एक नये निर्णय पर पहुँचा हूँ, जिसे मैंने अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से व्यक्त भी किया है। अपने "इन्दुमती" उपन्यास में कदाचित् मैं इसका सबसे अधिक सफलतापूर्वक विवेचन कर सका हूँ। उसे ही मैं यहाँ उद्धृत कर देता हूँ—

"प्रेम मानवों में ही हो सकता है, पशुओं में नहीं। पशुओं का जीवन उनकी अन्तर्प्रवृत्ति के अनुसार चलता है, मानवों का उनकी मेधा के अनुसार। प्रेम मस्तिष्क की चीज़ न होकर हृदय की चीज़ होने पर भी केवल अन्तर्प्रवृत्ति की नहीं, उससे परे की वस्तु है। वह यथार्थ में पवित्र है। काम-चेतना तो उसके साथ बहुधा इसलिए आ जाती है कि मनुष्यों के भी शरीर तो हैं ही।"

और ऐसे प्रेम के सम्बन्ध में शेक्सपियर का यह कथन कदाचित् सही है—"प्रेम नेत्रों द्वारा न देख मन के द्वारा देखता है।" तो इस प्रकार के प्रेम को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस समय न समझते हुए भी हम दोनों इस प्रेम का आनन्द उठाने लगे। और आज जब मैं उस समय की अपनी मनोवृत्ति पर विचार करता हूँ तो मुझे मालूम होता है कि सच्चा प्रेम चित्त की वृत्तियों की

कैसी काया-पलट कर देता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध साहित्यिक गाल्सवर्दी ने एक स्थान पर लिखा है—"सौन्दर्य, प्रेम और वसन्त हमारे भीतर होने चाहिएँ। पर हा! वे सब बाहर हैं।" आज जब मैं उस समय की बात सोचता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि ये तीनों चीजें हमारे बाहर ही नहीं हमारे भीतर भी थीं।

मेरी पत्नी बहुधा मेरे सौन्दर्य की प्रशंसा करती। पुरुष सोचते हैं कि सौन्दर्य की स्त्रियों में ही जरूरत है, वे चाहे कैसे ही क्यों न हों, पर उन्हें जानना चाहिए कि स्त्रियाँ इसके ठीक विपरीत सोचा करती हैं। और सौन्दर्य के साथ मेरी पत्नी मेरी बुद्धि और ज्ञान की भी सराहना किया करती। मैं बदले में उसके सौन्दर्य और ज्ञान की तो प्रशंसा न कर पाता, परन्तु उसकी पवित्रता और समर्पण की प्रशंसा करता। वह मुझे अनेक बार एकटक देखा करती, इसका बदला मैं भी न जाने कैसे दे सकता। उसमें सौन्दर्य न होने पर भी मैं उसकी ओर उसी प्रकार से देखता रहता, यह न समझते हुए भी कि मैं क्या देख रहा हूँ। एक दूसरे के प्रति हमारे मनों में एक अद्भुत प्रकार के विश्वास की उत्पत्ति हो गयी। यह विश्वास हमारे प्रेम के कारण उत्पन्न हुआ और इस विश्वास ने प्रेम को और बढ़ा दिया। प्रेम से विश्वास बढ़ रहा था और विश्वास से प्रेम। दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध-सा हो गया था। जर्मनी की यह कहावत सर्वथा सत्य है—"प्रेम की सबसे महान् बात यह है कि वह विश्वास उत्पन्न करता है।" और फिर यह प्रेम गहरा भी होता जा रहा था। इसकी दशा उस समय उस तरु के समान थी जो बाहर अपना जितना विस्तार बढ़ाता है उतनी ही उसकी जड़ें भी गहरी होती जाती हैं। जब प्रेम पुराना होने लगता है तब यदि वह सच्चा प्रेम है और लालसा नहीं उसके साथ एक खास तरह के विश्वास की उत्पत्ति होती है। प्रेम के आरम्भिक काल में जो तेजी रहती है वह गहराई में परिणत हो जाती है।

मेरे स्वभाव में एक बात और है। मैं अकेला किसी बात से सन्तोषजनक सुख नहीं भोग पाता। जो सुन्दर दृश्य, यहाँ तक कि नाटक आदि मैंने देख लिये होते हैं, उन्हें अपने साथियों के साथ फिर से देखने से मेरा एक नया मनोरंजन होता है। जिस भोजन सामग्री को मैं खा चुकता हूँ वही साथियों के साथ फिर से खाने में मुझे नया स्वाद आता है। जबलपुर के चारों ओर बड़े

रमणीय दृश्य हैं। भेड़ाघाट में बन्दर कूदनी और धुआँधार, देवताल और उसी के निकट मदन महल, वाटर वर्क्स आदि। मैं अनेक बार इन स्थलों पर पहले भी जाता, पर अब अपनी पत्नी के साथ और अधिक। इतवार की छुट्टी हम लोग प्रायः इनमें से कहीं न कहीं जाकर मनाते और वहीं हमारा वन-भोजन होता। भोजन में ज्यादातर चूरमा और बाटी बनतीं। यह मुझे तब भी बहुत पसन्द थी और अब तक भी वैसी ही पसन्द है। वर्षा ऋतु में यह वन-विहार अधिक होता। जबलपुर में वर्षा आरम्भ होते ही ठण्डक हो जाती है और चारों ओर की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ तथा मैदान एकदम हरे-भरे हो जाते हैं। हम दोनों के मनों को यह हरियाली और अधिक हरा कर देती। भेड़ाघाट की बन्दर कूदनी का दृश्य चाँदनी में बहुत ही सुन्दर हो जाता है। दोनों ओर अस्सी-अस्सी और सौ-सौ फुट ऊँची श्वेत संगमरमर की चट्टानें और बीच में नर्मदा का ढाई तीन सौ फुट गहरा निर्मल नीर। जब चाँदनी में नाव पर हम दोनों इस स्थल पर घूमते तो जान पड़ता जैसे हम किसी स्वप्न-स्थल पर घूम रहे हैं। नया बना हुआ गोविन्द भवन और उसका बगीचा तथा बगीचे का नहाने का हौज तो हमें बहुत ही प्रिय था। गर्मियों में हम वहीं रहते। हौज में जब नहाते कितना पानी उछालते एक दूसरे पर। बगीचे के दूबा के मैदानों में घूमते-घूमते और बेला, गुलाब, चम्पा, रात की रानी आदि की क्यारियों में इन फूलों की सुगन्ध लेते-लेते तो कभी-कभी रात की रात जागते ही बीत जाती। मुझे साहित्य से प्रेम था ही अतः ऐसे अवसरों पर मुझे उत्तर रामचरित नाटक का यह श्लोक याद आ जाता——

> **किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्ति योगा।**
> **दविरलित कपोलं जल्पतोरक्रमेण ॥**
> **अशिथिल परिरम्भ व्यापृतैकैक दोष्णो।**
> **रविदित गति यामारात्रि रेवं व्यरंसीत् ॥**

ये दिन और ये रातें ऐसी होतीं जब खिले हुए पुष्प के दर्शन और सुगन्ध से मस्तिष्क में एक तरह की मस्ती आ जाती है। उस गन्ध से भरी हुई, खास कर रात्रि को रात की रानी की सुवास से सुवासित वायु के झूमते हुए झोंके हृदय में एक प्रकार की हिलोरें उठाते हैं और मानव मूक-सा हो एक अद्भुत प्रकार

के आनन्द का अनुभव करने लगता है। ऐसे समय यदि दो प्रेमियों का संयोग हो। ओह! क्या कहा जाय ऐसे समय के लिए। हमारा सुख उस समय कोई एक ही वस्तु तक परिमित नहीं रहा। हमें हर चीज किसी न किसी तरह का सुख पहुँचाती। यदि हमें एक दूसरे की ओर देखने में सुख मिलता तो एक दूसरे के साथ सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के देखने में भी। यदि हमें एक दूसरे के साथ सम्भाषण में आनन्द आता तो चुप रहकर एक दूसरे के सम्बन्ध में कुछ सोचते रहने में भी। बातचीत तो हमारी कभी समाप्त ही न होती। वार्तालाप का कोई बड़ा भारी विषय न रहने पर भी न जाने यह बातचीत कैसे चलती रहती। और इस बातचीत में कितनी पुनरुक्तियाँ होतीं। प्रेमियों में सबसे अधिक बचपन की बात यह होती है कि वे कही और सुनी बात को ही बारबार दुहराते हैं और इतने पर भी उन्हीं बातों में उन्हें नवीनता का सुख प्राप्त होता रहता है। कभी कोई हँसने की बात न होने पर भी हम हँसने लगते। तब एक दूसरे को और गुदगुदा देते जिससे यह हँसी और भी बढ़ जाती। गर्मियों में हमारा आनन्द बहुत बढ़ जाता, क्योंकि एक तो उन दिनों पढ़ाई बन्द रहने के कारण मुझे बड़ा अवकाश रहता, दूसरे उन दिनों सुगन्धित फूल जैसे बेला, गुलाब, चम्पा इत्यादि बहुत आते। कई बार इन फूलों के गहने बनते और कई बार इन फूलों की पूरी की पूरी सेज।

उत्कटता कदाचित् मेरी उन नातेदार प्रेयसी के प्रेम में अधिक थी, पर वह था प्रधानतया लालसात्मक प्रेम। फिर उसमें छिपा-छिपी के कारण यह स्वच्छन्दता कहाँ थी। इस प्रेम में चाहे वैसी उत्कटता न हो, पर पवित्रता थी, स्वच्छन्दता थी।

आज जब मैं उस समय की अपनी मानसिक वृत्ति पर विचार करता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि इन्द्रियों से प्राप्त सुख सदा त्याज्य नहीं। यदि निसर्ग ने प्राणियों को इन्द्रियाँ दी हैं, उनके द्वारा प्राप्त सुख से मन को सन्तोष मिलता है तो इन्द्रियों की नैसर्गिक अभिलाषाओं का बलपूर्वक दमन उचित नहीं, अस्वाभाविक है, निरर्थक कष्ट देनेवाला; हाँ, इस सुख भोग में संयम, अधिक से अधिक संयम, नितान्त आवश्यक है। परन्तु यह संयम नहीं रख सकते मानव में पाशविक और दैवी दोनों गुणों का इकट्ठा समावेश होने के कारण मान

यह संयम रख सकता है। एक ओर इन्द्रियों का उचित तोष न होने देना यदि प्रकृति के प्रतिकूल है तो दूसरी ओर उनका संयम न करना पशु बन जाना है। किसी ने कहा है—"यदि मानव अपने ही पशु पर सवार हो सके।" मैं इसमें इतना और जोड़ देता हूँ—"और सवार होकर उस पशु को भी जिन्दा रहने दे, उसे मार न डाले।"

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता—ये छहों कहे जानेवाले दोष गुण भी हैं। बिना काम के किसी कार्य का संकल्प ही नहीं होता; क्रोध से रहित मानव तेज से रहित हो जाता है; लोभ बिना निष्क्रियता आती है; प्रेम की नींव ही मोह है; आत्माभिमान मद बिना कहाँ; और संसार का सबसे बड़ा संचालक कोई भी राजतन्त्र मत्सरता से रहित होकर चल ही नहीं सकता। एक सीमा तक ये दोष गुण रहते हैं, पर उस सीमा का उल्लंघन कर दोष हो जाते हैं। हर बात की सीमा बाँधना ही इस संसार में प्रधान बात है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के विषय में भी यह बात कही जा सकती है। जब कभी मैं इन बातों को सोचता हूँ तब मुझे कभी पढ़ा हुआ एक संवाद और याद आ जाता है—"बिना पुरुष के सम्पर्क के न स्त्री सच्ची स्त्री हो सकती और स्त्री के सम्पर्क के बिना पुरुष न सच्चा पुरुष। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति स्त्री और पुरुष दोनों को बनाती ही क्यों?" "पर कई ऐसे प्राणी भी हैं जो द्विलिंग हैं।" "हाँ, निम्नतम स्तर के। विकास के बाद तो पृथक् लिंग के प्राणी होने लगे तथा अन्त में हुए स्त्री-पुरुष।"

इस प्रेम को पाकर मेरी पत्नी का जीवन भी सफल हो गया। एक पश्चिमी उपन्यासकार विकी बाम ने ठीक लिखा है—"जिस स्त्री पर प्रेम किया जाता है वह जीवन में सदा सफल होती है।"

सौन्दर्य तो मैं अपनी पत्नी में ला न सकता था, परन्तु उसे शिक्षित कर सकता था, सभ्य एवं सुसंस्कृत बना सकता था। मैंने उसे पढ़ाना शुरू किया और उसने बड़े चाव से पढ़ना। केवल शिक्षा से कोई सभ्य तथा सुसंस्कृत नहीं बनता। अनेक अशिक्षित भी सभ्य एवं सुसंस्कृत रहते हैं और कई शिक्षित भी असभ्य तथा असंस्कृत। परन्तु सभ्य एवं सुसंस्कृत होने के लिए बहुधा शिक्षा आवश्यक होती है और सभ्य एवं सुसंस्कृत लोगों के अधिकतर व्यक्ति शिक्षित

ही रहते भी हैं। मैं उन दिनों शिक्षा को बहुत महत्त्व देने लगा था और अपनी पत्नी को अपने तथा समाज के योग्य बनाने के लिए मैं सबसे अधिक आवश्यकता उसे शिक्षित करना मानता था।

मेरी पत्नी ने अन्य दृष्टियों से भी अपने को मेरे घर के योग्य बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इन प्रयत्नों में उसका सबसे अधिक ध्यान था धार्मिक दृष्टि से मेरे कुटुम्ब के अनुकूल बनने का। उसकी भी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षा हुई और हमारे कौटुम्बिक मन्दिर की ओर उसकी भी निष्ठा बढ़ चली। हमारे घर का वायुमण्डल ही ऐसा था और आज भी है जिससे मन्दिर को पृथक् रखा ही नहीं जा सकता। जैसा पहले कहा जा चुका है मेरी पत्नी में सौन्दर्य न था, प्रयत्न करने पर भी मैं उसे उस प्रकार का शिक्षित न बना सका जिसे आधुनिक युग में शिक्षित कहा जा सकता है, परन्तु अपने स्वभाव की स्वाभाविक सौम्यता तथा अनजाने ही समर्पण प्रेम का पथ पकड़, हमारे कुटुम्ब के लिए अपने को सर्वथा अनुकूल बना, वह हमारे घर के लिए तो महाकवि मिल्टन के निम्नलिखित कथन के अनुरूप हो गयी। "उसके हर कदम में सादगी थी, उसकी आँखों में थे दैवी गुण। उसकी हर कृति में था आत्मसम्मान और स्नेह। प्रेम, माधुर्य और अच्छापन उसके व्यक्तित्व में चमकता था, उसमें छिपी हुई शक्ति थी, वह शक्ति थी स्वर्गीय।"

और उसे इस प्रकार देखकर मुझे कई बार याद आ जाता है कारलाइल का यह कथन—"स्त्रियाँ जन्मजात पूजक हैं।"

मेरी पत्नी के कारण ही हमारा कौटुम्बिक जीवन कौटुम्बिक दृष्टि से सुख का एक खजाना रहा है। और इस कोष की कुंजी सदा मेरी पत्नी के पास रही है। आज भी उन्हीं के पास है।

साथ ही मुझे यूनान के प्रसिद्ध नाटककार यूरिपिडस का यह कथन भी सर्वथा सत्य जान पड़ा है—"मनुष्य की सबसे अच्छी सम्पत्ति है सहानुभूति से भरी हुई पत्नी।"

इस समय मेरे कुछ मित्र भी हो गये थे। इनमें प्रधान दो थे—जबलपुर के श्री छोटेलाल अग्रवाल और जयपुर के हमारे एक नातेदार श्री रूपनारायणजी करवा। रूपनारायणजी अब हमारे यहाँ जबलपुर में ही रहने लगे थे। अग्रवालजी तो अभी भी हैं, परन्तु खेद है कि रूपनारायणजी का युवावस्था में ही देहान्त हो गया।

अंग्रेजों के प्रति मेरा नया रुख

जिस १५, १६ वर्ष की अवस्था की इसके पहले अध्याय की घटनाएँ हैं और जिस समय मैं मैट्रिक का पाठ्यक्रम पढ़ता था उन दिनों खाने-पीने के मामलों को छोड़ अन्य बातों में मैं पूरा साहब बहादुर हो गया था। खाने-पीने के विषय में यदि धार्मिक प्रतिबन्ध न होते तो इस सम्बन्ध में भी मैं अंग्रेजों का अनुसरण करता।

उन दिनों सारे देश में वही हवा बह रही थी। देहातों को छोड़ जो शहर सभ्य लोगों के रहने के स्थान माने जाते थे, वहाँ वेष-भूषा, रहन-सहन, बोल-चाल, पत्र-व्यवहार, आपस में मिलने-जुलने का ढंग, आदि सब पश्चिमी हो गये थे। सबसे सरल था वेष-भूषा का परिवर्तन। यह मामूली से मामूली आदमी भी कर सकते थे। देश गरीब था। देश के शहरों में रहनेवाले भी अधिकांश तंग गलियों के छोटे-छोटे गन्दे मकानों में ही रहते थे, पर उनमें से जिन्होंने भी थोड़ी-सी अंग्रेजी पढ़ ली थी वे भी पश्चिमी वेष-भूषा को ही सभ्य मानते और चाहे उनकी नैकटाई अथवा बो ठीक ढंग से न बँधती, चाहे उनके पतलून का सामने का क्रीज ठीक न रहता, चाहे उनके मोजे गन्दे रहते और जूते का फीता ठीक न बँधता, पर वे पहनते थे अंग्रेजी फैशन के ही कपड़े। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी न जाने उस समय क्यों इस पर विचार न करता कि पश्चिमी वेष-भूषा इस गरम देश के वायुमण्डल के अनुकूल नहीं है। अंग्रेज ठण्डे देश के निवासी थे अतः अनेक बार वे गरमियों में भी गरम कपड़े पहन लेते। हमारे अनेक बन्धु इस सम्बन्ध में भी उनकी नकल करते और जेठ की गरमी में गरम कपड़े पहनकर कहते—"आह! इस गरमी में ये कपड़े कैसी ठण्डक देते हैं।" जिस प्रकार आजकल यह प्रचार हुआ है कि गरमी में गरम चाय ठण्डक देती है उसी प्रकार उस समय कुछ लोगों में प्रचार हुआ था कि गरमी में गरम कपड़े ठण्डक देते हैं। जो मोजे आज गन्दी चीज

समझे जाते हैं, और जिन्हें आज अंग्रेज, अंग्रेजी ढंग से रहनेवाले एँग्लो-इण्डियन और पारसी भी बहुत कम पहनते हैं, उन मोजों का न पहनना तो उस समय असभ्यता माना जाता था। वेष-भूषा बदलना जितना सरल था, रहन-सहन बदलना नहीं, क्योंकि रहन-सहन बदलने के लिए सबसे पहले मकान की बनावट में परिवर्तन आवश्यक होता है, जो बहुत कम लोगों के बूते की बात रहती है। पर जो मकान भी बदल सकते थे उन्होंने यह भी किया था। ऐसे लोगों ने शहर के बाहर बंगले बनवा वहाँ रहना शुरू कर दिया था। सरकारी नौकरी में जो भारतीय थे वे तो अंग्रेजों के सदृश बंगलों में रहते ही थे। ये बंगले पश्चिमी रहन-सहन के अनुकूल बनते और यहाँ जो लोग रहते वे तो अपने को अंग्रेजों का सहोदर ही मानते थे। दो अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों की बातचीत तथा पत्र-व्यवहार भी अंग्रेजी में होता और जिस व्यक्ति का अंग्रेजी भाषा का उच्चारण और लेखन अंग्रेजों के समान होता वह उतना ही बड़ा विद्वान माना जाता। काशी के संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों तक की अपेक्षा अच्छी अंग्रेजी बोलने और लिखनेवाले साधारण से साधारण पठित व्यक्ति का अंग्रेजी के कारण अधिक सम्मान होता। इस सम्बन्ध में तो आज भी बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है। मिलने-जुलने के समय जो प्रथम बात अभिवादन है, उस तक में अंग्रेजी आ गयी थी। दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने की हमारी भारतीय प्रथा, थोड़ा झुककर एक हाथ को कई बार उठा आदाब बजाने का मुस्लिम तरीका, दोनों समाप्त होकर एक हाथ उठा और कभी-कभी तो एक उँगली उठा दूर से, और घनिष्टता होने पर हाथ मिला नजदीक से, अभिवादन करने की चाल हो गयी थी। शेष व्यवहारों में भी हर जगह हर बात में विलायती बू भर गयी थी। हमारा देश एक प्राचीन देश है, उसका एक पुराना इतिहास, एक पुरानी संस्कृति है, उसकी भी अपनी भाषा है, इनमें से कोई भी बात हमारे अधिकांश शिक्षित समुदाय को कदाचित् याद ही न रह गयी थी। अंग्रेजों की नकल, हर बात में नकल, छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बात में नकल, नकल बस नकल! राजनैतिक गुलामी से भी कहीं बदतर यह गुलामी थी। और इसका सबसे बुरा जो फल निकला था वह था इन मुट्ठी भर शहराती शिक्षितों और देश के नब्बे फीसदी देहातों में रहनेवालों के

बीच की खाई। साथ ही इससे हमारी प्रतिष्ठा बढ़ी हो यह भी नहीं। गांधीजी के सार्वजनिक जीवन की बागडोर सँभालने के बाद हमें इस बात का ज्ञान हुआ। इसका कारण सैम्युअल जानसन के शब्दों में सुनिए "आचरण उस समय प्रायः हर दृष्टि से हास्यास्पद हो जाता है जब उनकी नकल की जाती है जिनसे हम सर्वथा भिन्न रहते हैं।"

मेरी वेष-भूषा ही नहीं बदली थी, उन्हीं दिनों मेरे पिताजी ने जबलपुर की सिविल लाइन में "गोविन्द भवन" नामक जो एक कोठी बनवायी थी उसके कारण रहन-सहन में भी काफी परिवर्तन हो गया था। इस समय हमारे घर का नकद रुपया प्रायः समाप्त हो गया था, जायदाद बहुत बड़ी थी, पर खर्च आमदनी से अधिक था और कर्ज होना आरम्भ हो गया था। इतने पर भी इस कोठी के बनाने में कई लाख रुपया खर्च हुआ था। भव्य भवन था, सुन्दर आरायशी सामान और नौ एकड़ हाते में अच्छे से अच्छा बाग। मुझे उस ज़माने के अनुसार सभ्य बनाने का प्रयत्न किया गया था अतः मैं टेनिस और बिलियर्ड बहुत अच्छा खेलता, अंग्रेजी बॉल में अच्छी तरह नाच सकता था और जबलपुर में एक "स्केटिंग रिंक" में मैंने अच्छा स्केटिंग भी सीख लिया था। गोविन्द भवन में इन दोनों चीजों की भी व्यवस्था थी। अंग्रेजी तो मुझे अंग्रेज अध्यापकों तक ने पढ़ायी थी अतः मैं मैट्रिक का पाठ्यक्रम पढ़ते हुए भी अंग्रेजों के उच्चारण के सदृश ही अंग्रेजी बोल सकता था।

जिन लोगों ने पश्चिमी रहन-सहन को अपनाया था उनमें से कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अपने को अंग्रेजों के बराबरी का सिद्ध करने के उद्देश्य से यह किया था, क्योंकि राष्ट्रीयता की भावनाएँ, जिनका वर्णन पहले आ चुका है, दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही थीं। मुझे बचपन में ही अपने पितामह का और बाद में पिताजी का अंग्रेजों से व्यवहार का तरीका अच्छा न जान पड़ता था। यद्यपि मुझे भी वही तरीका सिखाया गया था, और आरम्भ में मुझे अंग्रेजों से वैसा ही व्यवहार करना भी पड़ा, परन्तु मैं बहुत समय तक उसे न कर सका। समझ आने पर मुझे इस बात पर आश्चर्य होता कि आत्मसम्मान को सर्वोच्च स्थान देनेवाले मेरे पितामह और पिता अंग्रेजों के साथ इस प्रकार का बर्ताव कैसे कर सकते हैं। मैट्रिक के पाठ्यक्रम के साथ मुझे इतिहास भी पढ़ाया

जाता था और इस इतिहास में जब मैंने अंग्रेजों के इस देश में आने तथा उनके राज्य जमाने का सारा वृत्त पढ़ा तब तो मुझे अंग्रेजों से ग्लानि हो गयी। इस समय मेरे शिक्षक थे कानपुर के एक हाई स्कूल के रिटायर्ड हेड मास्टर राय-बहादुर पंडित विश्वम्भरनाथ ठुलल। विश्वम्भरनाथजी की शिक्षा-जगत में काफी प्रतिष्ठा थी और यद्यपि वे रायबहादुर थे तथापि अंग्रेजों के मित्र न होकर शत्रु। उन्होंने अंग्रेजों के प्रति मेरी इन भावनाओं को और उभारा तथा उस समय बंगला भाषा की एक पुस्तक जिसके हिन्दी अनुवाद का नाम "देश की बात" थी और जो जब्त हो गयी थी, मुझे पढ़ने को दी। इस पुस्तक का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बहुत प्रयत्न करने पर भी मुझे यह पुस्तक अब न मिल सकी, अन्यथा मैं इसके कुछ उद्धरण यहाँ अवश्य देता।

अंग्रेजों के प्रति ग्लानि की भावनाओं का तथा उनके प्रति अपने पितामह, पिता और अपने पुराने व्यवहार का परिमार्जन करने को मैं पूरा साहब बहादुर बन गया। अब अंग्रेजों से मैं बराबरी का व्यवहार करता। अपनी मोटर या बग्घी को उनके बंगलों के पोर्टिगो से दूर खड़ा कर, उन्हें नम्र भाव से उनके चपरासी द्वारा खबर दिलाना और जूते उतारकर उनके कमरे में घुस उन्हें झुककर सलाम करना, तो दूर की बात थी उनके बंगलों पर बिना निमन्त्रण के मैं कभी न जाता, जहाँ कहीं उनसे मिलता उन्हीं के ढंग से। एक झटके से हाथ मिला उन्हीं के से स्वर में कहता—"हाउ डू य डू।" गोविन्द भवन में टेनिस होती, बिलियर्ड खेली जाती, कई बार नाच होता और स्केटिंग भी। नाच प्रायः गार्डन पार्टियों तथा एटहोम के समय होता। इन सब अवसरों पर अंग्रेज, एँग्लो-इण्डियन मर्द तथा औरतें गोविन्द भवन में आते और वहाँ मैं उन पर उल्टी अपनी धाक जमाने का प्रयत्न करता। नाच और स्केटिंग के समय अंग्रेज और एँग्लो-इण्डियन लड़कियाँ भी बहुत आतीं। जबलपुर के फर्स्ट क्लास मिलिटरी स्टेशन होने के कारण इनकी संख्या यथेष्ट थी। नाच में वे कितनी आतुर रहतीं प्रायः सभी मेरे साथ नाचने के लिए। कभी नाचते हुए और कभी स्केटिंग के समय जान-बूझकर मेरा सहारा प्राप्त करने अथवा कभी-कभी मुझ पर गिर तक पड़ने के समय कैसी मुद्राएँ रहतीं इनमें से अधिकांश की। इनमें कई काफी से अधिक सुन्दर भी रहतीं और यौवन तो कई का फटा-सा

पड़ता, परन्तु जैसा इनका मेरे प्रति आकर्षण रहता वैसा मेरा इनके प्रति थोड़ा भी नहीं। मैं इनकी उस समय की मुद्राएँ और मेरी निर्लिप्तता के कारण इनकी निराशा तथा उद्विग्नता देख-देख कर प्रसन्न होता। अंग्रेजों के प्रति उस समय की मेरी भावनाओं को इससे सन्तोष मिल रहा था।

बहन का विवाह और उसमें मुझसे सम्बन्धित एक नयी घटना

मेरी पत्नी की और मेरी घनिष्ठता तथा प्रेम बढ़ रहा था। मैं उसे पढ़ाने और सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु हमारे इस सम्बन्ध में एक नयी बाधा उपस्थित हो गयी। यह मेरी बहन के विवाह के समय।

मेरी बहन की सगाई मेरे पितामह ही कर गये थे। इस विषय में उन्होंने एक नयी बात की थी। यद्यपि उस समय मारवाड़ियों में जैसी प्रतिष्ठा मेरे पितामह की थी वैसी किसी की नहीं और मेरी बहन का सम्बन्ध धन तथा सम्मान दोनों ही दृष्टियों से जो देश में अच्छे से अच्छा माहेश्वरियों का कुल होता उसमें हो सकता था, पर मेरे पितामह ने मेरी बहन को गरीब से गरीब कुटुम्ब में देने का निर्णय किया। उन्होंमे इस विषय में कहा—"किसी धनवान को मेरी पोती देने से उसके धन में ही मेरा दिया हुआ दहेज का धन मिल जायगा अतः मैं एक ऐसे कुटुम्ब में इस लड़की को देना चाहता हूँ जो अत्यन्त निर्धन हो और उसे मैं धनवान बना दूं।" उनका यह निर्णय सुनते ही कितने माहेश्वरी कुटुम्ब लपके। अन्त में पंजाब के मुल्तान नगर की हमारी दूकान के चालीस रुपया माहवारी तनख्वाह पाने वाले नरसिंहदासजी बींझानी नामक एक मुनीम के पुत्र चमनलालजी से मेरी बहन की सगाई की गयी और उसी समय मेरी बहन को तीन लाख रुपये का दहेज देना भी मेरे पितामह ने तय कर दिया।

मेरी बहन का विवाह उसकी ग्यारह वर्ष की अवस्था में हुआ। मेरे पितामह नहीं थे, पर मेरी दादी थी। इस विवाह की भी मेरे विवाह के सदृश ही घूमधाम रही।

इस विवाह की महफिलों में जिन वेश्याओं का नाच-गाना हुआ उनमें दिल्ली की एक बिब्बो जान थी। इस बिब्बो जान पर मेरे कुछ युवक मित्रों

की आसक्ति हो गयी और उनमें से कुछ ने मुझे भी इस ओर घसीटा। इनमें से एक व्यक्ति से मेरा कुछ अधिक सम्बन्ध था। मैं इस ओर घसिट तो गया पर हिचकिचाहट मेरे मन में रही। मेरी यह हिचकिचाहट उस व्यक्ति से छिपी न रह सकी और हम लोगों का कुछ इस तरह वार्तालाप हुआ। उसने कहा—"भाई, मजे के ऐसे मौके पर दिल खोलकर मजा लूटना चाहिए, नहीं तो फिर मजा ही नहीं आता। देखता हूँ कि तुम्हारे चेहरे पर तो हवाइयाँ उड़ रही हैं। डर रहे हो क्या ?"

ऐसे अवसरों पर मनुष्य साथियों के सामने किसी प्रकार की भी कमजोरी का प्रदर्शन नहीं करना चाहता और यदि उसमें कोई कमजोरी आती भी है तो वह दिखाना यही चाहता है कि उसमें कोई कमजोरी नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मैंने सब तरफ से अपनी ताकत बटोरते हुए उत्तर दिया—"डरने की क्या बात है, हवाइयाँ तुम्हारे चेहरे पर उड़ती होंगी, मेरे चेहरे पर क्यों उड़ने लगीं ?"

परन्तु कुम्भीपाक नरक का दृश्य अभी भी मेरे सामने था अतः मैं बहुत देर तक अपना साहस न रख सका और मैंने अपने उस साथी को अलग एकान्त में लेकर अपने मन के सच्चे भय को बता दिया।

मेरी बात सुन वह अट्टहास कर बोला—"भई, तुम भी खूब हो। मैंने तो आज तक तुम्हारे माफिक आदमी ही नहीं देखा। कैसा नरक सरग ! तुम्हें इन वाहियात बातों पर विश्वास है ?"

मैंने गम्भीरता से उसके सामने अपने विश्वास का प्रतिपादन किया। जब उसने देखा कि मजाक उड़ाने से काम न चलेगा तब वह कुछ देर विचार में पड़ गया और अब वह भी गम्भीर होकर बोला—"अच्छा, कुछ देर को यदि मैं भी यह मान लूं कि नरक होता है और जो लोग पर-स्त्री-गमन करते हैं उन्हें कुम्भीपाक नरक में लोहे की तपी हुई स्त्रियों का संग करना पड़ता है तो भी वेश्या तो किसी की स्त्री नहीं। यहां पर-स्त्री-गमन का सवाल ही नहीं उठता।"

मेरे इस मित्र की इस दलील का मेरे पास कोई अकाट्य उत्तर न था। फिर अपनी कमजोरी और डर का प्रदर्शन मुझे अत्यन्त अरुचिकर जान पड़ता

था और बिब्बो के प्रति मेरा आकर्षण भी था। इस आकर्षण में जो नरक की बाधा आ रही थी वह मेरे इस मित्र के तर्क ने बहुत दूर तक दूर भी कर दी। मैं स्वयं मन ही मन सोचने लगा—"ठीक ही तो कह रहा है यह। वेश्या किसी की स्त्री नहीं।"

अन्त में राजा गोकुलदास महल के "बादल महल" नामक स्थान पर बिब्बो जान की एक प्राइवेट महफिल का प्रबन्ध हुआ, जिसमें मेरे कुछ मित्रों के साथ मैं उपस्थित था।

सार्वजनिक महफिलें तो मैं अपने बचपन में, विवाह में, और बहन के इस विवाह में न जाने कितनी देख चुका था, परन्तु प्राइवेट महफिल का यह नया आयोजन था। तबला ठनका, सारंगियाँ बजीं और बिब्बो जान ने बड़ी अदाओं के साथ जिस गाने को गाना आरम्भ किया वह आज भी मुझे जैसा का वैसा याद है। गान था—**नजरियों की कारी कटारी मोहे मारी।**

मन हर लीन्हों बाँके साँवरिया ने जब से दर्शन दीन्हों॥

गाने में कोई विशेषता नहीं थी, पर नजरियों की कारी कटारी कैसी थी, किस प्रकार वह मारी गयी, बाँके साँवरिया ने कैसे दर्शन दिये और किस तरह मन हर लिया, यह सब अदाओं में जिस प्रकार बताया गया वह सचमुच ही विशेषता रखता था। मैंने बिब्बो के उस एक्टिंग से अच्छा एक्टिंग अब तक नहीं देखा है। सचमुच ही उसने जिसे समा बाँधना कहते हैं, वह समा बाँध दिया था।

एकाएक रंग में भंग हो गया। न जाने मेरी माताजी को यह सब हाल कैसे मालूम हो गया। वे धड़धड़ाती हुई बादल महल में पहुँचीं। बिना एक शब्द भी कहे लपककर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे घसीटती हुई बादल महल से उतार अपनी अटारी में ले चलीं। वहाँ पहुँच वे फूट-फूटकर रो पड़ीं। और रोते-रोते उन्होंने कुछ इस प्रकार कहा—"तेरे पीछे मैं अपने दिन निकाल रही थी। इस सोने के ही नहीं, हीरे और जवाहरातों के घर में भी आकर मुझे न कभी सुख मिला और न चैन। सोचा था तेरे बाप ऐसे हैं तो क्या हुआ, तू अपने दादा के माफिक निकलेगा, मुझे सुख देगा, घर की इज्जत-आबरू बढ़ायगा; पर तू भी वही रास्ता पकड़ रहा है। मुझे अगर किसी बात का

घमण्ड था तो इसका कि तू मेरा लड़का है। तेरे कारण मैं सवा हाथ लम्बी नाक रखे चलती थी, पर तूने उसे आज कटवा दिया।"

रोने की अवस्था में भी माताजी के स्वर में कूट-कूटकर तेजस्विता भरी हुई थी। मैंने अब तक करुण और रौद्र दोनों रसों से मिश्रित माताजी की ऐसी मूर्ति कभी न देखी थी। लज्जा, भय और दुःख ने मुझे भी रुला दिया।

माताजी ने जो कुछ जीवन भर सहा था, उसे मैं अब भली भाँति समझने लगा था और यह सब सहने के बाद भी उनका जो आदर्श चरित्र रहा था वह विरल व्यक्तियों में ही देखने को मिल सकता है। रोते-रोते तथा हिचकियाँ लेते-लेते मैंने उनके चरणों पर अपने दोनों हाथ रखकर प्रतिज्ञा की कि अब जीवन भर मुझ से ऐसी कृति कदापि नहीं होगी। आगे के जीवन में क्या होगा सो तो मैं नहीं जानता, परन्तु अब मेरी ५८ वर्ष की अवस्था है और १६ वर्ष की अवस्था में की हुई इस प्रतिज्ञा का इस ५८ वर्ष की अवस्था तक मैंने अक्षरशः पालन किया है। कई बार मेरा मन विचलित नहीं हुआ यह मैं नहीं कहता, परन्तु माताजी के चरणों पर हाथ रखकर की हुई इस प्रतिज्ञा ने मुझे ठीक रास्ते पर चलाने में सदा बल दिया है। माताजी ने उस दिन जो एक बात कही थी वह जीवन की इस लम्बी अवधि में न जाने कितने बार मेरे मन में उठी है। उन्होंने कुछ इस प्रकार कहा था कि "मुझे अगर किसी बात का घमण्ड है तो इस बात का कि तू मेरा लड़का है। तेरे कारण मैं सवा हाथ लम्बी नाक रख के चलती थी।" सुन्दरता, अच्छी तन्दुरुस्ती और पढ़ने-लिखने में जिसे उन दिनों अच्छा जहन कहा जाता था इन तीन बातों के सिवा मुझ में कम से कम उस समय कोई ऐसी महत्ता न थी जिसकी वजह से माताजी के मन में मेरे कारण कोई गर्व रह सकता अथवा वे लम्बी नाक रख सकतीं। पर बाद में जब साहित्य से मेरा अनुराग बढ़ा और जब मैंने डिकिन्स का एक कथन पढ़ा तब मुझे माताजी की ऐसी मनस्थिति क्यों थी, इसका पता लग गया। डिकिन्स ने एक जगह लिखा है—"घमण्ड महापातकों में एक है, परन्तु अपने बच्चों के लिए माता में घमण्ड रहता ही है और माता के घमण्ड को यह विशेषण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह विश्वास और आशा इन दो मौलिक गुणों के मिश्रण का परिणाम है।"

इस महफिल के सम्बन्ध में अपनी पत्नी की उदारता को देख कर भी मैं दंग रह गया। उसे यह सारा काण्ड मालूम हो गया था, पर उसने इस विषय में मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा। जब मैंने यह चर्चा छेड़ी तब भी वह मुस्करा कर चुप रह गयी। उसके इस व्यवहार ने मुझे उसकी ओर और अधिक आकृष्ट कर दिया।

दिल्ली दरबार

सन् १६११ के अन्त में दिल्ली में बादशाह पंचम जार्ज की तख्तनशीनी का दरबार होने वाला था। यद्यपि सन् १६०३ में, जब भारतवर्ष के वाइसराय लार्ड कर्जन थे, उस समय भी, बादशाह सप्तम एडवर्ड की राजगद्दी का दिल्ली में ही दरबार हुआ था, पर उस समय दरबार किया था लार्ड कर्जन ने बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में, इस बार बादशाह पंचम जार्ज स्वयं भारतवर्ष आकर यह दरबार करने वाले थे। ब्रिटिश राज्य की इस देश में स्थापना होने के बाद पहली बार बादशाह यहाँ आ रहे थे।

दरबार की तारीख के बहुत पहले से दरबार की तैयारी आरम्भ हो गयी थी। इस समय संसार में ब्रिटिश साम्राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर था। इतना फैला हुआ वह राज्य था कि कहा जाता था कि उस राज्य में सूर्य नहीं डूबता था। अंग्रेजों के पास भूमि ही सबसे अधिक थी, यह नहीं, धन शक्ति भी सबसे अधिक थी। यह धन और शक्ति अधिकतर भारत से संचित हुई थी। अमरीका और रूस का उस समय संसार में कोई विशिष्ट स्थान न था। अमरीका बढ़ खूब रहा था, पर उस समय तक दुनिया में वह अपना कोई खास स्थान न बना पाया था और रूस तो उस समय तृतीय श्रेणी के राज्यों में था। विस्तार, धन और शक्ति के कारण संसार की राजनीति भी अंग्रेजों के हाथ में थी और इस राजनीति को हाथ में रखने के लिए उन्हें अपनी शान-शौकत का प्रदर्शन भी आवश्यक था। इस प्रदर्शन के लिए भारतवर्ष ही सबसे उपयुक्त स्थान था। इसके कई कारण थे। भारत साम्राज्य का सबसे प्रधान हिस्सा था, धन और जन दोनों ही दृष्टियों से। भारत अपनी ऐतिहासिक परम्परा के कारण ऐसा देश था जहाँ शान-शौकत के प्रदर्शनों का बड़ा प्रभाव पड़ता था। भारत में छोटे-बड़े छः सौ राजे-महाराजे तथा अनेक ताल्लुकेदार, जमींदार, मालगुजार, पदवीधारी आदि थे और इनके कारण भारत में अब तक सामन्त-

शाही समाज रचना की ही प्रधानता थी। कुछ पूंजीपति पैदा अवश्य हो गये थे, पर उनका अभी इतना ऊँचा स्थान न हो पाया था, जितना सामन्तों का था। यही सामन्तशाही सामाजिक रचना भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य की रीढ़ की हड्डी थी। राजनैतिक अथवा आर्थिक आन्दोलनों की उस समय तक न यहाँ जड़ जमी थी और न जनता के नेताओं का कोई खास अनुसरण ही था।

इस पृष्ठभूमि में दरबार की दिल्ली में तैयारी आरम्भ हुई। यद्यपि दिल्ली उस समय भारत की राजधानी न था, परन्तु यही सबसे बड़ा शाही शहर माना जाता था। अंग्रेजी राज्य के पहले सल्तनत मुगलिया यहीं फूली-फली थी।

दरबार जहाँ होने वाला था उस स्थल को दरबार के लिए उपयुक्त बनाने की सरकार महान् वैभवशाली तैयारी कर रही थी और दरबार में जिन छः सौ राजा-महाराजाओं, जिन ताल्लुकेदारों, जमींदारों, मालगुजारों, जिन पदवी-धारियों, जिन समाज के ऊँचे तबकों के अन्य लोगों को निमंत्रण दिया गया था, उन्होंने वहाँ आने की अपनी शानदार तैयारी आरम्भ की थी। मेरे ताऊ को दीवान बहादुरी का खिताब था और मेरे पिता को रायबहादुरी का। दोनों मध्य प्रदेश के सबसे बड़े मालगुजार भी थे, इसलिए इन्हें भी दरबार के निमंत्रण मिले थे। मेरे ताऊ ने तो अपने दिल्ली आने की साधारण-सी व्यवस्था की थी, पर मेरे पिता जी ने किसी राजा-महाराजा से कम नहीं। हमारे पूरे कुटुम्ब का इस महान् अवसर पर दिल्ली जाना तय हुआ था।

जिस स्थल पर दरबार होने वाला था, वहाँ एक विशाल भूखण्ड के बीचों-बीच बादशाह के बैठने का सुनहरी गुम्मजवाला एक मण्डप के सदृश स्थान बनाया गया। बादशाह के बैठने की जगह काफी ऊँची थी और उस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ थीं। इस मण्डप के चारों ओर यथेष्ट भूमि छोड़कर दरबारियों के बैठने की अर्द्ध चन्द्राकार इमारतें बनीं। सारा का सारा स्थल अत्यधिक विस्तृत था और सुन्दरता से सजाया गया।

राजा-महाराजाओं और रईसों ने अपने-अपने ठहरने के विशाल कैम्प बनवाये और इनमें से भी अधिकांश सुन्दरता से सजे। महाराजा काश्मीर का कैम्प सबसे अधिक आकर्षक था। यह चारों ओर से लकड़ी की ऊँची चहार दीवारी

से घिरा था जिसमें बीच-बीच में ऊँचे-ऊँचे लकड़ी के ही फाटक थे। इस लकड़ी पर काश्मीर की कारीगरी का सुन्दर काम था।

हमारा कैम्प भी अच्छा ही बना, पर कैम्प में कोई खास विशेषता नहीं थी। हमारे यहाँ की विशेषता हमारे घोड़े थे। यद्यपि मोटरों का उस समय काफी प्रचार हो गया था, पर घोड़ों की मोटरों से अधिक इज्जत थी। मोटर उस समय अमरीका की इतनी अच्छी नहीं मानी जाती थी जितनी इंग्लैण्ड की और इंगलैण्ड की मोटरों में सबसे अच्छी थी रोल्स रायस। हमारे यहाँ रोल्स रायस भी थी और उसके साथ दूसरी भी कोई एक सौ गाड़ियाँ। इनमें से कुछ दिल्ली भी गयीं। पर हमारी मोटरों के सदृश मोटरें अन्य राजा-महाराजाओं के पास भी थीं। घोड़ों की चौकड़ी जैसी हमारी थी वैसी किसी की नहीं, खुद बादशाह पंचम जार्ज की भी नहीं। उस समय गाड़ी में जोतने वाले घोड़ों में सबसे अच्छी नस्ल के आस्ट्रेलिया के वैलर घोड़े माने जाते थे, पर इन वैलर घोड़ों से भी अंग्रेजी नसल के घोड़े अच्छे समझे जाते थे। आस्ट्रेलिया की वैलर नसल और इंगलैण्ड की एक अन्य नसल को मिलाकर ये अंग्रेजी नसल तैयार की गयी थी। हमारी चौकड़ी इसी नसल की थी। इन घोड़ों की विशेषता यह थी कि चलने के समय ये अपनी गर्दन मोर के सदृश रखते और टापें इतनी ऊँची उठाकर चलते कि इनके दोनों सामने के घुटने इनके ओठों को छूते हुए जान पड़ते, ऐसा लगता जैसे ये ओठों से अपने घुटनों को चूमते हुए चल रहे हैं। यह चौकड़ी सफेद रंग की थी और इसके लिए एक चाँदी की लैण्डो बग्घी तथा चाँदी के पुरजों से मढ़ा हुआ चमड़े का साज बनवाया गया था। चाँदी की बग्घी और इस साज पर यत्र-तत्र सोने का मुलम्मा था। कोचवान, सईसों आदि की वर्दी नीले मखमल की थी जिस पर बम्बई के सलमे-सितारे का सुनहरी काम था। जब यह चौकड़ी चाँदी की लैण्डो बग्घी में जुतकर निकलती तब इसे देखने के लिए दिल्ली में लोगों की भीड़ें इकट्ठी हो जातीं।

दरबार के कार्यक्रम में दरबार के अलावा बादशाही जुलूस, फौजी परेड, घुड़दौड़, पोलो, क्रिकेट मैच और लाल किले पर से बादशाह का जनता को दर्शन देना आदि अनेक कार्यक्रम थे।

सबसे पहले बादशाही जुलूस निकला। जुलूस देखने के लिए लोगों ने

महीनों पहले सैकड़ों और हजारों रुपया देकर स्थान रिजर्व कराये थे। परन्तु जुलूस देख लोगों को बड़ी निराशा हुई। बादशाह फौजी लिबास में एक घोड़े पर निकले। उस घोड़े के पीछे छः घोड़ों की पोस्टेलियन बग्घी पर शाही पोशाक में मलका मेरी थीं। मलका की बग्घी के पीछे कई राजा और राजकुमार सवारों के रूप में थे, जिन्हें इम्पीरियल कैडिट कोर का नाम दिया गया था और इन सवारों के पीछे नाना प्रकार से सजे हुए राजा-महाराजाओं की बग्घियाँ थीं। जिन्होंने सन् १९०३ के कर्जन दरबार का जुलूस देखा था वे कहते सुने गये कि उस जुलूस से इस जुलूस का कोई मुकाबला नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह हाथियों पर निकला था और उन सजे हुए हाथियों की शान ही कुछ अलग थी।

दरबार के दिन नाना प्रकार की पोशाकों में दरबारी अर्द्धचन्द्राकार इमारतों में पहले से ही पहुँच अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गये। दरबार में बादशाह और मलका दोनों छः घोड़ों की पोस्टेलियन बग्घी पर आये। बग्घी के आगे घुड़सवारों का बैण्ड था और बग्घी के पीछे इम्पीरियल कैडिट कोर। बादशाह और मलका दोनों सिर पर ताज (क्राउन) पहने थे तथा शरीर पर शाही पोशाक। इस पोशाक के पीछे इतनी लम्बी झूलें थीं कि चलते समय इन्हें उठाने के लिए सहायक आवश्यक थे। ये सहायक राजा-महाराजाओं के छोटे-छोटे सजे हुए राजकुमार थे। दरबार में पहले शाही ऐलान पढ़ा गया। इस ऐलान में दो बातें मुख्य कही गयीं। बंगाल का जो विभाजन कर दिया गया था, और जिस पर बंगाल तथा देश में एक बहुत बड़ा राजनैतिक आन्दोलन हुआ था, उस बंगाल का पुनः एकीकरण तथा राजधानी का कलकत्ते से दिल्ली हटना। ऐलान के बाद अभिवादन के लिए राजे-महाराजे एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित किये गये। उपस्थित व्यक्तियों को बड़े अदब से धीरे-धीरे जाना पड़ता और लौटते समय अपना मुंह बादशाह की ओर किये हुए ही उलटे डग रखते हुए लौटना पड़ता। अभिवादन करने वालों में से दो अभिवादनों पर उपस्थित सभी का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित हुआ और दरबार के बाद भी बहुत समय तक इन अभिवादनों की चर्चा चलती रही। ये अभिवादन थे महाराजा बड़ौदा और महाराजा जयपुर के। बड़ौदा नरेश अपनी छड़ी घुमाते

हुए गये, अभिवादन में थोड़ा सा झुके और उल्टे डग रखते हुए न लौटकर बादशाह को पीठ दिखा लौट आये। महाराजा जयपुर ने बादशाह के सामने पहुँच अपनी तलवार बादशाह के चरणों में रख दी और साष्टांग दण्डवत कर अभिवादन किया। महाराजा बड़ौदा का अभिवादन अपमानजनक माना गया और इस अभिवादन पर उन्हें गद्दी से उतारने तक का सरकार ने विचार किया। अन्त में बड़ौदा नरेश के यह कहने पर कि उनके पहले सिर्फ निजाम का अभिवादन हुआ था अतः वे घबराये हुए से थे जिसके कारण उनके अभि-बादन में गड़बड़ी हुई, और इसके लिए वे क्षमा चाहते हैं, उनके गद्दी से उतारने का विचार छोड़ा गया। महाराजा जयपुर के अभिवादन पर सरकार तो चुप रही पर जनता में इस बात की चर्चा हुए बिना न रही कि महाराजा जयपुर ने अपने पूर्वजों का अनुसरण किया। राजा मानसिंह आदि ने मुगलों की गुलामी कर जो रास्ता अपने वंशजों को बताया उसी की पराकाष्ठा का यह प्रदर्शन था।

दरबार के साथ अन्य जो कार्यक्रम थे वे सभी सफल हुए। फौजी परेड, घुड़दौड़, पोलो, क्रिकेट, बादशाह के दर्शन आदि। खेलों के विजेताओं को बाद-शाह ने स्वयं पुरस्कार बाँटे। लाल किले पर से बादशाह जब जनता को दर्शन देते तब लाल किले के नीचे बहुत बड़ी भीड़ें इकट्ठी होतीं। इसमें सन्देह नहीं कि दरबार के समय दिल्ली में बड़ी धूमधाम, बड़ी चहल-पहल रही।

दरबार में अनेक व्यक्ति नयी-नयी पदवियों की आशा लगाकर गये थे। मेरे पिता जी भी उन्हीं में से एक थे। वे चाहते थे अपने पिता की राजा की पदवी। पदवियों की बरसात भी अच्छी हुई, परन्तु मेरे पिता को कोई पदवी न मिली और वे रायबहादुर ही रह गये। उन्हें इससे निराशा भी कम नहीं हुई।

आज जब मैं उस समय का सिंहावलोकन करता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि अंग्रेजों की हमारी गुलामी का शायद इससे बड़ा आयोजन और प्रदर्शन न उसके पहले कोई हुआ था और न उसके बाद। इसका जनता पर असर भी काफी पड़ा था। अंग्रेजों के लिए मेरे मन में उस समय जैसे विचार हो चले थे उनके कारण उस समय भी मुझे यह दरबार कुछ अच्छा न लगा था, पर इसकी धूमधाम तथा चहल-पहल ने मुझे चकाचौंध-सा कर दिया था और अंग्रेजों के प्रति मेरी उस समय जो भावनाएँ थीं वे भी इस धूमधाम और चहल-पहल

में दब-सी गयी थीं। मानव-हृदय ही कुछ इस प्रकार का बना है कि उस पर ऐसे आयोजनों का असर होता ही है। मानव-समाज में इस प्रकार के आयोजनों का आरम्भ कदाचित इसीलिए हुआ होगा। इतिहास से भी हमें ज्ञात होता है कि हर समय की सामाजिक और राजनैतिक रचना में इस प्रकार के आयोजन हुए हैं, और जिन्होंने यह किये हैं उनका उद्देश्य समाज पर अपना सिक्का जमाना ही रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में हमें जिन यज्ञों का वर्णन मिलता है, उनमें चाहे धार्मिक भावना भी निहित हो, पर वे भी प्रधानतया इसी कोटि के आयोजन थे; सम्राटों और राजाओं के राज्याभिषेक तथा दरबार भी इसी श्रेणी के; और आधुनिक युग के कांग्रेस के बड़े-बड़े जुलूस, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय की बड़ी-बड़ी सभाएँ तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् की रोशनी और जल्से सबका उद्देश्य जनता पर प्रभाव डालने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

स्वयं का स्वयं निर्माता

दिल्ली दरबार से लौटने के कुछ महीनों बाद मेरी मैट्रिक की परीक्षा हुई। इस परीक्षा के लिए विशेष प्रकार के परचे तैयार किये गये। अंग्रेजी के परचे गवर्नमेण्ट कालेज के उस समय के प्रिन्सिपल ए० सी० सैल्स ने, हिन्दी के परचे हितकारिणी हाई स्कूल के हैडमास्टर रघुवर प्रसाद जी द्विवेदी ने, संस्कृत के प्रो० तैलंग शास्त्री ने, और इतिहास के प्रो० वाचसेकर ने तैयार किये। एक नयी परीक्षा अंग्रेजी में बोलने, अंग्रेजी ढंग से नाचने तथा स्केटिंग की और घोड़े की सवारी की और ली गयी और इसे ली हमारे कुटुम्ब के सबसे बड़े शुभचिन्तक अंग्रेज मिस्टर (बाद में सर) हैनरी एशब्रुक क्रम्प आइ० सी० एस० ने। मुझे सभी परचों में साठ फी सदी के ऊपर नम्बर मिले; सबसे अधिक हिन्दी में और सबसे कम संस्कृत में। क्रम्प साहब ने मेरी अंग्रेजी बोलचाल के सम्बन्ध में मेरी प्रशंसा करते हुए जो कुछ कहा था वह मैं अभी भी नहीं भूला हूँ। उन्होंने कहा था कि मेरी अंग्रेजी बोलचाल इंगलैण्ड के किसी पब्लिक स्कूल में पढ़े-लिखे विद्यार्थी के समान है और मेरा उच्चारण अंग्रेजों के सदृश। उस समय यह गर्व की बात मानी जाती थी। आज भी कई व्यक्ति इसे गर्व की ही बात मानते हैं, परन्तु मैं तो अब इसे गुलामी का ही एक चिन्ह मानता हूँ। मेरे पास होने पर गोविन्द भवन में एक बड़ी भारी गार्डन पार्टी दी गयी। सभी समुदायों और सभी वर्गों के लोग इकट्ठे हुए और मेरे प्रथम श्रेणी में पास होने पर मुझे अगणित बधाइयाँ दी गयीं। बिना किसी साथी और बिना किसी स्पर्धा के इस प्रकार की परीक्षा में पास होने पर ऐसी खुशियाँ! जो कुछ हो, मुझे भी उस समय तो इस प्रकार प्रथम श्रेणी में पास होने से बड़ा हर्ष हुआ और इस परीक्षा ने मेरी आगे की पढ़ाई में मुझे उत्साहित कर मेरी बड़ी सहायता भी की।

मेरी आगे की पढ़ाई में संस्कृत को छुड़ा दिया गया। मुझे उस समय तो

इससे हर्ष ही हुआ, पर अब मैं यह मानता हूँ कि यह बहुत बड़ी गलती की गयी। संस्कृत छोड़कर शेष तीनों विषय वही रहे अर्थात् हिन्दी, अंग्रेजी और इतिहास।

मुझे हिन्दी, अंग्रेजी और इतिहास का बी० ए० तक का पाठ्यक्रम पढ़ाया गया। इस काल में मेरे शिक्षक रहे श्री भोलानाथ सरकार और किरण कृष्ण मिश्रा। श्री भोलानाथ सरकार प्रो० द्वारकानाथ सरकार के पुत्र थे, जिन्होंने मुझे पहली अंग्रेजी से अंग्रेजी पढ़ाना शुरू किया था। इनके सिवा मैं राबर्टसन कालेज के प्रिन्सिपल श्री सेल्स और प्रोफेसर वाचसेकर के पास भी निरन्तर जाता-आता रहता। हाँ, संस्कृत छोड़ देने से प्रो० तैलंग शास्त्री से मेरा कोई सम्पर्क अब न रह गया था। हिन्दी में मुझे अब किसी की सहायता आवश्यक न रही थी।

इन्टर और बी० ए० की मेरी परीक्षाएँ उसी प्रकार ली गयीं जिस तरह मैट्रिक की परीक्षा ली गयी थी, पर मुझे इन परीक्षाओं में कोई डिवीजन नहीं दिया गया, साथ ही मैट्रिक की परीक्षा के बाद जैसी गार्डन पार्टी गोविन्द भवन में की गयी थी वैसी कोई पार्टी भी नहीं हुई।

पाठ्यक्रम की पुस्तकों के सिवा मेरी अंग्रेजी और इतिहास की पढ़ाई की शनैः शनैः कुछ योजना-सी बन गयी; हाँ, हिन्दी की कोई ऐसी योजना नहीं बनी। हिन्दी में तो जो भी मेरे सामने आता मैं पढ़ता जाता, खास कर नया साहित्य। इस योजना के कारण सन् १९१९ में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने तक मैं बहुत कुछ पढ़ सका। इसका कारण कदाचित् यह भी था कि मुझे किसी विश्वविद्यालय में परीक्षा देने की तैयारी कर उस परीक्षा के नम्बरों की ओर ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सन् १९१९ के बाद दो-तीन वर्ष तो मेरा अध्ययन नये-नये सार्वजनिक जीवन के कारण बन्द-सा रहा, पर १९२१ से पं० द्वारकाप्रसाद जी मिश्र के संग से फिर आरम्भ होगया। मिश्रजी को मेरे ही सदृश साहित्य और इतिहास दोनों से प्रेम था अतः इन दोनों विषयों का हम संयुक्त अध्ययन करते और अलग-अलग भी। सार्वजनिक जीवन से राजनैतिक क्षेत्र में आने के बाद मैंने राजनैतिक और अर्थशास्त्र के कुछ अध्ययन का प्रयत्न किया। 'पोलिटिकल साइन्स", "कान्स्टीट्यूशन" और

"इकनोमिक्स"। इन विषयों पर मैंने कुछ ग्रन्थ भी मँगाये, पर जिस प्रकार मैं गणित विषय में कोरा रह गया था उसी प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र में भी मैं कोरा-सा ही रहा हूँ। इन विषयों का मेरा कोई उल्लेखनीय अध्ययन नहीं है। इन विषयों में मेरा मन ही न लगता।

मैट्रिक की परीक्षा के बाद मेरा अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन अंग्रेजी की दो पुस्तकों से आरम्भ हुआ—जानथैन स्विफ्ट के "गुलिवर्सट्रैविल" और सर आर्थर कौनन डायल के "शरलाक होम्स" से। इन पुस्तकों के कुछ अंश मैंने अपने पाठ्यक्रम में पढ़े थे और उस समय वे मुझे इतने अच्छे लगे थे कि मैंने इन पुस्तकों को पूरा पढ़ डाला। इसके बाद मैंने डैसल डैफो का "राबिनसन क्रूजो" पढ़ा और फिर डाक्टर जानसन का "रैसैलस"। इसके बाद गद्य में एडीसन, स्टीवेन्सन, स्टील और कारलाइल के कुछ निबन्ध पढ़े। निबन्धों में आगे चलकर मैंने हैजलेट, हर्बर्ट स्पेन्सर, बर्क, इमरसन और रस्किन के भी निबन्ध पढ़े तथा चैस्टरफील्ड के पत्र एवं गार्डनर के व्यक्तियों के चित्र। कारलाइल के "हीरोज" पर लिखे गये निबन्ध मुझे अब तक याद हैं। उपन्यासों में उस समय मैंने अंग्रेजी के सर वाल्टरस्काट के मूल उपन्यास और एलैकजेंडर डूमा के उपन्यासों के अंग्रेजी अनुवाद पढ़े। स्काट के "आइवन हो" तथा "कैनिलवर्थ" और डूमा के "थ्रीमसकेटियर्स" तथा "ड्यूक आफ मान्टीक्रिस्टो" का मुझ पर काफी असर पड़ा। नाटकों में मैंने शनैः शनैः शेक्सपियर के प्रायः सभी नाटक पढ़ डाले। कुछ नाटक मौलियर के भी पढ़े। उस समय के कुछ अन्य प्रसिद्ध नाटककारों के भी नाटक पढ़ने का प्रयत्न किया। मार्लोई की उस समय बड़ी चर्चा थी, पर मुझे उनका कोई नाटक अच्छा न लगा। अन्य नाटककारों में मुझे सबसे अच्छा शैडन का "स्कूल आफ स्कैन्डल" लगा। इसके बाद मैंने बर्नार्डशा के कुछ नाटक पढ़े। उनकी उस समय काफी ख्याति होने लगी थी। आलीवर बैण्डल होम्स की पुस्तकें भी मुझे बहुत अच्छी लगीं। अंग्रेजी पद्य में मैंने चासर से आरम्भ करने का प्रयत्न किया, पर उसकी कविता मेरी समझ में ही न आयी; पाठ्यक्रम के बाहर मैं पढ़ता था आनन्द के लिए अतः उससे क्यों मगज मचाता; साफ छोड़ दिया मैंने उसे। मेरे पाठ्यक्रम में अंग्रेजी की गोल्डन ट्रेजरी की कुछ कविताएँ थीं। उनके सिवा भी ड्रायडन, मिल्टन, बायरन, वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, टैनीसन और गोल्ड

स्मिथ की कुछ कविताएँ पढ़ीं, परन्तु पाठ्यक्रम में जो कविताएँ थी विशेषकर गोल्ड स्मिथ के काव्य "डेजर्टेड विलिज" और "ट्रैवलर", उनके अतिरिक्त अंग्रेजी कविताओं और काव्यों का मेरा बहुत थोड़ा अध्ययन है। आगे चलकर मिश्र जी के साथ और जेल में मैंने अंग्रेजी के द्वारा प्रायः सारे पश्चिमी साहित्य के उपन्यास, नाटक और आलोचनात्मक ग्रन्थों का अध्ययन किया है; पर काव्य का न मेरा पहले कोई विशेष अध्ययन हुआ और न बाद में ही। इसी प्रकार मैंने लघु कहानियाँ भी बहुत कम पढ़ी हैं।

इतिहास का मेरा अध्ययन आरम्भ हुआ था भारतवर्ष के इतिहास की एक छोटी-सी पुस्तक से, जिसके आरम्भ में रविवर्मा का राम का वह चित्र था जिसमें विश्वामित्र राम को धनुर्विद्या सिखा रहे हैं। फिर इस पुस्तक में सिकन्दर और पोरस के युद्ध की कथा थी। बीच के न बौद्धकाल का पता था और न मध्यकाल का जिसे अंग्रेजी में "मेडिवल" कहते हैं। सिकन्दर के बाद वह इतिहास आरम्भ होता था मुस्लिम काल से। पठानों और मुगलों का संक्षिप्त इतिहास। इसमें भी महाराणा प्रताप और शिवाजी ला पता। और फिर आता था क्लाइव तथा डूप्ले के संघर्ष के बाद अंग्रेजों के आधिपत्य का गौरवपूर्ण वर्णन।

परन्तु ऐसी रद्दी ऐतिहासिक पुस्तक ने भी मेरी इतिहास की ओर ऐसी रुचि बढ़ायी कि साहित्य के साथ मेरा इतिहास का अध्ययन भी चलता रहा।

पहले कहा जा चुका है कि मुझे कुछ समय तक एक अंग्रेज मि० डिगविट ने भी पढ़ाया था। डिगविट महोदय ने मेरे लिए लन्दन से भारतीय इतिहास पर दो पुस्तकें मँगवायीं। एक का नाम है "हिस्ट्री आफ हिन्दुस्तान" इसके लेखक थे टामस मारिस। इसकी भूमिका लिखी गयी थी सन् १७६० में। इसके दो भाग हैं—पहला भाग छपा है ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों की छत्र-छाया (पेट्रोनेज) में और दूसरा समर्पित है उस समय के इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री विलियम पिट को। यह पुस्तक छापी थी डब्ल्यू बलमर एण्ड कम्पनी लन्दन ने। बड़ा-बड़ा टाइप और लाइन ब्लाक के अजीब चित्र। चित्रों में भगवान विष्णु और विष्णु के दसों अवतार—मत्स्य, वराह, कूर्म, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि के चित्र हैं। समुद्र मन्थन का भी चित्र है। पुस्तक

में वर्णन है सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग का, अवतारों का, सूर्यवंश और चन्द्र वंश का, भारत पर आरम्भिक बाहरी आक्रमणों का, जिनमें सिकन्दर के आक्रमण से पुस्तक समाप्त हो जाती है। आज के युग में तो इस पुस्तक को ऐतिहासिक कहा ही नहीं जा सकता।

दूसरी पुस्तक जो मि० डिगविट ने लन्दन से मँगायी थी उसका नाम है "ए कांप्रीहैंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, सिविल मिलिटरी एण्ड सोशल"। इसके लेखक थे हेनरी बेवरिज और यह प्रकाशित की थी ब्लैकी एण्ड सन लन्दन ने। इसके तीन भाग हैं। पहले भाग में सिकन्दर की चढ़ाई से क्लाइव तक का वर्णन है। दूसरे भाग में हिन्दू संस्कृति का कुछ वर्णन और इसके उपरान्त अंग्रेजी राज्य कैसे जमा इसका वृत्त और तीसरे भाग में १८५७ का बलवा बुरे से बुरे रूप में दिखाया है। इस पुस्तक में अंग्रेजी राज्य की महानता के वर्णन का ही सर्वत्र प्रयत्न है।

मेरी मैट्रिक की परीक्षा के बाद ही मैंने हिन्दी में भी भारतवर्ष के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कुछ ग्रन्थ पढ़े। टाड का राजस्थान, श्री रमेशचन्द्र दत्त के अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद "भारतीय सभ्यता का इतिहास" मेगास्थनीज का भारत, फाहियान का भारत, यानचांग का भारत, अलबेरूनी का भारत—इन ग्रन्थों को २, २, ३, ३ बार मैंने बड़े चाव से पढ़ा है। इसके बाद मैंने पढ़ा आचार्य रामदेव का भारतवर्ष के इतिहास का पहला भाग जो उसी समय गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित हुआ था।

कुछ दिन बाद मैंने देखा फ्रेन्सिस ग्लैडविन का "आइने अकबरी" का अंग्रेजी अनुवाद। इसे मैंने पूरा तो नहीं पढ़ा, पर इधर-उधर से उलटा-पलटा है।

जैसा ऊपर लिखा है मिश्रजी के साथ मैंने संयुक्त अध्ययन भी किया। यह आरम्भ हुआ विन्सेन्ट स्मिथ की "दी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया" से। इसके बाद हमने पढ़ी "कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया"। मिश्रजी के साथ और अकेले सब मिलाकर मैंने जो ऐतिहासिक पुस्तकें पढ़ीं उनमें जहाँ तक मुझे याद है प्रमुख थीं ई० बी० हैवल की "हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया", आर० सी० मजूमदार की "आउटलाइन आफ एन्शेन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन", हेमचन्द्र राय चौधरी की "पुलैटीकल हिस्ट्री आफ इण्डिया", सी० वी०

वैद्य की "हिस्ट्री आफ मैडीवल हिन्दू इण्डिया" और जायसवाल की "हिन्दू पालेटी"। दो पुराने ऐतिहासिक संस्कृत ग्रन्थों को भी मैंने पंडितों की सहायता से पढ़ने का प्रयत्न किया—"राजतरंगिणी" और "हर्ष चरित"।

मेरा ऐतिहासिक अध्ययन अधिकतर प्राचीन भारत के इतिहास से ही सम्बन्ध रखता है; परन्तु मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल के इतिहास को भी मैंने उल्टा-पुल्टा है। विन्सेण्ट स्मिथ का "अकबर", बेनीप्रसाद का "जहाँगीर", बनारसीप्रसाद का "शाहजहाँ", कानूनगो का "शेरशाह", यदुनाथ सरकार का "औरंगजेब" और "फाल आफ मुगल एंपायर" मैंने इधर-उधर पर काफी ध्यान से देखे हैं। मेजर बी० डी० बसु का "राइज आफ क्रिश्चियन पावर" भी मैंने यत्र-तत्र पढ़ा है। इन पुस्तकों में सबसे अधिक प्रशंसा है यदुनाथ सरकार के औरंगजेब की, पर मैं क्षमा किया जाऊँ, कम से कम मैं तो इस पुस्तक को पढ़ने में जितना ऊबा उतना शायद किसी ऐतिहासिक पुस्तक पढ़ने में नहीं।

मैंने कुछ गैजेटियर और हमारे प्रान्त के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता रायबहादुर हीरालाल कृत "जबलपुर ज्योति", "सागर सरोज", "दमोह दीपक" आदि छोटी-छोटी बड़ी मनोरंजक और सुन्दर पुस्तकें भी पढ़ीं।

आगे चलकर इस ऐतिहासिक अध्ययन की पृष्ठभूमि अन्तर्राष्ट्रीय बनाने के लिए मैंने एच० जी० वेल्स की "आउटलाइन आफ हिस्ट्री" को केवल पढ़ा ही नहीं पर एक प्रकार से उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया।

इतिहास का यह सारा अध्ययन मेरे नाट्य साहित्य की रचना में भी मुझे बहुत सहायक सिद्ध हुआ। हिन्दी साहित्य के अध्ययन के विषय में तो जैसा ऊपर लिखा है मैंने कोई योजनाबद्ध अध्ययन कभी किया ही नहीं। जो सामने आया, मन में भाया, पढ़ता गया। मैट्रिक की परीक्षा के बाद कुछ प्राचीन संत तथा अन्य कवियों के काव्य, भारतेन्दु के नाटक या उस काल के कुछ कवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, श्री अयोध्यासिंहजी उपाध्याय और श्रीधरजी पाठक के ग्रन्थ पढ़े। कुछ हिन्दी में अनूदित साहित्य पढ़ा जिसमें महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत के गद्यानुवाद, राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित अभिज्ञान शाकुन्तल, कविरत्न सत्यनारायण द्वारा अनूदित उत्तर रामचरित और श्री रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनूदित श्री द्विजेन्द्रलाल राय

के नाटक तथा बंकिम बाबू और आप्टे के बंगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद प्रमुख थे। पर यहाँ मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि तुलसीकृत रामायण, सूरदासकृत सूरसागर और वल्लभ संप्रदाय के अष्टछाप के कवियों के सिवा शेष प्राचीन हिन्दी कविता का मेरा बहुत थोड़ा अध्ययन है। श्री प्रेमचंदजी, प्रसादजी, पंतजी, निरालाजी, महादेवीजी आदि का उस समय कोई साहित्य न था। इन्हें मैंने इसके बहुत बाद पढ़ा।

एक अन्य प्रकार के अध्ययन ने भी मेरे निर्माण में काफी योग दिया है; यह था कुछ नैतिक पुस्तकों तथा जीवन-चरित्रों का। नैतिक पुस्तकों में धर्म ग्रन्थ तो मैंने बचपन से सुने ही थे। अंग्रेजी की जिन चार छोटी-छोटी पुस्तकों ने मुझ पर बहुत असर डाला वे एक ही लेखक सैम्युएल स्माइल्स की हैं; इन का नाम था—"कैरेक्टर", "ड्यूटी", "सैल्फ हैल्प" और "थिफ्ट"। सैम्युएल स्माइल्स की "सैल्फ हैल्प" पुस्तक का तो एक अंश मैंने कंठस्थ कर लिया था जो अभी तक मुझे अंग्रेजी में कंठस्थ है। उसका हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जाता है—"क्रियाशीलता ही, जिसका केन्द्रीय तत्त्व इच्छा शक्ति है, सब कालों में जोश के चमत्कारों को उत्पन्न करती है। यही सदा चरित्र के बल की मुख्य श्रोत रहती है और उस पराक्रम को देती है जो महान् कार्यों को सँभालकर सिद्ध करता है।" जीवन-चरित्रों में सबसे पहले मेरे अंग्रेज शिक्षक ने मुझे एडवर्ड गिलेट की "हीरोज आफ माडर्न इण्डिया" नामक पुस्तक दी। पर इस पुस्तक का सच्चा नाम होना चाहिए था, "दी प्लन्डरर्स आफ माडर्न इण्डिया।" इस पुस्तक में क्लाइव, वारन हेस्टिंग्स आदि के जीवन-चरित्रों और भारतीय दृष्टि से काले कारनामों का वर्णन है। इस पुस्तक का मेरे मन पर बड़ा बुरा असर पड़ा। यह असर तब मिटा जब इसके बाद मैंने उन सच्चे भारतीय वीरों की गाथाएँ पढ़ीं, जिन्होंने भारत को विदेशियों के हाथ से मुक्त करने का प्रयत्न किया तथा भारतीय संस्कृति का पुनः उत्थान।

मैट्रिक की परीक्षा के बाद पत्रों की ओर भी मेरी अभिरुचि हो गयी थी। हिन्दी में बम्बई के "वेंकटेश्वर समाचार" और कलकत्ते के "बंगवासी" दो साप्ताहिक तथा इलाहाबाद से निकलनेवाली "सरस्वती", "मर्यादा" एवं खंडवे से निकलने वाली "प्रभा" मासिक पत्रिकाएँ मैं मँगाता। अंग्रेजी दैनिकों

में उस समय इलाहाबाद से निकलनेवाले "पायनियर" का बड़ा दौरदौरा था अतः मैं "पायनियर" भी पढ़ता।

मैंने सबसे पहले "चंपावती" नामक एक ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास लिखा था, यह मैं पहले लिख चुका हूँ। अब मेरा लिखना बढ़ा। "कृष्णलता" और "सोमलता" नामक दो ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास मैंने और लिखे तथा शैक्सपियर के चार नाटकों के आधार पर चार उपन्यास—"रोमिओ जूलियट" पर "सुरेन्द्र सुन्दरी"; "एज यू लाइक इट" पर "कृष्ण कामिनी"; "पैरकलीज प्रिन्स आफ टायर" पर "होनहार" और "विण्टर्सटेल" पर "व्यर्थ सन्देह"। इनमें से "सोमलता" के तीन भाग और शैक्सपियर के चारों नाटकों के आधार पर लिखे गये चारों उपन्यास छपकर प्रकाशित भी हुए थे। मैंने कुछ कविताएँ लिखना भी आरम्भ किया। उस समय मेरी अधिकांश रचनाएँ "प्रसूसरस्वती प्रियः" के नाम से निकलीं।

देश की विभिन्न घटनाओं से मेरी अभिरुचि हो गयी और समाचारपत्रों में मैं केवल इन्हें पढ़ता ही नहीं, पर इनमें कोई न कोई सक्रिय भाग लेने तक का विचार करने लगा।

देश में राष्ट्रीय चेतना की उत्पत्ति तो बहुत काल से हो गयी थी और इसका विवरण भी पिछले अध्यायों में आ चुका है, परन्तु कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् और विशेषकर सन् १६०५ के बंग-भंग के आन्दोलन के बाद इस चेतना का और भी तीव्र रूप प्रकट होने लगा था। यद्यपि बंग-भंग का आन्दोलन समाप्त हो गया था, पर उसमें भाग लेनेवाले नेताओं को देश की जनता बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखती थी। इनमें बाल, पाल और लाल याने बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय का सर्वोत्कृष्ट स्थान था। फिर मेरे मन पर भी इन्हीं के कार्यों का सबसे अधिक प्रभाव था। राजनैतिक जागृति के साथ ही अन्य प्रकार की सामाजिक जागृति भी बढ़ रही थी। वह संपूर्ण सांस्कृतिक जागृति का काल था, जिसे अंग्रेजी में 'रिनासांस' का समय कहते हैं।

मेरे पितामह और मेरे पिता के मेरे निर्माण के सम्बन्ध में जो उद्देश्य थे उनका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। दोनों ही चाहते थे कि मैं धर्मनिष्ठ,

नैतिक, राजभक्त, कुशल व्यापारी और सामाजिक व्यक्ति बनूं। मेरा जो रवैया चल रहा था उससे अब यह कहा जा सकता था कि किन बातों में इन उद्देश्यों के अनुसार और किन बातों में इन उद्देश्यों के विरुद्ध मैं बन रहा था। धर्म-निष्ठा तथा नैतिकता में मेरा निर्माण वैसा ही हो रहा था जैसी मेरे पितामह और पिता की इच्छा थी, परन्तु राजभक्ति तथा व्यापार-कुशलता में नहीं। जहाँ तक राजभक्ति का सम्बन्ध था, राजभक्ति तो दूर रही, धीरे-धीरे मेरे मन में राज-द्रोह की भावनाएँ बढ़ रही थीं और जहाँ तक व्यापार-कुशलता का सम्बन्ध है, उस ओर चाहे मेरे पितामह का ध्यान रहा हो, पर पिता जी का जरा भी ध्यान न था और मेरे व्यापार में दक्ष बनाये जाने का कोई प्रयत्न न होने के कारण मैं इस दिशा में सर्वथा अनभिज्ञ था। मैं सामाजिक व्यक्ति कहाँ तक बन सकूंगा इस विषय में उस समय कुछ भी कहा जा सकना सम्भव नहीं था।

राजा गोकुलदास महल के पिताजी वाले विभाग से सम्पर्क ने तथा मेरे बाल्य विवाह, गन्दे साहित्य, अश्लील नाटक, मेरी नातेदार महिला और मेरे शीघ्र गौने के कारण काम-चेतना से सम्बन्ध रखनेवाली भावनाओं की मेरे मन में बहुत कम अवस्था में उत्पत्ति हुई थी। परन्तु पत्नी से अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जाने तथा बहन के विवाह में माताजी के चरणों पर हाथ रख जो प्रतिज्ञा मैंने की थी उसके कारण अब वह विषय मेरे लिए महत्त्व का न रह गया था। जिस अवस्था में काम चेतना से सम्बन्ध रखने वाली भावनाएँ जीवन को सबसे अधिक प्रभावित कर उसे उल्टा-पुल्टा-सा किये रहती है उस अवस्था के पहले ही मैं इस झगड़े से निवृत्त-सा हो गया था। फिर जीविका उपार्जन करने का प्रश्न भी मेरे सामने न था; यद्यपि आर्थिक दृष्टि से मेरे घर का पतन आरम्भ हो गया था; पर फिर भी लाखों नहीं, करोड़ों की सम्पत्ति थी। उसे सँभालने की अवश्य आवश्यकता थी, पर उसके लिए न मैं योग्य बनाया जा रहा था और न इस क्षेत्र का कोई कार्य ही मेरे जिम्मे किया गया था। घर का काम-काज चलाते थे पिताजी मुनीम-गुमाश्तों की सहायता से।

काम-चेतना से सम्बन्ध रखनेवाले झगड़े से निवृत्ति और जीविका उपार्जन की चिन्ता तथा घर के काम करने से मुक्ति कदाचित ये ही दो कारण थे जो

मुझे साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में लाये। मुझ में साहित्य से प्रेम तथा राजनैतिक विषयों से दिलचस्पी ये दोनों बातें तो थी हीं, परन्तु यदि मैं काम-चेतना सम्बन्धी झगड़ों में पड़ा रहता अथवा जीविका उपार्जन या घर के कामों में फँसा रहता तो मेरा साहित्यिक और राजनैतिक जीवन इतने शीघ्र आरम्भ न होता।

इस कामदेव ने कैसे-कैसे महान् जीवनों को नष्ट-भ्रष्ट किया है, इसीलिए शायद हमारे पुराणों में मदन-दहन का रूपक है। बिना इसके दहन के भगवान शिव के सदृश योगी भी अपने पथ से विचलित हो सकता था और जीविका चलाने के लिए यदि उपयुक्त साधन उपलब्ध न हों तो इस चिन्ता से बड़ी तथा सतत रहनेवाली चिन्ता भी कदाचित और कोई नहीं। यह चिन्ता भी सारे सद्गुणों को धीरे-धीरे भस्म कर डालती है। किसी विशिष्ट दुखपूर्ण घटना से पैदा हुई हठात् चिन्ता को उस घटना के बाद का व्यतीत होने वाला समय आपसे आप कम करता जाता है और अन्त में उसे मिटा देता है, लेकिन साधनों से विहीन जीविका उपार्जन की चिन्ता, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, बढ़ती जाती है। शरीर और मन की भावी शिथिलता तथा सद्गुणों की शनैः शनैः होनेवाली राख इस चिन्ता की इस वृद्धि के प्रधान कारण हैं।

मेरा जीवन इन दोनों अवरोधों से मुक्त था। फिर भी साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से आने में अभी कुछ समय और लग ही गया। इसके कुछ कारण आ गये जिनका उल्लेख आगे आयगा।

अब मैं स्वयं अपना निर्माण कर रहा था। और इस प्रकार बिना स्पष्ट ढंग से सोचे-विचारे अथवा कोई योजना बनाये जब मैं अपना निर्माण कर रहा था उस समय मेरे मन में एकाएक अहंभाव की कुछ अप्रत्यक्ष-सी उत्पत्ति हुई, वह भी उस समय यथार्थ में बिना स्पष्ट रूप से समझे। जब आज मैं अपनी उस समय की मानसिक स्थिति पर विचार करता हूँ और उस समय एकाएक उत्पन्न हुए इस अहं पर मेरा ध्यान जाता है तब मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि अहं सर्वथा त्याज्य वस्तु ही नहीं मानी जा सकती। यथार्थ में शायद ही कोई इस वृत्ति से पूर्णतया बच सकता है। इसकी उत्पत्ति बचपन के व्यतीत होते-होते तो मानव को अपने स्वयं के ज्ञान होते ही हो जाती है पर एक

विशिष्ट अवस्था में जब मानव अपने सम्बन्ध में सोचने-विचारने लगता है तब बिना स्पस्ट रूप से ध्यान गये इसका प्रादुर्भाव होता है। फिर अहं भावना केवल दोष भी नहीं माना जा सकता; यद्यपि यह हमारे सबसे बड़े नैसर्गिक दोषों में से है तथापि हमारे नैसर्गिक गुणों की प्रेरक भी। यह हमारे अस्तित्व तक की निर्णायक है। बिना इसके मैं "मैं" नहीं रह सकता। इस प्रकार के इस अद्भुत अहं का पूर्ण विलीनीकरण न सम्भव है और न इष्ट ही। इसी अहं भावना के विषय में जर्मनी के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस मैन ने एक अन्य प्रकार से लिखा है। वे लिखते हैं—"मानव में किसी प्रकार का भी क्यों न हो, अभिमान होना ही चाहिए। फिर भी इस अहं को दबाकर रखना, सदा इसके दबाने की ओर ही ध्यान रखना मानव का प्रधान कर्तव्य है।"

जब मेरे मन ने मेरे निर्माण का कार्य कुछ स्पष्ट रूप से आरम्भ किया उसी समय मेरी केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में मेरी पहली सन्तान ने जन्म लिया। मेरी पत्नी के गर्भावस्था के बाद सभी को पुत्र की आकांक्षा थी, पर यह पुत्री हुई। इसका नाम रखा गया रत्नकुमारी।

न जाने कैसी परम्परा है कि हर व्यक्ति सदा पुत्र की इच्छा रखता है, पर अनेक बार हम देखते हैं कि पुत्री पुत्र से भी कहीं अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होती है। रत्नकुमारी ने हमारे घर में हर क्षेत्र में अब तक तो मेरे पुत्रों से अधिक श्रेय प्राप्त किया है।

घर पर पहली आर्थिक आपत्ति

सन् १६१३ में हमारे घर पर पहली आर्थिक आपत्ति आयी।

मेरे पितामह के देहान्त को लगभग पाँच वर्ष बीत चुके थे। इन पाँचों वर्षों में नित्य-प्रति के साधारण खर्च और इसके अलावा बीच-बीच में हो जाने वाले असाधारण खर्च, (जैसे प्रयाग की प्रदर्शिनी, मेरी बहन का विवाह, दिल्ली दरबार, बंबई-कलकत्ते के दौरे, जिनमें एक-एक दौरे में पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस हजार रुपया सहज में लग जाते थे, क्योंकि पचासों आदमी साथ जाते, वहाँ रहने आदि के लिए बड़े-बड़े बंगले लेकर बड़े आयोजन किये जाते, एवं न जाने कितनी निरर्थक बेशकीमती चीजें खरीदी जातीं) तथा मुनीम-गुमाश्तों के हाथ से हुए रोजगार-धंधों के नुकसानों के कारण हमारे कुटुम्ब पर कोई पैंतालीस लाख रुपये का कर्ज हो गया था। यद्यपि जायदाद अभी भी कई करोड़ की थी, परन्तु नकद रुपया न था। यह कर्ज अधिकतर मुद्दती हुंडियों पर बंबई, कलकत्ता, इन्दौर, जयपुर, नागपुर आदि की दूकानों पर था। इन हुंडियों की मुद्दत सराफी पद्धति के अनुसार बहुधा ६१ दिन की रहती। जब किसी हुंडी की मुद्दत पहुँचती तब या तो उसी हुंडी को फिर से ६१ दिन के लिए बदल दिया जाता या यदि यह सम्भव न होता तो किसी दूसरे को नयी हुंडी लिखकर पुरानी हुंडी का रुपया चुकाया जाता। इस प्रकार एक की टोपी दूसरे के और दूसरे की टोपी तीसरे के सिर लगा काम चलाया जा रहा था। इतने पर भी न खर्च आमदनी के अंदर हो रहा था और न रुक ही रहा था। खर्च के लिए रोज ही जबलपुर से बंबई या कलकत्ता की दूकान पर दर्शनी हुंडी की जाती थी। मुद्दती हुंडियाँ अधिकाधिक होती जाती थीं और इनके बदले के समय ब्याज भी बढ़ता जाता था। जब हमारे दोनों घर साथ थे तब बंबई, कलकत्ते की दूकानें सेवाराम खुशालचन्द के नाम से चलती थीं। मेरे ताऊजी और पिताजी के अलग होने पर हमारी बंबई, कलकत्ते

की दूकानों पर सेवाराम गोकुलदास और ताऊजी की दूकानों पर खुशालचन्द गोपालदास नाम पड़ा था। मारवाड़ियों में अब तक भी हमारा कुटुम्ब ही सबसे प्रधान माना जाता था और बंबई, कलकत्ते के मारवाड़ी बाजार में हमारी दूकानें सेवा सागर कहलाती थीं, अर्थात् सेवारामजी की वह दूकान जिसमें रुपये का सागर है। पुरानी साख के कारण ही पैंतालीस लाख रुपये की ये हुंडियाँ चल रही थीं। उस समय इंपीरियल बैंक न होकर इम्पीरियल बैंक की जगह बंबई बैंक, बंगाल बैंक और मद्रास बैंक इस प्रकार तीन बैंक थे। हमारी हुंडियाँ अधिकतर बंबई और बंगाल बैंक में थी। हुंडियों के लगातार इस सट्टे से हमारी साख में बट्टा लगता जा रहा था। लोगों में इसकी चर्चा होने लगी थी और कई लोग तो यह भी कहने लगे कि सेवा सागर का पानी अब सूख गया है।

जब ऐसी हमारी व्यापारिक क्षेत्र की स्थिति थी तब एकाएक मेरी दादीजी का देहावसान हो गया और उनकी अंत्येष्टि, श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन और औसर आदि के लिए लाखों रुपये की एकदम आवश्यकता पड़ी।

ऊपर से बंबई के बाजार की आजकल बड़ी डावाँडोल स्थिति थी। "स्पीसी" बैंक नामक एक बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री चुन्नीलाल सरैया ने चाँदी के बाजार में तहलका मचा रखा था। वे उन दिनों बंबई के चाँदी के बाजार के राजा माने जाते थे और उन्होंने अंकों के आधार पर अपनी ओर से यह निश्चित घोषणा की थी कि भारत सरकार को चाँदी खरीदनी ही होगी अतः चाँदी का भाव ऊँचा जायगा। सरैयाजी ने अधिक से अधिक चाँदी ली थी और उनकी राय के कारण उनमे सम्बन्ध रखनेवाले सभी व्यापारियों ने, जिन की संख्या बहुत बड़ी थी और जिनमें हमारी दूकान भी शामिल थी। एक ओर सरैयाजी अपने अंकों के आधार पर चाँदी लिये बैठे थे और दूसरी ओर सरकार चाँदी न लेने पर तुली हुई थी। संघर्ष काफी समय से चल रहा था। चाँदी के सौदों का भाव बंबई में हर महीने कटता और बलन के समय नफे-नुकसान का भुगतान हर महीने होता। जब सरैयाजी ने चाँदी की खरीद शुरू की थी तब हर महीने भाव बढ़ता जाता था, परन्तु अब उनकी शक्ति और खरीदने की नहीं थी। उनके मित्रों की शक्ति भी समाप्त हो चुकी थी। सरकार

चाँदी खरीद न रही थी अतः चाँदी का भाव गिरना आरम्भ हुआ और फिर तो दो-चार बलन के बाद वह ऐसा गिरा कि जिनके पास चाँदी थी उन्हें बलन के समय भुगतान देना कठिन हो गया। एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे आसामियों के भुगतान बन्द होने लगे तथा अन्त में सरैयाजी के स्पीसी बैंक पर भी आफत आयी। पहले दिन तो सरैयाजी ने बैंक को सँभाल लिया। पर दूसरे दिन प्रातःकाल ही उनकी अचानक मृत्यु हो गयी। कुछ लोगों का खयाल था कि उन्होंने आत्म-हत्या की थी। सरैया जी की मृत्यु के दिन ही स्पीसी बैंक का भुगतान बन्द हो गया और स्पीसी बैंक फेल हो गया। सरैया जी की मृत्यु और स्पीसी बैंक के फेल होने का असर सारे भारतवर्ष के व्यापारी क्षेत्र पर पड़ा। न जाने कितने आसामियों के भुगतान बन्द हुए; उनमें से एक हम भी थे।

ऐसे अवसरों पर किसी से मदद मिलना दुश्वार हो जाता है तथा बंबई और कलकत्ते के बाजारों में अदालती कार्रवाई होने में भी देर नहीं लगती। पिताजी और उनके मुनीम-गुमाश्तों ने काम को थामने के लिए लोगों से सहायता लेने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु नये आदमियों से सहायता मिलना तो दूर रहा जिन्हें कभी हमारे यहाँ से लाखों की मदद मिली थी उन्होंने भी अँगूठा दिखा दिया। बंबई और कलकत्ते के हाई कोर्ट में हमारी दूकान पर भी अदालती कार्रवाइयाँ आरम्भ हुईं। कैसी रोमांचकारी थी वह स्थिति! जान पड़ता था न हमारी इज्जत-आबरू बचेगी और न घर में फूटी कौड़ी! पिताजी को आज अपनी अपव्ययता स्मरण आ रही थी। वे जैसे बेचैन उस समय देखे गये वैसे न उसके पहले कभी दिखे थे और न उसके बाद। वे किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गये थे। एक साहित्यिक ने कहा है—"सोने में जंग नहीं लग सकता, परन्तु सोना आत्मा में जंग लगाता है।" जिनका सर्वस्व इस सोने पर निर्भर रहता है उनकी आत्मा में यह सोना कैसा जंग लगाता है इसे ऐसे अवसरों पर जाना जा सकता है। पिताजी की समझ में ही न आ रहा था कि करें क्या? और मैं तो कर ही क्या सकता था? न मुझ में इस दिशा की कोई भी योग्यता थी और न इस क्षेत्र की कोई जानकारी। फिर

अभी मेरी उम्र भी बहुत कम थी और ऐसे मामलों को निपटाने के लिए बुर्दवारी भी एक आवश्यक गुण होता है।

विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर कहा है—"वह दुख दूना कष्टकारक होता है जिसकी एक-एक बात को खोई हुई भूमि की एक-एक इंच जगह के लिए भाग्य से झगड़ते हुए अलग-अलग सहन करना पड़ता है। बर्बादी यदि इकजाई रूप में आ जाय तो उसे सहन किया जा सकता है, परन्तु गिरते हुए टुकड़ों और कणों में नहीं। कोई बड़ा धक्का स्तब्ध कर देता है, परन्तु खण्डों में वह चुभता है। इस धक्के से उत्पन्न होनेवाला अपमान इस कष्ट को बढ़ाता है। सामाजिक सम्मान से होनेवाले शनैः शनैः पतन से अधिक दुखदायी और कोई कटु विचार सम्भव नहीं।"

हमारे घर के उस समय के वायुमण्डल का शायद इससे अच्छा चित्र खींच सकना सम्भव नहीं है। इस समय हमारे घर को बचाने में जो सहायक हुए उनमें सब सेबड़े सहायक सिद्ध हुए हमारे सदर मुनीम पूनमचन्दजी सुरजन। पूनमचन्दजी के पिता और पितामह भी हमारे ही यहाँ थे अर्थात् पूनमचन्दजी को तीन पीढ़ियाँ हमारे घर में हो चुकी थीं। स्वामी-सेवक की जिन भावनाओं का हमारी संस्कृति में एक स्थान-सा हो गया है, चाहे वह गलत ही क्यों न हो, वे भावनाएँ उनमें कूट-कूट कर भरी थीं। वे हमारी जायदाद के न कोई उत्तराधिकारी थे और न हिस्सेदार, परन्तु उन्हें उसकी सुरक्षा की चिन्ता उसके उत्तराधिकारियों और हिस्सेदारों से भी अधिक थी। उस समय के अनाप-शनाप खर्चों और नुकसान आदि से घर का जो आर्थिक पतन हो रहा था उससे उनका जितना जी दुखता था उतना शायद हम घरवालों का भी नहीं। उन्होंने खर्च रोकने तथा नुकसानों के निवारण का प्रयत्न भी बहुत किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। वे भी माहेश्वरी थे, वल्लभ कुल सम्प्रदाय के अनुयायी। अंग्रेजी वे न जानते थे, पर रोजगार-धंधे के क्षेत्र से वे जितने परिचित और इस क्षेत्र में जितने दक्ष थे उतने आज भी विरले व्यक्ति ही मिलेंगे। फिर जो सचाई और ईमानदारी उनमें थी वह तो अब देखने को नहीं मिलती।

पूनमचन्दजी के सिवा जबलपुर के दो वकीलों ने हमें सहायता दी। इनके नाम हैं श्री जीवनचन्द्र मुकरजी और पंडित मनोहरकृष्ण गोलवलकर।

गोलवलकरजी तो मरते समय तक हमें उसी प्रकार सहायता देते रहे। वकील वर्ग में ऐसे निस्पृह व्यक्ति क्वचित ही होंगे।

बंबई के हमारे सालीसिटर चन्दूलाल दयाभाई और कलकत्ते के हमारे सालीसिटर सर भूपेन्द्र नाथ बसु ने भी हमें बहुत सहायता पहुँचायी; चन्दूलालजी ने तो अत्यधिक। पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलालजी नेहरू मेरे पिताजी के मित्रों में से थे। उन्होंने भी इस संकट के समय हमें सहायता दी।

पूनमचन्दजी ने सर्वप्रथम कलकत्ते के हाई कोर्ट में हमारी दूकान पर जो कानूनी कार्रवाई की गयी थी उसे श्री चित्तरंजन दास को खड़ा कर बड़ी सिफत से खारिज कराया। फिर बंबई के हाई कोर्ट में हम पर जो नालिशें की थीं उनका रुपया चुका उन नालिशों से छुट्टी ली। इसके बाद कलकत्ता, बंबई, इन्दौर, जयपुर, नागपुर आदि स्थानों में हमारे जो लेनदार थे उन्हें थोड़ा-थोड़ा रुपया देकर बाकी के रुपये के लिए एक साल का समय लिया। सबसे अधिक हमें तंग किया बैंकों ने। उस समय सारे काम को इस प्रकार सँभालने के लिए जो रुपये की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति मेरी माताजी ने अपने जवाहरात और सोने के गहने से की थी। ऐसे अवसरों पर प्रायः यह देखा जाता है कि स्त्रियाँ न केवल अपना धन ही नहीं देतीं, वरन् और भी जितना इकट्ठा किया जा सकता है करने का प्रयत्न करती हैं, पर मेरी माताजी ने अपने पास का तार-तार देकर घर की रक्षा की। अब भिन्न-भिन्न दूकानों को बन्द कर वहाँ की पूँजी इकट्ठी की गयी, क्योंकि स्थावर सम्पत्ति बेचने में समय लगता। और इस पूँजी को इकट्ठी करने के बाद कुछ फैक्टरियाँ, गाँव और मकान बेचे गये। जिस कीमत में जो चीज बिकी, बेच दी गयी और वह भी अच्छी से अच्छी चीजें। जापान की एक कहावत है—"जो वही वस्तु खरीदता है जिसकी आवश्यकता होती है उसे आवश्यकता की वस्तु बेचने की भी जरूरत नहीं पड़ती।" हमारे यहाँ जब लाखों ऐसी चीजों की खरीद में फुक चुके थे जिनकी कोई आवश्यकता न थी तब फिर वह समय कभी न कभी आता ही जब आवश्यकता की वस्तुएँ बिकतीं। एक वर्ष के भीतर पैंतालीस लाख रुपये में से सोलह लाख रुपये का कर्ज रख बाकी उन्तीस लाख रुपया मय ब्याज चुका दिया गया। इस उन्तीस लाख के कर्ज को निपटाने के लिए कोई एक करोड़ रुपये की संपत्ति की आहुति

हुई होगी। सोलह लाख का जो कर्ज रखा गया वह कुछ जायदादों को रहन कर लम्बी मुद्दत के लिए; पहले तो इस वजह से कि उस समय लोगों के यह जानने के कारण कि हम पर आर्थिक आपत्ति है, जायदाद की कीमत बहुत ही कम मिल रही थी, दूसरे इस दृष्टि से कि आमदनी से यह रकम चुका दी जायगी। जायदाद अभी भी बहुत बची थी और उसकी आमदनी भी काफी थी। यदि इसके बाद भी मितव्ययता से चला जाता तो रहा हुआ कर्ज आमदनी से चुक भी जाता, पर यह न हुआ और सन् १९१३ में रहे हुए इस सोलह लाख के कर्ज ने बार-बार बढ़कर सन् १९४३ तक सदा ही किसी न किसी प्रकार से कष्ट दे हमारे घर की उस समय की बची हुई सारी सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। यह उक्ति सर्वथा सत्य है—अग्नि, शत्रु और ऋण के शेष का शेष भी नाश कर डालता है।

इस आर्थिक उथल-पुथल की व्यवस्था में मेरा भी कुछ हाथ रहा और रोजगार-धन्धे के क्षेत्र से मुझे कुछ परिचय भी हुआ। उस समय हम सब ने यह मान लिया था कि आर्थिक दृष्टि से हमारा घर अब फिर से सुदृढ़ नींव पर हो गया है।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है हमारा कुटुम्ब उस काल के भारत के धनवान से धनवान कुटुम्बों में एक था। धन का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हमारे कुटुम्ब में हुए थे। पिताजी ने सोने-चाँदी को किस प्रकार सदा कंकर-पत्थर के सदृश माना था यह भी पहले व्यक्त किया जा चुका है, पर इस आर्थिक ठेस में उन्हें भी ज्ञात हो गया कि सोना-चाँदी संसार में चाहे सब कुछ न हो, पर बहुत कुछ अवश्य है।

प्रेमचन्दजी ने एक स्थान पर ठीक कहा है—"जब कोई वस्तु जाने लगती है तभी उसके प्रति हमारे सच्चे मनोभाव प्रकट होते हैं।"

हमें इस आर्थिक संकट के अवसर पर एक बात और ज्ञात हुई—जब कहीं बहुत अधिक संग्रह हो जाता है तब सब ओर से लूट-खसोट आरम्भ होती है; यह कही दिख पड़ती है और कहीं अदृश्य रहती है; कहीं कानून द्वारा पकड़ में आ सकती है और कहीं नहीं; यहाँ तक कि कहीं-कहीं अनैतिकता भी नहीं कही जा सकती और जिसके पास संग्रह रहता है वह अपने को अपने उस संग्रह के बीच ही निःसहाय कैदी-सा अनुभव करता है।

छप्पन भोग और तीर्थ यात्रा

हमारा कुटुम्ब धार्मिक भावना प्रधान है। आर्थिक कष्ट के अवसर पर मेरे पिताजी तथा माताजी ने हमारे इष्टदेव श्री गोपाललालजी महाराज की मनौती मानी कि इस अर्थ-संकट के दूर हो जाने पर श्री गोपाललालजी को गोपाल बाग पधराकर वहाँ छप्पन भोग का उत्सव करेंगे और चारों धामों की तीर्थ यात्रा भी करेंगे।

इस मनौती के अनुसार छप्पन भोग का उत्सव, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर और द्वारकापुरी की यात्रा की गयी। मार्ग की कठिनाई के कारण बदरीनाथ की यात्रा ब्राह्मण द्वारा करा दी गयी।

वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान की विशिष्ट सेवा अनेक प्रकार के उत्सव (मनोरथ) मनाकर की जाती है। भगवान श्रीकृष्ण के वृज में निवास के समय की उनकी भिन्न-भिन्न लीलाओं का ऋतुओं और वृज-भक्तों की भावनानुसार ही इन उत्सवों में आयोजन होता है। वृजवास के समय भगवान का बाल्यकाल ही था, अतः इन उत्सवों में वात्सल्य रस का बाहुल्य रहता है। यह रस कोमलतम और पवित्रतम है। भगवान की भक्ति में बालक की भावना इस सम्प्रदाय की विशिष्टता है। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्ट सखाओं, और उनमें भी विशेषकर महात्मा सूरदास के वात्सल्य रस प्रधान पदों की मधुरता अनुपम है।

वल्लभ सम्प्रदाय में ऋतुओं और वृजभक्तों की भावनानुसार ही भगवान का शृंगार और भोग भी होता है। जैसे शीतकाल में फूलों का शृंगार और भोग में श्रीखंड कभी न आवेगा; उस समय तो बादाम-पिश्ते आदि की सामग्रियाँ तथा शीतकालानुसार वस्त्र और शृंगारादिक रहेंगे। इसी प्रकार वसन्त में मल्हार और वर्षा में धमार के पद भी नहीं गाये जावेंगे।

इस सम्प्रदाय में पूजा नहीं होती, सेवा होती है; अपने अत्यन्त स्नेहपात्र की सेवा के समान। नित्य का सारा तथा उत्सवों का भी विधान केवल सेवामय

है। यह सेवा भगवदर्थ होने के कारण श्री वल्लभाचार्यजी ने इसे यज्ञ की संज्ञा दी है। भगवद्गीता की यज्ञ की परिभाषा के अनुरूप यह संज्ञा है। वैदिक यज्ञ भावना का विवेचन और स्पष्टीकरण भगवान ने गीता में एक विशेष प्रकार से किया है। वल्लभ सम्प्रदाय की भक्तिमयी सेवा से उसका ठीक समन्वय होता है। जैसे नित्य नैमित्तिक यज्ञों के अतिरिक्त राजसूयादिक यज्ञों को महायज्ञों की श्रेणी में रखा गया है उसी प्रकार नित्य की सेवाओं को यज्ञ और उत्सवों की सेवा को इस सम्प्रदाय में महायज्ञ कहा गया है। छप्पन भोग का उत्सव इन सब उत्सवों में श्रेष्ठ है।

छप्पन भोग के मुख्य मनोरथी श्री वृषभानुजी हैं। इनके घर श्री नन्दरायजी अपने पुत्र श्री कृष्णचन्द्र को लेकर अपने आत्मीय तथा पूज्य जनों के साथ पधारे थे। उस समय वृषभानुजी के निवास-स्थान बरसाने में साल भर के सब उत्सव इनके आतिथ्य में मनाये गये थे और उन्हें अनेक प्रकार की सामग्री समर्पित कर जो महोत्सव मनाया गया था उसी भावना को लेकर वल्लभ सम्प्रदाय में छप्पन भोग का उत्सव किया जाता है। वर्ष भर के सारे उत्सव मनोरथों के रूप में होते हैं और अन्त में छप्पन प्रकार के व्यंजनों का भगवान को भोग लगाया जाता है। कवि गदाधरदास के छप्पन भोग सम्बन्धी पद प्रसिद्ध हैं।

भगवद् प्राप्ति के लिए भारतीय धर्म में तीन ही मार्ग हैं—कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। श्री भद्भागवत के एकादश स्कंध में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रयाण काल के समय उद्धव को उपदेश देते हुए कहा है—

मार्गास्त्रियो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं, कर्म च भक्तिश्चनोपायोन्योस्ति कर्हिचित्॥

भगवद् प्राप्ति के लिए "हठयोग" रूपी योग मार्ग मानने वालों का मत भ्रमपूर्ण है। योग मार्ग भगवद् प्राप्ति का कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है। योग की आवश्यकता चित्त की शुद्धि और एकाग्रता के लिए होती है और यह सेवा द्वारा भली भाँति हो जाती है।

कर्मयोगी को भगवत प्राप्ति के लिए संसार त्याग कर तपस्या करने जंगल जाने की आवश्यकता नहीं रहती, वह निष्काम भावना रखता हुआ प्रत्येक

सांसारिक कर्त्तव्य को निभाता है। वह सब कर्मों से फल की भावना छोड़कर केवल लोक-हित के लिए कर्म करता है। उसके लिए साधन और साध्य में कोई अन्तर नहीं रहता। कर्म करने के उपरान्त वह पहले की ही स्थिति में आ जाता है; न तो उसके मधुर परिणाम से वह सुखी होता है और न विपरीत फल से वह विक्षुब्ध होता है। फल यह होता है कि उसे कर्म बन्धन नहीं जकड़ते।

अब प्रश्न उठता है कि सर्वथा कामना-रहित यह कर्म उपासना कहाँ तक चल सकती है। उत्तर में निवेदम है कि कर्मयोगी केवल एक-एक काम के प्रति ही निष्काम भावना रखता है, परन्तु उसके सामूहिक जीवन का प्रतिपाद्य कुछ न कुछ अवश्य रहता है। वह प्रतिपाद्य क्या रहता है इसके उत्तर में अवशिष्ट दोनों योग ज्ञान योग और भक्ति योग प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रत्येक कर्मयोगी इन दोनों मार्गों में से एक को चुनता है तथा यावज्जीवन उसी की पूर्ति में लगा रहता है।

ज्ञानयोग का अर्थ है अपने को जानना। ज्ञानचक्षु जहाँ सांसारिक क्षेत्र में इस दृश्यमान जगत की असत्यता का भाव करा इसके पीछे छिपे परमात्मा के दर्शन कराते हैं वहाँ अपने अंतःकरण में छिपी आत्मा का साक्षात्कार भी। जहाँ बाह्य जगत में ज्ञान मार्ग का काम वैराग्य भावना को तुष्ट करता है वहाँ अंतःजगत में वह आत्म-शुद्धि पर ही प्रमुख ध्यान देता है। इस साधना में सफलता प्राप्त होने पर वह आत्मा परमात्मा की एकता का भान कर स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है—

जाने सोई जेहि देहु जनाई।
जानहिं तुमहिं तुमहिं हो जाई॥

उसे परमात्मा में यह सारा ब्रह्मांड और उसकी प्रत्येक वस्तु में परमात्मा ओत-प्रोत दिखने लगता है। यह अद्वैतवादी अवस्था मानव-मन की सर्वोच्च अवस्था है तथा उसे प्राप्त ज्ञानयोगियों को परमात्मा का यह आश्वासन है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

—गीता ६,११

अर्थात् "जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सबको

मुझ में देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वह कभी मुझ से दूर होता है।"

अब अंतिम परन्तु अपनी सरलता के कारण सर्वाधिक प्रचलित भक्ति मार्ग पर आइए जिसे गोस्वामीजी के सदृश भक्तों ने "सबहिं सुलभ सब दिन सब राती" कहकर राजमार्ग कहा है। परन्तु इस राजमार्ग के दावे का विश्लेषण करने के पहले भक्तिमार्ग के कुछ मूल सिद्धान्तों का निरूपण मुक्ति संगत होगा।

ये भक्त आत्मा और परमात्मा दोनों का अलग-अलग अस्तित्व मनाने के कारण द्वैतवादी होते हैं। दूसरे ईश्वर के निराकार निर्गुण स्वरूप के स्थान पर ये उसके साकार एवं सगुण स्वरूप की उपासना करते हैं। इस मार्ग द्वारा उपासक (आत्मा) अपने उपास्य (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए बुद्धि की अपेक्षा जो ज्ञान योग का साधन है, प्रेम और श्रद्धा से काम लेता है। वह अपने सारे कर्म फलों को ईश्वर समर्पित कर देता है, सब कार्य ईश्वर की आज्ञा मानकर करता है, यहाँ तक कि "त्वदीय कार्याय बद्धा कटीयं" वाला अपने आपको ईश्वर के ऊपर छोड़ देता है।

अब आइए भक्तिमार्ग को राजमार्ग कहलाने के विशेषण पर। ज्ञानमार्ग की दुरूहता तथा उसके विपरीत भक्तिमार्ग की सहज सम्पन्नता देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सबसे पहली कठिन बात जो ज्ञानमार्ग में है वह है ज्ञान की तलवार की पैनी धार पर चलने जैसी साधना। यह साधना ऐसी है जिससे बड़ों-बड़ों के छक्के छूट जाते हैं। फिर सफलता तो दूर की बात है। "सहस्त्रों में कोई एकाध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है, और यत्न करने वाले इन अनेक में से एक आध ही को ईश्वर का सच्चा ज्ञान होता है।" (गीता ७।३) दूसरी ज्ञानमार्ग की कठिन बात है निराकार की साधना होने से चंचल मन को आधार न मिलने के कारण मन का चक्रित होकर यहाँ वहाँ जाना।

इसके विपरीत भक्ति के तो सभी बिना भेद-भाव के अधिकारी हैं; चाहे वह स्त्री हो या पुरुष या नपुंसक, बाल हो या वृद्ध, गरीब हो या अमीर, पापी हो या पुण्यात्मा, विद्वान हो या अपढ़। फिर जहाँ ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराके परमात्मा से तदाकार करा देता है वहाँ भक्त सदा अपने अस्तित्व को अलग

रखता हुआ भगवान के साहचर्य का सुख भोगा करता है। इसी कारण भक्त ज्ञानियों का चरम प्रतिपाद्य मुक्ति भी नहीं चाहता।

रहने दो हे देव मुझे
यह मेरे मिटने का अधिकार।

क्योंकि—

जान लो वह मिलन एकाकी
विरह में है दुकेला।

इस प्रकार मृत्यु उपरान्त भगवान हो जाने से जीवितावस्था में भगवत् दर्शन के नकद सौदे को भक्त अच्छा समझते हैं। फिर इस मायालिप्त संसार में पापों से अछूता रहना बड़ा कठिन है। कहा ही है—

काजल की कोठरी में केतिक ही स्यानों जाय
एक लीक काजर की लाग है, पै लाग है।

वैसे ही कितना ही फूंक-फूंककर मनुष्य कदम रखे, परन्तु उससे जाने-अनजाने पाप हो ही जाते हैं। इनका परिणाम नरक का घोर भय है। भक्तिमार्ग में वह महान् करुणा सिक्त हृदय पापियों को भी पावन करने की शक्ति रखता है। कितना धैर्य मिलता है इन आर्तों को भगवान के इस आश्वासन से—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि वा शुचः॥

—गीता : १८।६६

"सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत।"

इस सम्बन्ध में रामचरित मानस के उत्तरकांड का "ज्ञान-दीपक" वाला रूपक भी ध्यान देने योग्य है। वहाँ गोस्वामीजी ने ज्ञान-दीपक को विषयों की हवा से बुझनेवाला तथा "भक्ति चिन्तामणि" को स्वयं सतत् प्रकाशित बतलाते हुए यथार्थ में ही सब शास्त्र ग्रन्थों का सार "यहाँ न पक्षपात कछु राखऊँ" को निभाते हुए रख दिया है। इसी बात को लेकर भक्त उठे और जनता को नाना प्रकार की सुविधाएँ देकर अपने उद्धार के लिए जगाने लगे—

हम भगतन के भगत हमारे ।
सुन अरजुन परितग्याँ मोरी, टारत बने न टारे ॥
मैं हरि पतित पावन सुने ।
हम पतित तुम पतित पावन दोऊ बानक बने ॥

"ठाऊँ कुठाऊँ" और "भाऊँ कुभाऊँ" के भजन में भी महात्माओं ने यही सिद्धि दरशायी है ।

"उल्टे सीधे जामि हैं खेत परे के बीज ।" तथा उसी नाम की महिमा यों बतलायी है—

रामनाम हृदयो धर्‌यौ, भयो पाप को नास ।
जैसी चिनगी आग की, परी पुरानी घास ॥

भक्तिमार्ग की सापेक्ष सरलता को कहाँ तक कहा जाय ? भगवान कृष्ण ने भक्तों और ज्ञानियों दोनों की तुलना करते हुए कहा है—

"जैसे एक माता के कई पुत्र हों, तो वह माता बड़े पुत्रों की अपेक्षा छोटों का ज्यादा ध्यान रखती है, क्योंकि जहाँ बड़े लड़के अपनी सँभाल स्वतः कर लेते वहाँ दुधमुँहे बच्चे सर्वथा अपनी परिचर्या के लिए माता के ऊपर निर्भर रहते हैं । उसी प्रकार मुझे भक्त प्रिय हैं तथा ज्ञानी भी, परन्तु ज्ञानी मेरे वयस्क पुत्रों के समान हैं और भक्त छोटे बच्चों के समान, इससे मुझे उनकी विशेष चिन्ता रखनी पड़ती है ।"

अब हम भक्तिमार्ग की उत्पत्ति और उसके विकास की ओर थोड़ा सा ध्यान दें । यह तो एक निश्चित सिद्धान्त है कि समय के साथ ही वस्तुओं के रूप और उनके प्रति लोक-रुचि भी बदलती जाती है । तभी जो वस्तु आज ग्राह्य है वह कल अग्राह्य हो जाती है । इसका कारण देश, काल, परिस्थिति और उसके कारण मानव-मन की वृत्तियों के परिवर्त्तन में निहित है । अतएव संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे मनुष्य अपने आहार-विहार की चिन्ता से मुक्त हो सभ्य और संस्कृत बना तथा उसका मन कुछ ऊँची वस्तुओं की ओर घूमा एवं उसे दिखा कि आहार-विहार की चिन्ता से मुक्त होने पर भी संसार में न जाने कितने क्लेश और दुःख हैं, तब वह इन क्लेशों और दुःखों से अपने उद्धार की बात सोचने लगा । चूँकि प्रकृति ने अपनी समस्त सृष्टि में मानव को

ही ज्ञान-शक्ति दी है अतः इस शक्ति का आश्रय ले उसे जान पड़ा कि जिस स्रोत से उसे यह शक्ति प्राप्त हुई है उसी की खोज से वह इन क्लेशों और दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। इस खोज को करते-करते अन्त में माया में लिपटे जर्जर शरीर, और मन वाले इस प्राणी ने सहानुभूति और करुणासागर के चरणों में ही अपना उद्धार देखा और यही भक्तिमार्ग की उत्पत्ति एवं प्रधान प्रसार का कारण बना। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यद्यपि भगवान विष्णु का नाम ऋग्वेद में पाया जाता है, परन्तु उस समय बलिदान के प्रसंग में ही उनका नाम था न कि भक्ति की दृष्टि से। इस प्रकार यह विषय भले ही विवादास्पद हो कि वैदिक काल में भक्ति का सिद्धान्त प्रचलित था अथवा नहीं, पर यह निश्चित है कि इस सिद्धान्त को उस काल में प्रमुखता न मिली थी। जब भागवत्-गीता का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वासुदेव कृष्ण का भगवान विष्णु से सम्बन्ध जोड़ा गया तथा वह भागवत् धर्म चल निकला जिसमें विष्णु को प्रमुखता देने से वह "वैष्णव धर्म" कहलाने लगा। वैदिक काल से बौद्ध काल तक कई नामों और रूपों में इस वैष्णव धर्म का उत्थान और पतन होता रहा।

ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम इस वैष्णव धर्म का उत्तर भारत में प्रचार हुआ। उत्तर से मध्य भारत होता हुआ यह दक्षिण भारत तक पहुँचा ; भक्ति-मार्ग की यथार्थ जड़ दक्षिण में ही जमी। दक्षिण के अनुकूल वातावरण में जब यह फूल-फल रहा था तब उत्तर में बौद्ध धर्म और जैन धर्म कर्मकांड का विरोध करते हुए निवृत्तिमूलक ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन कर रहे थे। उस समय बुद्ध का व्यक्तित्व ऐसा महान् था कि कुछ काल के लिए यह भागवत् धर्म दब-सा गया। बौद्ध धर्म देश के भीतर ही नहीं, देश के बाहर भी दूर-दूर तक फैला। अनेक शताब्दियों तक उसका प्रभाव रहा। बौद्ध धर्म के इस प्रभाव का कारण भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के सिवा राज्य-शक्ति का प्रश्रय एवं बौद्ध धर्म की शुद्धता थी। कालान्तर में महान् सम्राटों के अभाव में देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया। राजाश्रय का अभाव और फिर बौद्ध धर्म के अनुयायी भिक्षुओं की स्वार्थ-लिप्सा एवं दुश्चरित्रता के कारण वह नष्ट होने लगा। इसी समय शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को शून्य धर्म बता अपने अद्वैतवाद का डंका बजाया।

उन्होंने बौद्धकाल में नष्टप्राय वैदिक परम्पराओं की नींव फिर से डालकर एक प्रकार से सनातन धर्म को पुनर्जीवित किया। पर इसी के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म के कुछ महान् सिद्धान्तों जैसे अहिंसा आदि को भी अपनाया, जिसके कारण शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा जाता है। पर शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्रधानतया मस्तिष्क को ही तोष देनेवाला था, हृदय को नहीं। अतः हृदय के लिए इस शुष्क ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-सलिल की ही आवश्यकता थी। पहले कहा जा चुका है कि वैष्णव धर्म ने दक्षिण में अच्छी जड़ जमा दी थी। दक्षिण में उत्तर से भक्तिमार्ग की जो धारा आयी थी, बौद्ध मत के पतन के पश्चात् वह धारा बड़े वेग से उमड़ी और उत्तर की ओर बढ़ी।

दसवीं शताब्दी में मुसलमानों के उग्र आक्रमण हमारे देश पर आरम्भ हो गये थे तथा १२वीं शताब्दी तक वे शासक के रूप में यहाँ प्रतिष्ठित भी हो गये थे। घोर धार्मिक असहिष्णुता के व्रती ये शासक एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर आँधी की तरह इस देश में घुसे थे। जनता अत्यन्त निराश थी और कोई उसे पूछने या ढाढस बँधाने वाला नहीं था। वह काल था वास्तव में दो विरोधी संस्कृतियों की टक्कर का, जिसमें आक्रमणकारियों का अट्टहास हमारे भगवान के सगुण रूप का मखौल उड़ा रहा था तथा जनता का विश्वास "यदा यदा हि धर्मस्य" वाले गीता के गायक भगवान कृष्ण के आश्वासन-पूर्ण वचनों से उठता जा रहा था। भग्न मूर्त्तियाँ, मन्दिरों की मूक घण्टा-ध्वनि हमारे आस्तिकवाद की खिल्लियाँ उड़ाते थे। परन्तु भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि जब-जब उसका अवरोध उत्पन्न होता है तब-तब चंदन से प्रकट होने वाली अग्नि के समान कोई न कोई उसका उद्धारक भी निकल पड़ता है।

इस बार इस संस्कृति की रक्षा के लिए सन्त, महात्मा, भक्त, कवि उत्पन्न हुए, जिन्होंने भक्ति रस पिलाकर यहाँ के निवासियों को न केवल अभय किया वरन् असीम आत्म-विश्वास से भर दिया। सन्तों तथा महात्माओं ने दार्शनिक विचारों का पुनः प्रसार किया और भक्तों तथा कवियों ने अपने सुधामय स्वरों से जनता में फैलने वाली निराशा को उत्साह, आनन्द और उमंग की लहरों में बदल दिया। यह सर्वविदित ही है कि भक्तिमार्ग के प्रमुख संस्थापकों में

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु हैं तथा प्रमुख कवियों में तुलसी, सूर, मीरा आदि हैं।

भक्त सगुण साकार ईश्वर के उपासक रहते हैं, निर्गुण निराकार के नहीं। और भक्तिमार्ग में चाहे बहु देव माने तथा पूजे जाते हों पर वे समस्त देव एक भगवान के ही रूप हैं यह भी स्पष्ट रहता है। भक्तिमार्गी जनों में से कोई शिव या दुर्गा के उपासक होते हैं तो कोई सीता और राम, कृष्ण और राधा आदि के। राम और कृष्ण तो भगवान विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं और भगवान की शक्ति दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदि के रूप में पूजनीय रहती है। वैसे तो इस भिन्नत्व में अभिन्नत्व और अभिन्नत्व में भिन्नत्व समझा कर बहुत कुछ भ्रम पैदा किया जा सकता है और इतिहास साक्षी है कि किसी भी वाद को आग्रहपूर्ण ग्रहण करने की संकीर्णता सदा भ्रम उत्पन्न करती है, क्योंकि ये अतिवादी अपने सिवा सबको भटका हुआ समझकर उन्हें दया के पात्र समझते हैं, परन्तु इस विभिन्नता (बहुदेववाद) का सीधा अर्थ यही है कि यद्यपि भगवान एक हैं तथापि मनुष्य की रुचियों की विभिन्नता के कारण भगवान के ये विविध स्वरूप पूज्य हो गये हैं। आनन्द के इच्छुक शिव को, शक्ति के पूजक दुर्गा को, मर्यादा के अनुगायी राम तथा सीता को और सौन्दर्य एवं प्रेम के उपासक कृष्ण तथा राधा को आराध्य माननेवाले बनें। परन्तु जिस प्रकार विभिन्न घटों में भरा हुआ नीर एक ही है उसी प्रकार नाना स्वरूपों के पीछे छिपी भावना भी एक ही। भगवान कृष्ण ने गीता में इस बहुदेववाद में भी अनन्यता पर जोर दिया है। अध्याय ७ के २१ और २२ श्लोक यों हैं :

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

भक्ति शब्द भज धातु से बना है। भज का धात्वर्थ है सेवा और क्तिन् प्रत्यय का अर्थ है प्रेम। प्रेमपूर्वक भगवान की सेवा करना इसी का नाम है भक्ति। भक्त भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ मानते हैं। श्री मद्भागवत तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में कई स्थल पर यह बात आयी है। भागवत में वृत्रासुर

चतुश्लोकी में तो इसका बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। भक्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने जो कहा है वह सूत्र रूप में "सापरानुरक्तिरीश्वरे" ईश्वर में परम अनुराग का नाम ही भक्ति है। केवल भक्ति से ही भगवत् प्राप्ति होती है यह बात शास्त्रमान्य है। भक्ति का यथार्थ स्वरूप और उसकी रचनात्मकता के प्रत्यक्ष विधान पर श्रीमद्वल्लभाचार्य जी, उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथजी, उनके अनुयायी तथा अष्ट सखाओं ने पूर्ण प्रकाश डाला है। इस मार्ग में भगवान श्रीकृष्ण को पूर्णावतार मानकर उनके सगुण स्वरूप की सेवा का विधान है। भगवान स्वयं गुणातीत हैं, परन्तु जीवों की भजनसुविधा निमित्त गुणभावों को अंगीकार करते हैं इसलिए भक्त भगवान में प्रकृति से भिन्न गुण मानकर सगुण भाव से भगवान की सेवा करते हैं और शास्त्र सिद्धान्तानुसार भगवान को साकार कर्मशील समझकर उनका भजन करते हैं।

भारतवर्ष में अनेक देवताओं के उपासक हुए हैं और अनेकों सम्प्रदाय प्रचलित हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने किसी भी देवता की उपासना करने वालों के खंडन के बिना शास्त्रों के सारतत्त्व को समझाते हुए सप्रमाण भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति की सर्वोत्तमता सिद्ध की है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, पुरुषोत्तम हैं, परम तत्त्व हैं और वास्तव में श्रीकृष्ण की सेवा, उनके स्वरूप चिन्तन और उनकी लीलाओं के कीर्तन से ही जीवों का परम कल्याण हो सकता है, यह समझाया है। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने जिस प्रकार श्रीकृष्ण का स्वरूप, उनकी लीलाओं का रहस्य एवं श्रीकृष्ण सेवा का महत्त्व तथा क्रम बतलाया है वह सर्वोत्तम ज्ञात होता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का सिद्धान्त वेदान्त दर्शन के अनुसार शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद है। इस मार्ग में भारतीय संस्कृति, सदाचार, साहित्य तथा कला का संरक्षण दृष्टिगोचर होता है। इन सब के परस्पर क्रमानुसार प्रयोग का समुचित रीति से विधान किया है। शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन श्री आचार्यजी ने वेद, गीता, व्यास सूत्र और श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों के प्रमाण द्वारा किया है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का स्वरूप है। विश्व में जो कुछ हो रहा है वह भगवत् इच्छा से ही हो रहा है। जगत की उत्पत्ति,

स्थिति और लय का एकमात्र कारण ब्रह्म है। सात्विक, राजस, तामस भाव जो विश्व में दिखायी दे रहे हैं वह भी भगवत्क्रीड़ा है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नाम रूपात्मक विश्व को भगवान का स्वरूप समझकर सबका आदर किया जाता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भगवान् की शरण में जाकर उनके चरणों में आत्म-निवेदन कर सेवा-परायण रहने का उपदेश दिया है। उन्होंने अणुभाष्य, तत्व प्रदीप निबन्ध, श्री सुबोधिनी, षोडष ग्रन्थ आदि विविध ग्रन्थों में अपना सिद्धान्त समझाया है। श्री आचार्यजी ने अपने मार्ग का नाम पुष्टि मार्ग रखा है। पुष्टि अर्थात् भगवान् का अनुग्रह। जिस मार्ग में भगवान् का अनुग्रह प्रधान है उसी का नाम पुष्टि मार्ग है। श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार भगवान के अनुग्रह से ही उनकी प्राप्ति हो सकती है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुश्रुतेन ।
यमेष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विवृणुतेतनूं स्वाम् ॥

यहाँ प्रवचन अर्थात् वेद वाच्यता सम्बन्ध से वेदोक्त समस्त कर्म, ज्ञान, भक्त्यादि उपलक्षण विधि से ग्रहीत होते हैं। न तो वेदों में कहे हुए साधनों से यह आत्मा लभ्य है, न बुद्धिगम्य स्वाभाविक साधनों से प्राप्त किया जा सकता है और न आगन्तुक साधनों से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सिद्धान्त इस वेद वाक्य से सिद्ध होता है।

यह वही परमात्मा है जिसके लिए कहा गया है

सर्व वेदायत् पदमामनन्ति ।

यदि इन श्रुतियों का समन्वय भगवद्गीता के सिद्धान्तों से किया जाय तो परमात्मास्वरूप पुष्टि भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है।

इसीलिए "सर्ववेदा" इत्यादि श्रुति द्वारा प्रतिपादित स्वरूप को "वेदैश्च सर्वैरह मेववेद्यो" कहा है। अब यह स्वरूप क्योंकर प्राप्त हो इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए गीता में कहा है—

नाहंवेदैर्न तपसा न ज्ञानेन न चेज्यया ।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वे न प्रवेष्टुं च परंतप ।
पुरुषश्स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥

इत्यादि। यह पर-पुरुष अन्य कोई न होकर "अतोस्मिलोके वेद च प्रथित: पुरुषोत्तम:। परब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान" इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित श्रीकृष्ण ही है। यह अनन्य भक्ति भी पुष्टि भक्ति ही है। "मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपता तेमे युक्तमा मता:।।" श्रीमद्-भागवत में भी इस स्वरूप को अनुग्रह भक्ति आदि से ही प्राप्ति योग्य कहा गया है, साधन लभ्य नहीं। "यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरै:। व्याख्या स्वाध्याय सन्यासै: प्राप्नुयात् यत्नवानपि।। सर्वंमद्भक्ति योगेन मद् भक्तों लभतेञ्सा। स्वर्गापिवर्गं मद्धाम कथंचित् यदि वाञ्च्छति।" ये सब श्लोक इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं।

अब इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत भी देखिए। श्री शंकराचार्यजी का कथन है—

> **तस्मात तार्किकचाट भट राजा प्रवेश्यमभयं दुर्गमिदं**
> **अल्पबुद्धयगम्यं शास्त्रगुरुप्रसाद रहितौच। कस्तं मदामंद**
> **देवमदन्योज्ञातु मर्हति, देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरानैषां**
> **तर्केण मति रापनेत्रा, पर प्रसाद लभ्यत्व श्रुति स्मृति वादेभ्यश्च।**
> **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके इत्यादि विरुद्ध धर्म स्मवायित्व**
> **प्रकाशक मन्त्रवर्णेभ्यश्च।**

अर्थात् यह ब्रह्मात्माद्वैत रूप जो किला है वह मन्द बुद्धि वालों को प्राप्त नहीं हो सकता। शास्त्ररहित और गुरुकृपाशून्य लोगों के लिए भी यह अगम्य है। इस प्रकार तर्कादि से भी अगम्य इस स्वरूप को केवल वर प्रसाद लभ्य बतलाकार वर प्रसाद लभ्यत्व के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हुए विरुद्ध धर्माश्रयत्व स्वीकार करना ही शुद्धाद्वैत सिद्धान्त स्वीकार करना है।

श्रीयामुनेय मुनि की उक्ति देखिए—

> **अपराध सहस्त्र भाजनं पतितं भीम भवार्णवोदरे**
> **अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवल मात्मसात्कुरु।**

इसी प्रकार श्री यतिराज की उक्ति तथा श्री रामानुज मत भी लगभग पुष्टि मत का ही प्रतिपादन करते हैं केवल थोड़े से अन्तर से।

गीता भी इसी तत्त्व ज्ञान का उपदेश कर रही है। गीता के चरम रहस्य

भाग में "मनम्नाभव मदभक्तो" इत्यादि पुष्टि भक्तिदान भी तब प्राप्त होता है, सर्वगुह्य तम श्रवण का लाभ भी तभी प्राप्त होता है, जब पहले इष्टत्वं या प्रियत्व प्राप्ति हो।

श्री निम्बार्क और श्री चैतन्य मत में भगवान को गोपालमंत्रोपास्य स्वीकार किया गया है। मन्त्रोपासना भक्ति से सर्वथा पृथक् है यह भी वल्लभाचार्य का मत है। मंत्रशास्त्र मन्त्रोपास्य किसी के मित्र या किसी के शत्रु हो सकते हैं परन्तु भक्तिवश प्रभु स्वयं गीता में कहते हैं

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्तिन प्रियः।

मन्त्रशास्त्र के मारण, मोहन, उच्चाटन का आशय भक्त कैसे ले सकता है ? भक्त के लिए तो अनन्योपासन ही कर्त्तव्य है। "अनर्थोपशमं साक्षात् भक्ति योगम घोक्षजे।" मूल पुरुषोत्तम रूप केवल भक्ति गम्य है और उसका उद्देश्य जीव जात को निश्रेयस दान ही है।

निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले ।
अतएवास्तिनैश्चिन्त्यं ऐहिके पारलौकिके ।।

यह निःसाधन फलात्मास्वरूप मन्त्रोपासनादि साधन लभ्य नहीं हो सकता।

"स्नेहोभक्ति" व्रज सीमन्तिनी प्रवर्त्तित स्नेहात्मिका भक्ति का प्रकाश ही श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने किया है।

आचार्यजी ने इसके अतिरिक्त ज्ञानमार्ग, दार्शनिकता आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भी अपने भक्तिमार्ग को सिद्ध किया है। उपनिषद् के सृष्टि निरूपक जगत कर्तत्वादि निरूपक वाक्य ब्रह्ममाहात्म्य प्रदर्शक होने से स्नेह के पूर्वांक ही हैं पंच रात्र के।

माहात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोधिकः स्नेहोभक्तिः

इस वाक्य के अनुसार। ईश्वरे परानुरक्तिः यह सूत्र भी ईश्वर शब्द से "महात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु" इसी सिद्धान्त को कहता है। "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" आदि वाक्य भी अभेद को प्रदर्शित करते हुए प्रेमवर्धक है। जहाँ प्रेम है वहाँ अभेददर्शन, अभेदभाव स्वाभाविक है।

श्री गोपाललालजी का मन्दिर और गोपाल बाग दोनों ही सेवारामजी ने बनवाये थे और इनके बनने के बाद दोनों की ही बड़ी उन्नति हुई थी। जब

मेरे ताऊजी का और पिताजी का बटवारा हुआ था उस समय गोपाल बाग गोपाललालजी को भेंट कर दिया गया था और उसके कुछ वर्षों के बाद मन्दिर का एक पृथक् ट्रस्ट हो गया था।

गोपाल बाग छप्पनभोग महोत्सव के लिए खूब सुधरवाया गया और इस समय इस बाग की जैसी सरसब्ज हालत थी वह देखते ही बनती थी। इसके भिन्न-भिन्न चक्करों के दरख्त, पौधे, उनकी भिन्न-भिन्न रंगों की पत्तियाँ, पुष्प सब एक नया नजारा दिखा रहे थे। उत्सव के लिए वल्लभ कुल के आचार्यों में मथुरा के श्री गोपाललालजी महाराज और काशी के हमारे गुरुदेव श्री गिरिधरलालजी महाराज को बुलवाया गया। कई कीर्तनियाँ और गवैये आदि भी आये। वृज से एक रासमण्डली भी आयी। नित्य दिन भर उत्सव की तैयारी होती। कितनी कलापूर्ण होती यह तैयारी। पत्ती, फूल, रंग न जाने कितनी वस्तुओं का कलात्मक ढंग से प्रयोग होता। और इन सब उत्सवों के अन्त में भगवान को छप्पन भोग लगाया गया। कितनी और कितने प्रकार की खाद्य-सामग्री थी इस भोग में। मेहमानों की संख्या भी काफी थी। श्री गोपाललालजी की मूर्ति को एक सोने-चाँदी से मढ़े हुए सुखपाल में बड़ी धूमधाम से गोपाल बाग पधराया गया और फिर वहाँ वर्ष भर के समस्त उत्सव बगीचे के भिन्न चक्करों में किये गये। किसी में नन्द महोत्सव, किसी में झूला, किसी में शरद पूर्णिमा का रास, किसी में साँझी, किसी में फूलमण्डली, किसी में जल विहार, किसी में होली, किसी में कुछ और किसी में कुछ। इस तैयारी के बाद संध्या को दर्शन होते। हर दिन दर्शन करने के लिए हजारों आदमियों की भीड़ होती। दर्शन के समय सुन्दर कीर्तन होता और कीर्तन में गोस्वामी श्री गोपाललालजी महाराज भी भाग लेते। रात को रास होता। कोई एक महीने तक उत्सव चला। गोपाल बाग उस समय सचमुच ही श्रीकृष्ण लीला का व्रजमण्डल हो गया था। मैं अपनी सारी सुध-बुध भूल इस उत्सव में तल्लीन रहा।

इसके कुछ समय बाद जगदीशपुरी, रामेश्वरी और द्वारकापुरी की यात्रा हुई। इस प्रकार की यात्राओं में अच्छा संग पाकर बहुत से संगी-साथी हो जाते हैं, चाहे खर्च वे अपना ही क्यों न करें। राजा गोकुलदास का कुटुम्ब इतनी बड़ी यात्रा को जा रहा था अतः बहुत लोग आकर्षित हुए। एक फर्स्ट

और सैकिण्ड क्लास की कंपोजिट बोगी तथा दो थर्ड क्लास की बोगियाँ रिजर्व करायी गयीं। उन दिनों रेल के डिब्बे रिजर्व होना और उनका गाड़ियों में लगना तथा कटना बहुत सरल काम था। सबसे पहले हम लोग जगन्नाथ पुरी गये; यह आषाढ़ में, जिस समय वहाँ का सबसे बड़ा उत्सव रथ-यात्रा होता है। कोई दो सौ व्यक्तियों के साथ हम लोग यात्रा के लिए रवाना हुए।

जगदीशपुरी समुद्र के तट पर बसी हुई है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। जगन्नाथजी का मन्दिर शिखरबन्द है और काफी बड़ा है। जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की काष्ठ की बड़ी-बड़ी और कुछ अद्भुत-सी प्रतिमाएँ हैं। सुन्दर तो इन्हें किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। मन्दिर के शिखर के नीचे यत्र-तत्र कुछ अश्लील मूर्तियाँ बनी हैं। न जाने इन मूर्तियों का वहाँ क्या प्रयोजन समझा गया। सम्भव है यह मन्दिर किसी समय वाम मार्गियों का मन्दिर रहा हो। जगदीश के प्रसाद पाने में कोई छुआछूत नहीं। रथ-यात्रा के अवसर पर तीन विशाल रथों में तीनों मूर्तियाँ निकलकर वहीं से निकट एक स्थल जनकपुरी जाती हैं। इस उत्सव पर वहाँ लाखों की भीड़ जमा होती है।

हमने जगदीश के दर्शन किये। रथ-यात्रा का उत्सव देखा। प्रसाद पाया और कुछ दिन यहाँ रह साक्षी गोपाल और भुवनेश्वर गये। कहा जाता है कि साक्षी गोपाल के दर्शन किये बिना जगन्नाथजी के दर्शन का फल नहीं मिलता, क्योंकि जगन्नाथजी के दर्शन किये हैं इसकी साक्षी गोपाल देते हैं। इसीलिए उनका नाम साक्षी गोपाल है। भुवनेश्वर का मन्दिर जगन्नाथजी के मन्दिर से कहीं अधिक सुन्दर और प्राचीन जान पड़ता है।

जगदीशपुरी से हम लोग रामेश्वर की यात्रा को चले। कितने विशाल मन्दिर हैं दक्षिण के। श्रीरंगजी के मन्दिर की विशालता, मदुरा के श्री मीनाक्षी देवी के मन्दिर के गोपुर और श्री रामेश्वर मन्दिर की भी अनेक कलात्मक सामग्री दर्शनीय हैं।

दक्षिण में हम लोग वहाँ के सब तीर्थ-स्थलों को गये। इनमें मुख्य थे—रामेश्वर, श्रीरंग, मदुरा, विष्णुकांची, शिवकांची, कुम्भकोनम।

जब हम रामेश्वर की यात्रा कर रहे थे उसी समय चन्द्र ग्रहण पड़ा। अतः चन्द्र ग्रहण के स्नान के लिए हम धनुष कोटि गये। धनुष कोटि से पूर्व और

पश्चिम सागर का संगम है। एक ओर के समुद्र में लहरें उठती हैं और दूसरी ओर का समुद्र एकदम शान्त है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। जब रात्रि को चाँदनी में ग्रहण के कुछ पहले हम लोग समुद्र की बालू पर आराम कर रहे थे उस समय एकाएक जोर के बादल उठे। आँधी आयी। खूब गर्जन-तर्जन हुआ। बिजली चमकी और कड़की। वर्षा हुई। यात्रियों की यथेष्ट भीड़ थी छाया दूर-दूर तक न थी। सभी भींगे। धनुष कोटि तीर्थ की चन्द्र ग्रहण वाली रात मुझे अनेक बार याद आ जाती है। भयानकता में भी कितना सौन्दर्य मिश्रित था उसमें।

रामेश्वर की यात्रा से हम द्वारका रवाना हुए। सुदामापुरी तक हम रेल में गये और वहाँ से तीन दिन बैल-गाड़ियों पर। जहाज से श्री द्वारका जाया जाता है, पर हम जहाज से नहीं गये। द्वारकापुरी के दो विभाग हैं। एक द्वारका कहलाती है और दूसरी बेट द्वारका। द्वारका का मन्दिर शिखरदार और विशाल है, परन्तु सेवा में विशेषता है बेट द्वारका में। द्वारका से बेट द्वारका को एक समुद्री खाड़ी पार कर जाना पड़ता है। उस समय इसके लिए पालवाली बड़ी-बड़ी नौकाएँ थीं। हमें द्वारका से बेट द्वारका उन नावों के द्वारा पहुँचने में कोई पैंतालीस मिनट लगे। जन्माष्टमी का उत्सव हमने बेट द्वारका का किया। बड़ी धूमधाम थी। द्वारकाधीश का जन्माष्टमी का शृंगार बड़ा ही मनमोहक होता है।

जब हम बेट द्वारका से द्वारका लौट रहे थे उस समय खाड़ी में एकाएक बड़ा भारी तूफान आ गया। कैसा दृश्य था उस तूफान का! वायु का वेग। ऊपर घटाएँ दौड़ रही थीं और नीचे खाड़ी में विशाल लहरें उठ रही थीं। नाव ऐसी डगमगाती कि बस डूबती-डूबती ही बचती। सब के होश उड़े हुए थे और उस मानसिक दशा में जब एक खेवट ने कहा कि कुछ पहले ही उस खाड़ी में एक नाव डूब चुकी है तब तो हम सब के मन की जो हालत हुई उसका वर्णन करना कठिन है। सब ने उच्च स्वर से प्रार्थना आरम्भ की। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि यह कथन कितना सत्य है कि यदि नास्तिक की भी नाव डूबती हो तो उस समय नास्तिक भी आस्तिक हो भगवान की प्रार्थना करने लगता है। जिस खाड़ी को जाते समय हमने पैंतालीस मिनट में पार किया था, उसी

को पार करने में अब कोई दो घण्टे लगे और ये दो घण्टे उस समय कैसे जान पड़े ? दो युग से कम नहीं।

द्वारका के आस-पास के भी सारे तीर्थों को हम गये। प्रभास क्षेत्र पर जा मुझे यादवों तथा भगवान् श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण की सुनी हुई कथाएँ कितनी याद आयीं। उन कथाओं को याद कर मैंने वहाँ न जाने कितने आँसू बहाये।

कोई तीन महीने लगे हम लोगों को इन तीन धामों की यात्रा में। और पिताजी के किसी काम में कम खर्च कंजूसी ? यह हो ही न सकता था। इस समस्त यात्रा में अधिकांश स्थानों पर पंडों की बहियों आदि में इसके पूर्व की राजा गोकुलदासजी की यात्राओं का विवरण हमें मिला और उनके विशद दान-पुण्य आदि की चर्चा भी हमें सुनने को मिली। हमारी इस यात्रा में भी दान-पुण्य आदि में कोई कोर-कसर नहीं रखी गयी थी।

तीनों धामों की यात्रा के पश्चात् यद्यपि पिताजी और माताजी ने श्रीनाथद्वारे की यात्रा की कोई मानता न की थी, परन्तु हम लोग श्रीनाथद्वारे भी गये। वल्लभकुल सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण तीर्थों में श्रीनाथद्वारे का तो हमारे लिए सर्वोपरि स्थान था।

बिना शिखर आदि का अत्यन्त साधारण श्रीनाथजी का मन्दिर; और ऐसा मन्दिर होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वल्लभ कुल सम्प्रदाय के मन्दिर यथार्थ में मन्दिर न होकर भावनाओं के अनुसार नन्दरायजी के घर हैं। इस सम्प्रदाय में मन्दिर को महत्त्व नहीं, जैसा पहले कहा गया है भावनाओं और उन भावनाओं के अनुसार भगवद्सेवा को महत्त्व है। श्रीनाथजी का मन्दिर अत्यन्त साधारण है तो क्या, जैसी भगवद्सेवा वहाँ होती है और उसके साथ जो भावनाएँ निहित हैं, वैसी सेवा इस देश में क्या संसार में कदाचित् किसी देवालय में न होती होगी, न वैसी भावनाएँ ही कहीं देखने को मिलेंगी। श्रीनाथजी की सेवा, वहाँ का भोग राग, वैष्णवों की भीड़ सब कुछ अद्वितीय है। जब हम लोग श्रीनाथद्वारे गये तब चैत्र का महीना था। चैती गुलाब के मानो नाथद्वारे के आस-पास जंगल हों। गुलाब की फूलमण्डलियाँ, गुलाब के शृंगार, गुलाब जल का प्रवाह-सा बह रहा था। और गुलाब के इत्र की लपटें। गुलाब की सुगन्धि से मन्दिर का सारा वायुमण्डल व्याप्त था। उस वायुमण्डल में उसी

प्रकार का भोग और भगवद् गुणानुवाद का कीर्तन। श्रीनाथद्वारे के गोस्वामी उस समय श्री गोवर्धनलालजी महाराज थे। वे तिलकायत कहे जाते हैं। हमारा घर इस सम्प्रदाय में एक छोटा-सा स्थान रखता है। हम लोगों की वहाँ बड़ी आवभगत हुई।

मुझे जो आनन्द श्रीनाथद्वारे में प्राप्त हुआ वह कहीं की यात्रा में नहीं।

श्रीनाथद्वारे में ही हम लोगों का विचार भादों से कार्तिक तक होने वाली वृज की प्रसिद्ध वनयात्रा में जाने का भी हुआ। यह यात्रा लगभग डेढ़ महीने तक वृज के चौरासी कोस के भिन्न-भिन्न स्थानों को जाती है और जहाँ-जहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने जो जो लीला की है वह लीला होती है। वल्लभ कुल सम्प्रदाय में इस वन यात्रा का बड़ा महत्त्व है। परन्तु हमारा वन यात्रा जाने का विचार अब तक भी कार्य रूप में परिणत न हो सका।

भारत के कुछ ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण

घूम-घाम कर भिन्न-भिन्न स्थानों को देखने के शौक की एक अवस्था होती है। मेरी उस समय वही अवस्था थी। तीर्थ-यात्रा ने इस शौक को और अधिक जागृत कर दिया था। अतः इस यात्रा की समाप्ति के कुछ दिन पश्चात् मैं भारत के ऐतिहासिक स्थानों को देखने निकला। इतिहास से सदा ही मेरा प्रेम रहा है। इतिहास के इस प्रेम ने ऐतिहासिक स्थानों को देखने के लिए मुझे एक नयी प्रेरणा दी। मैं उनसे सहमत नहीं जो यह कहा करते हैं कि गड़े मुरदे उखाड़ने से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस सम्बन्ध में मेरा मत श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मिलता है। वे एक जगह लिखते हैं—

"अतीत की स्मृतियाँ मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण हैं। अर्थ परायण लाख कहा करें कि गड़े मुरदे उखाड़ने से क्या फायदा, पर हृदय नहीं मानता, बार-बार अतीत की ओर जाया करता है।... जिनका हृदय मारा नहीं गया है, उनकी दृष्टि अतीत की ओर जाती है। क्यों जाती है, क्या करने जाती है, यह बताते नहीं बनता। अतीत कल्पना का लोक है, एक प्रकार का स्वप्न-लोक है, इसमें तो सन्देह नहीं। अतः यदि कल्पना लोक के सब खण्डों को सुखपूर्ण मान लें तब तो प्रश्न टेढ़ा नहीं रह जाता, झट से कहा जा सकता है कि वह सुख प्राप्त करने जाती है। पर मेरी समझ में अतीत की ओर मुड़-मुड़कर देखने की प्रवृत्ति सुख-दुख की भावना से परे है। स्मृतियाँ मुझे कदापि सुखपूर्ण दिनों के भग्नावशेष नहीं समझ पड़तीं। वे हमें लीन करती हैं, हमारा मर्म स्पर्श करती हैं, बस हम इतना ही कह सकते हैं। जैसे अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति मनुष्य में होती है वैसे ही समष्टि रूप में अतीत नर-जीवन की भी एक प्रकार की स्मृत्याभास कल्पना होती है, जो इतिहास के संकेत पर जगती है। इसकी मार्मिकता भी निज के अतीत जीवन की स्मृति की मार्मिकता के समान ही होती है। नर-जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखण्ड परम्परा

के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता और असीमता का आभास देती है। यह स्मृतिस्वरूपा कल्पना कभी-कभी प्रत्यभिहीन का भी रूप धारण करती है।···वैसे ही किसी इतिहास-प्रसिद्ध स्थल पर पहुँचने पर हमारी कल्पना या मूर्त्त भावना चट उस स्थान पर किसी मार्मिक घटना के अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच हमें पहुँचा देती है।···अतीत की यह स्मृतिस्वरूपा कल्पना कितनी मधुर, कितनी मार्मिक और कितनी लीन करनेवाली होती है, सहृदयों से न छिपा है, न छिपाते बनता है, मनुष्य की अन्तर्प्रवृत्ति पर इसका प्रबल प्रभाव स्पष्ट है। हृदय रखनेवाले इसका प्रभाव, इसकी सजीवता अस्वीकृत नहीं कर सकते।"

दीवाली के २-४ दिन बाद मैं इस यात्रा के लिए रवाना हुआ। उन दिनों जब कहीं हम लोग जबलपुर के बाहर जाते तो एक छोटी-मोटी बारात सी साथ रहती। तीर्थ यात्रा पर जब हम गये तब तो अड़ौस-पड़ौस के लोग भी साथ हो गये थे और वे अपने खर्च पर गये थे, परन्तु ऐतिहासिक स्थानों को देखने इन पड़ौसियों में से कोई न गया था। इस समय जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, साथ में कोई सत्रह-अठारह आदमी थे। एक शिक्षक, दो मित्र, एक वैद्य, एक कथावाचक, एक मुनीम, एक अंगरेजी वाला, तीन पहरेदार, एक अर्दली, एक चपरासी, दो रसोइये, दो रसोईघर के कहार, दो खिदमतगार। शिक्षक थे श्री भोलानाथ सरकार। मित्रों में थे जयपुर के रूपनारायणजी करवा और होशंगाबाद जिले के शोभापुर नामक स्थान के अमोलकचन्दजी गंगन। वैद्य थे जयपुरवाले रामप्रतापजी। कथावाचक थे बच्छराजजी व्यास। मुनीम थे चाँदमल बोथरा। अंग्रेजीवाले थे चतुर्भुज तिवारी। नौकरों में केवल एक नाम याद है ठाकुर काशीसिंह जो मेरे जन्म से ही मेरे अर्दली के रूप में मेरे साथ रहे थे। दो रसोइये और चौके के दो कहार इसलिए आवश्यक माने जाते थे कि भोजन शरीर के लिए सबसे जरूरी है अतः यदि कोई रसोइया या चौके का कहार बीमार हो जाय तो उसका एवजाना तो साथ रहे और फिर अंग्रेजी वाले के साथ एक रसोइया और कहार आगे का प्रबन्ध करने पहले रवाना हो जाता था। उस समय की प्रायः सभी यात्राओं में यह व्यवस्था रहती थी। इस यात्रा में हमें कोई एक महीना लगा। उस समय फर्स्ट क्लास के डब्बे में चार

बर्थ रहते थे अतः एक फर्स्ट क्लास का डब्बा रिजर्व होता, कुछ टिकट इण्टर की ली जातीं और शेष थर्ड क्लास की। ठहरने का प्रबन्ध अधिकतर स्थानों में हमारी दूकानों, रिश्तेदारों और मित्रों के यहां हुआ, कहीं-कहीं धर्मशालाओं में भी, परन्तु होटल में कहीं नहीं। उस समय हम बिस्कुट तक न खा सकते थे, फिर होटल का प्रश्न कहां ?

जबलपुर से रवाना हो इटारसी होते हुए सबसे पहले हम सांची देखने भोपाल पहुँचे। भोपाल में हमारी दूकान थी जो मेरे ताऊजी के हिस्से में गयी थी। यहां हम ठहरे। भोपाल राज्य से हम लोगों का बहुत निकट का सम्बन्ध था। वहां उस समय मालगुजारों को मुस्ताजर कहते थे। हम लोग भोपाल रियासत के सबसे बड़े मुस्ताजर थे। सांची भोपाल से लगभग पच्चीस मील दूर है। हम लोग सांची रेल से कोई तीसरे पहर पहुँचे। कैसा अद्भुत है वहां का बौद्ध-स्तूप ! बनारस जाने के कारण मैं सारनाथ का बौद्ध-स्तूप देख चुका था, पर वह केवल महान् है। इसमें है महानता के साथ सौन्दर्य। यह इसमें विशेष रूप से आया है इसके चारों ओर के फाटकों के कारण, जो स्तूप के बहुत दिन बाद बनाये गये। फाटकों पर हाथियों, सिहों, घोड़ों, वृषभों, ऊँटों, मोरों, अन्य पक्षियों और मानवों की मूर्तियां तथा अन्य खुदाव दर्शनीय हैं। मैंने कुछ जातक कथाएँ पढ़ी थीं। यह खुदाव है उन कथाओं के कुछ वर्णनों के अनुसार। इन कथाओं में कुछ प्रमुख ऐतिहासिक कथाएँ भी खोदी गयी हैं, जैसे सम्राट् अशोक की बुद्ध गया में बोधिवृक्ष के दर्शन की यात्रा, राजगृह के भगवान बुद्ध के दर्शनार्थ महाराजा बिंबसार का प्रस्थान, कुशीनारा में भगवान बुद्ध के शरीर के अवशेषों को लेने के लिए कुछ राज्य प्रतिनिधियों का आगमन। कुछ शिलालेख भी हैं। परन्तु सारे खुदाव के काम में बुद्ध की प्रत्यक्ष प्रतिमा कहीं नहीं है। भगवान बुद्ध का संकेत कहीं होता है चक्र द्वारा, कहीं रिक्त सिंहासन द्वारा, कहीं पद-चिन्हों द्वारा और कहीं पीपल के वृक्ष द्वारा। बुद्ध की प्रतिमा तो उनके निर्वाण के कोई पांच सौ वर्ष पश्चात् निर्मित हुई और यथार्थ में वह काल्पनिक प्रतिमा है। परन्तु जिस प्रकार राम तथा कृष्ण की प्रतिमाएँ काल्पनिक एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की होने पर भी उन्हें पहचानने में कठिनाई नहीं होती, वही बुद्ध-प्रतिमा के सम्बन्ध में भी हो गया है। स्तूप सबसे सुन्दर

दिखायी पड़ता है दक्षिण-पूर्व की ओर से। सारा स्तूप पत्थर के शिलाखण्डों से पटा है और स्तूप के चारों ओर पत्थर की मुंडेर बनी है। पहले यह काष्ठ की थी, फिर पाषाण की बनी। साँची का बौद्ध-स्तूप भारत की शिल्प-कला की वस्तुओं में सबसे प्राचीन है। ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व इसका निर्माण हुआ था और इसके भीतर भगवान बुद्ध के शरीर की कोई अस्थी सुरक्षित है। इसके बाद यह बढ़ाया गया। भगवान राम और कृष्ण के पश्चात् मेरी श्रद्धा और भक्ति के पात्र भगवान बुद्ध ही हैं। वैदिक धर्म से पृथक् धर्म स्थापित करने पर भी हमारी संस्कृति में उन्हें अवतार पद दिया गया है। मैंने भगवान बुद्ध के शरीर का अंश धारण करनेवाले इस स्तूप को बार-बार प्रणाम किया। इस स्तूप के आस-पास कुछ दूर पर तीन और छोटे-छोटे स्तूप हैं। एक टूटा हुआ अशोक स्तम्भ तथा कुछ और छोटे-छोटे स्तम्भ हैं। कुछ मन्दिरों और विहारों के खण्डहर भी हैं। मेरे मन में एकाएक उठा इन्हीं स्तूपों आदि के कारण आधुनिक काल के इतिहासज्ञ बुद्ध के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं करते। अयोध्या, मथुरा या द्वारका में भगवान राम और कृष्ण के समय या उस समय के आस-पास की कोई वस्तु नहीं है। यदि खुदाई आदि कर किसी चीज का पता लग पाता।

साँची से हम फिर भोपाल लौटे। भोपाल में हमारे एक नातेदार श्री बृजमोहनदासजी ने मेरे सम्मान में एक बहुत बड़ा भोज दिया। दूसरे दिन हम भोपाल में घूमे घामे। वहाँ की कोई ऐसी अद्भुत वस्तु नहीं जिसका वर्णन किया जा सके।

भोपाल से हम खजुराहो के मन्दिर देखने झाँसी पहुँचे और झाँसी से हरपालपुर। हमारे कुटुम्ब का तो छतरपुर के महाराजा से कोई सम्बन्ध न था, पर मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध उनसे हो गया था। यह हुआ था उनके साहित्य-प्रेम के कारण। उस समय मेरे सोमलता उपन्यास के तीन भाग तथा शैक्सपियर के चार नाटकों पर लिखे हुए चार उपन्यास "प्रसू सरस्वती प्रिय:" के नाम से प्रकाशित हुए थे। यह "प्रसू सरस्वती प्रिय:" कौन व्यक्ति है इसका छतरपुर नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने पता लगा लिया था और मेरा उनका पत्र-व्यवहार हुआ था। हरपालपुर में हमारे ठहरने तथा हरपालपुर से खजुराहो जाने-आने

की सारी व्यवस्था छतरपुर नरेश की ओर से हुई थी। छतरपुर नरेश ने इस प्रबन्ध के लिए अपने उस समय के प्राइवेट सैक्रेटरी फजलहक सा० को भेजा था। मोटे-ताजे आदमी, सफेद दाढ़ी वाले, बड़े ही मिलनसार। कैसा शाही आतिथ्य सत्कार था महाराजा साहब का। कई मोटरें थीं। भोजन आदि से निवृत्त हो कोई १० बजे ही हम हरपालपुर से खजुराहो रवाना हो गये, क्योंकि हमें लगभग ६५ मील जाना था।

खजुराहो में एक तालाब के किनारे राजा प्रतापसिंह की समाधि है और एक छोटा-सा महल। यहीं हमारे ठहरने की व्यवस्था थी। यद्यपि भोजन करके हम यहाँ आये थे परन्तु बिना कुछ खिलाये यहाँ भी हमारा पिंड न छोड़ा गया। कुछ खा-पीकर तीसरे पहर हम इन मन्दिरों को देखने चले। इन मन्दिरों की संख्या है तीस। ये बने थे ९५० और १०५० ईस्वी के बीच। सारे मन्दिर पत्थर के बने हुए हैं और भारत की प्राचीन शिल्प-कला के अनुसार इनके पत्थर चूने आदि से जोड़े नहीं गये हैं पर दो शिलाखण्डों के बीच में लोहे की कुछ कीलें और इस प्रकार का "बैलेन्स" बैठाकर एक शिलाखण्ड दूसरे पर रखा गया है कि सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी कोई बाल बराबर भी इधर-उधर नहीं सरका। इन मन्दिरों की खुदाई का काम और इनकी मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। मूर्तियों में कुछ मूर्तियाँ अश्लील हैं। इसी प्रकार की कुछ मूर्तियाँ मैंने जगदीशपुरी में जगदीश के मन्दिर में भी देखी थीं। अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं से इसका कारण पूछने पर भी अब तक कोई भी मुझे इसका संतोषजनक उत्तर न दे सका। मन्दिरों के स्तम्भ दर्शनीय हैं। खजुराहो के इन तीस मन्दिरों में तीन प्रधान हैं—एक श्री केदरिया महादेव का, दूसरा श्री चतुर्भुज का और तीसरा श्री पार्श्वनाथ का। पार्श्वनाथ का मन्दिर और कुछ जैन मन्दिर अलग बने हैं। इन तीनों में भी श्री केदरिया महादेव का मन्दिर प्रधान है।

खजुराहो के ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं। मेरे मन में एकाएक उठा सुन्दर वही हैं जो सुन्दर काम करते हैं। आजकल सारे मन्दिर वीरान पड़े हैं। किसी में भी पूजा-पाठ नहीं।

खजुराहो से हम लोग रात को ही हरपालपुर लौट आये। एक लंबा-चौड़ा धन्यवाद का पत्र भेजा मैंने अपने उन साहित्यिक मित्र महाराजा साहब को

और हरपालपुर से झाँसी आकर हम लोग ग्वालियर के लिए रवाना हो गये।

ग्वालियर में हमारे ठहरने की व्यवस्था की थी वहाँ के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ नथमलजी बागमलजी गोलछा ने। बागमलजी मेरे पिताजी के निकट के मित्रों में थे। ग्वालियर नगर में घूमने के सिवा हमने यहाँ का प्राचीन किला देखा। विशाल किला, उसके खुदाव के काम वाले छ: महाद्वार और किले के भीतर मान-मन्दिर। यह मन्दिर राजा मानसिंह ने सन् १४८५ से १५१६ के बीच बनवाया था। इसी के निकट मानसिंहजी ने ही अपनी रानी के लिए गुजरी महल नामक एक दूसरा महल बनवाया था। इन दो महलों के सिवा इस किले में दो भव्य मन्दिर भी हैं—एक का नाम है सास-बहू का मन्दिर और दूसरे का तेली का मन्दिर। तेली का मन्दिर सबसे ऊँचा है। इन महलों और मन्दिरों की खुदाई का काम सबसे दर्शनीय है। किले की दीवाल में कुछ जैन तीर्थङ्करों की विशाल मूर्त्तियाँ हैं। इनमें से एक की उँचाई तो ५७ फुट है। इस किले के मान-मन्दिर की प्रशंसा प्रसिद्ध कलाविज्ञ श्री फर्ग्यूसन ने जिन शब्दों में की है उन शब्दों में शायद अन्य किसी स्थान की नहीं।

ग्वालियर का यह किला और शहर हमने दो घण्टे में घूम डाला, पर ग्वालियर हमें दो दिन रहना पड़ा। इसके पहले किसी तरह भी सेठ नथमलजी ने हमें जाने न दिया। उनके बुजुर्गाना प्रेम की जितनी भी सराहना की जाय थोड़ी है।

ग्वालियर से हम आगरा पहुँचे। आगरा में हम यमुना के किनारे एक धर्मशाला में ठहरे। आज दशमी का चाँद था और हमने सुना था कि चाँदनी में ताजमहल बहुत सुन्दर दिखायी देता है। जबलपुर में भेड़ाघाट की शोभा चाँदनी में मैं अनेक बार देख चुका था, अतः उस शोभा से ताज की शोभा का मिलान करने का विचार कर मैंने रात को ताजमहल जाने का निर्णय किया। जब रात को हम ताजमहल पहुँचे उस शुभ्र ज्योत्स्ना में वह श्वेत ताजमहल अत्यन्त सुन्दर दिखायी दिया, परन्तु चाँदनी में भेड़ाघाट की और चाँदनी में ही ताज की शोभा का कोई मिलान नहीं किया जा सकता। नर्मदा के दोनों ओर की रेवा के द्वारा ही लाखों और करोड़ों वर्षों में काटी हुई नर्मदा की धारा के दोनों ओर की ऊँची-ऊँची वे शुभ्र चट्टानें और उनके बीच बहती हुई रेवा की गहरी निर्मल धारा

से प्रकृति की महानता सम्बन्धी भावनाएँ मन में उठती हैं, जो दिव्य हैं, अनन्त हैं। ताजमहल से मानव-हृदय सम्बन्धी भावनाएँ मन में उठती हैं जो कोमल हैं, करुण हैं। सिंहासनासीन होने के केवल तीन वर्ष के पश्चात् शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा बेगम मुमताज महल को खो दिया और उसके शव पर इस मकबरे का निर्माण कराया था। उस चिर-वियोग के कारण कैसी भावनाएँ भरी होंगी उस समय शाहजहाँ के मन में। आज भी ताज का एक-एक शिलाखण्ड उन भावनाओं को व्यक्त करता-सा जान पड़ता है। करुण रस का कैसा वायुमण्डल है इस स्थल पर। बादशाह शाहजहाँ को अपनी प्रियतमा की मृत्यु पर कितना शोक हुआ उस दुःख का यह ताजमहल प्रतीक है, पर साथ ही वहाँ खड़े हुए एक दीन व्यक्ति को देखकर विचार आया कि धनी मनुष्य अपनी हृदय-वेदना ताजमहल बनवा कर प्रकट करता है और गरीब आदमी अपनी असह्य वेदना को अपने ही हृदयों में दफना कर रह जाते हैं। रात को बाहरी दृश्य देखकर हम लौट आये, क्योंकि वहाँ का वातावरण मुझे बड़ा दुःखद जान पड़ा। चाँदनी के कारण इस वायु-मण्डल में दुख की कुछ वृद्धि-सी हो गयी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर हम लोग फिर ताज-महल देखने गये। सचमुच स्थापत्य-कला के सौन्दर्य का ताजमहल एक अद्भुत नमूना है। मानव की इस क्षेत्र की कला का इससे बड़ा प्रतीक दुनियाँ में कहीं नहीं है। इसीलिए संसार की सात अद्भुत वस्तुओं में से एक इसे माना जाता है।

तदनन्तर हम धर्मशाला आये। मध्याह्न में भोजन तथा आराम करने के उपरान्त किला देखने की इच्छा से साढ़े तीन बजे ही हम किला पहुँचे। किले के द्वार पर ही एक मुसलमान ग्रेजुएट गाइड महोदय आये और किले का इतिहास सुनाने लगे। वे अपनी योग्यता तथा पूर्ण जानकारी बताने के ध्यान में एक ही साँस में किले का इतिहास, उसके मुख्य-मुख्य स्थल, उन स्थलों का नाप-तोल सभी कह गये। जिस प्रकार मुझे विष्णुसहस्रनाम, नारायण कवच आदि स्तोत्र कंठस्थ थे उसी प्रकार इन ग्रेजुएट गाइड महोदय को यह सारा वर्णन। मैंने खाई की गहराई देखकर दीवाल की ऊँचाई देखी और उसका विशाल द्वार मन पर किस प्रकार शाही प्रभाव डालनेवाला है ऐसा सोच ही रहा था कि गाइड ने कहा कि इस द्वार को अमरसिंह द्वार कहते हैं और यह

पत्थर का घोड़ा उन्हीं का है। इन शब्दों ने हृदय तथा मस्तिष्क को उत्तेजित कर दिया—फूट के कारण वशीभूत स्वाभिमानी राजपूत परतंत्र होकर भी अपनी शान रखना जानते थे। जोधपुर नरेश अमरसिंह ने खुशामदी सभासदों को सुन्दर सबक सिखाया था। मैं ऐसे विचारों में मग्न था कि गाइड ने कहा भीतर चलें फाटक खुल गया। मेरी विचारधारा टूटी और मुगलकालीन भव्य भवनों को देखने हम भीतर घुसे। लकड़ी का पुल पार कर बाहरी चहारदीवारी के भीतर एक सुन्दर विशाल द्वार आया जिस पर चमकीले बेल-बूटोंदार पत्थर जड़े थे। यह वह द्वार था जिसे शाहजहाँ ने जोधपुर नरेश अमरसिंह की स्मृति में बनवाया था। आगे चल कर उच्च समभूमि थी जहाँ जहाँगीर भवन के आगे पूर्व की ओर लाल पत्थर के सुन्दर चबूतरे पर जहाँगीर का प्याला जो एक विशाल हौज है एक ही पत्थर में काटकर बनाया हुआ है, रक्खा है। यह एक अद्भुत वस्तु है। आग्नेय में अकबर के महल के खण्डहर हैं—बंगाली महल। इसके एक बुर्ज के मध्य के ऊँचे खम्भे पर तोप रखी थी। अकबर महल के उत्तर में जहाँगीरी महल है जो भारतीय वास्तुकला का उच्चतम प्रमाण है। यह महल बादशाह अकबर ने जहाँगीर की जोधाबाई के साथ शादी के समय बनवाया था। यह विशाल भवन अद्भुत ढंग का है। इस भवन में एक कमरा है जिसकी छत बड़ी अद्भुत ढंग से बनी हुई है। पास के कमरे में जोधाबाई का मन्दिर है। मुगल सम्राटों को हिन्दू धर्म से घृणा नहीं थी, यह मन्दिर इसका प्रमाण है। इसके बाद हमने इस किले के दीवाने आम, दीवाने खास और मोती मस्जिद को देखा।

तीसरे दिन प्रातःकाल हम एक लारी मोटर किराये पर लेकर फतहपुर-सीकरी पहुँचे जो आगरे से २६ मील है। फतहपुर-सीकरी अकबर की १७ वर्ष तक राजधानी रह चुका था। यहीं अकबर के जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ष व्यतीत हुए थे। यहीं अकबर ने अपने चारों ओर अपने समय के योग्य और विद्वान् कई व्यक्तियों को एकत्रित किया था, जिनमें मुसलमानों की अपेक्षा शायद हिन्दू अधिक थे और इसी कारण अकबर का राज्य मुस्लिम राज्य न माना जाकर भारतीय राज्य माना जाता था। इन योग्य, विद्वान् और कर्मठ कर्मचारियों के कारण ही अकबर अपने समय के धार्मिक, राजनैतिक और

सामाजिक सुधार कर सके। इनमें श्री टोडरमल आदि अनेक ऐसे भी व्यक्ति थे जो अकबर के पिता हुमायूँ के विरुद्ध शेरशाह के साथ काम कर चुके थे, परन्तु इसकी कोई परवाह न कर अकबर ने ऐसे लोगों को भी अपना अधिक से अधिक विश्वासपात्र बनाया था। फतहपुर-सीकरी का निर्माण राजस्थान की हिन्दू स्थापत्य कला के अनुसार हुआ है। सारी इमारतें लाल पत्थर की हैं; मानों वे मुगल राज्य की उषाकाल की प्रतीक हों। यहाँ की सबसे ऊँची इमारत जामि मस्जिद प्रसिद्ध फकीर शेख सलीम चिस्ती की यादगार में अकबर ने बनायी थी। यह मस्जिद सन् १५७१ में बनकर पूरी हुई थी। बुलन्द दरवाजा नामक इस मस्जिद का फाटक इसके कुछ दिन बाद बना था जो अकबर की दक्षिण विजय की यादगार माना जाता है। फरगूसन साहब ने कहा है कि यह बुलन्द दरवाजा केवल भारत की मस्जिदों के दरवाजों में नहीं पर सारे संसार के दरवाजों में एक विशेष स्थान रखता है। इस दरवाजे पर एक अद्भुत लेख है—"यह दुनिया एक पुल के सदृश है। इस पुल पर से निकल जा, लेकिन इस पर मकान बनाने का विचार न कर। जो यहाँ घड़ी भर भी रुकने की इच्छा करेगा, वह सदैव के लिए यहीं ठहरने का इच्छुक हो जायगा। इस दुनिया का जीवन तो क्षणमात्र है उसे भगवद्-स्मरण तथा भगवद्भक्ति में बिता। भगवान की उपासना के सिवा और सब कुछ निरर्थक है, असार है।"

विजय की यादगार पर यह कैसा लेख? मैं कुछ देर तो आश्चर्य में डूब गया। युद्ध, संघर्ष और इनमें सफलता। अपनी आधिभौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए खून की नदियाँ बहाने के बाद, उसमें सफलता प्राप्त करने के पश्चात् उस सफलता के स्मारक पर यह आध्यात्मिक लेख। आसक्ति के प्रतीक पर अनासक्ति की यह प्रेरणा! इस पर विचार करते-करते मुझे एकाएक दीनेइलाही के प्रवर्तक अकबर का स्मरण आया, तो वह एक ओर आधिभौतिकता का बादशाह था और दूसरी ओर आध्यात्मिकता का अनुचर।

पहले हमने सीकरी की मस्जिद और शेख सलीम की कब्र के दर्शन किये। मस्जिद लाल पत्थर की है और कब्र श्वेत संगमरमर की। इसके बाद हमने देखा दीवाने खास। एक ही स्तम्भ पर इस दीवाने खास की सारी छत खड़ी है। अद्भुत स्थापत्य-कला है इस भवन की। यह स्तम्भ अन्य स्तम्भों के सदृश

नीचे से ऊपर तक एक से व्यास अथवा नीचे कुछ मोटा और ऊपर कुछ पतला नहीं है। यह नीचे पतला और ऊपर मोटा है। दीनेइलाही का आरम्भ इसी भवन में हुआ था। और यह स्तम्भ मानों उसका प्रतीक है। एक धर्म के पतले पाये पर खड़े होकर अन्य धर्मों को सम्मिलित करते और ऊपर चढ़ते हुए अकबर का हृदय उसी प्रकार विशाल हो गया था जिस प्रकार यह स्तम्भ। दीवाने खास से हम गये दफ्तरखाना देखने। इस दफ्तरखाने में ही बैठकर अबुलफजल ने "आइने अकबरी" का बहुत सा हिस्सा लिखा था। इसके बाद हमने देखा पंच महल और "पचीसी"। मेरा मत है कि कला के सौन्दर्य की दृष्टि से यह महल फतहपुर-सीकरी की सबसे सुन्दर इमारत है। पचीसी में अकबर जीवित महिलाओं की गोटियों से चौसर खेला करते थे। जीवित महिलाओं की गोटियाँ! कल्पना ही अद्भुत है। अपने राज्य के विस्तार के लिए जीवित प्राणियों को चौसर की गोटें समझ उनसे खेल खेलने की स्फूर्ति क्या इसी चौसर के खेल से अकबर को मिला करती थी? इसके बाद हमने देखी अकबर की "ख्वाबगाह"। बिना गम्भीर विचार के कोई महान् कृति सम्भव नहीं और अधिकांश गम्भीर चिन्तन के आरम्भ में सबकी स्थिति प्रायः स्वप्निल रहती ही है। अकबर ने एकान्त में रह विचार करने की इच्छा से ही इस "ख्वाबगाह" का निर्माण कराया होगा। और यहाँ खड़े-खड़े मैं अपनी कल्पना द्वारा देखने लगा विचारक के रूप में अकबर के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को।

अन्त में हमने देखे फैजी अबुल फजल और बीरबल के मकान। आगरे का किला देखकर तो अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ तीनों याद आये थे, परन्तु फतहपुर-सीकरी में केवल अकबर। अकबर अपने समय के शासकों में शायद संसार के सबसे बड़े और ऐसे शासक थे जिन्होंने राजनीति के सिवा जीवन के हर क्षेत्र पर ध्यान दिया था। समाज की सर्वतोमुखी प्रगति अकबर के काल में हुई थी। उनमें धर्मान्धता का लवलेश न था। यदि उनके आदर्शों को उनकी सन्तान उसी प्रकार मानकर उनका अनुसरण करती तो शायद हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल हो जाती और फिर से विदेशी इस भूमि को पद-दलित न कर पाते। एक इतिहास-प्रेमी होने के कारण अकबर और उनके समय की न जाने कितनी बातें मुझे याद आयीं। फतहपुर-सीकरी के निर्माण के पचास वर्ष

के भीतर ही पानी की कमी के कारण यह नगर शनैः शनैः उजड़ गया, ठीक उसी प्रकार जिस तरह अकबर के बाद उनके सारे सिद्धान्त भी धीरे-धीरे मटियामेट कर दिये गये।

उसी दिन संध्या को हम सिकन्दरा अकबर का मकबरा देखने पहुँचे। नीचे लाल और ऊपर सफेद पत्थर का यह सुन्दर मकबरा है। अकबर के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है अतः इस मकबरे को अकबर का स्मरण कर मैंने अनेक प्रणाम किये।

आगरा से हम दिल्ली आये। यहाँ हमारे जौहरी श्री सुन्दरलालजी ने हमारे ठहरने की सारी व्यवस्था चाँदनी चौक के एक मकान में की थी। कौन उस समय जानता था कि आगे चलकर मुझे अपने जीवन का इतना बड़ा भाग दिल्ली में बिताना होगा।

दिल्ली सन् '११ में फिर से भारत की राजधानी घोषित हो चुकी थी। उस अवसर पर दिल्ली दरबार में मैं दिल्ली आया भी था, पर उस समय मेरी दिल्ली यात्रा का उद्देश्य दिल्ली के प्राचीन ऐतिहासिक स्थान देखना नहीं था।

दिल्ली की नयी राजधानी बन रही थी। उस समय के लोग इस राजधानी को नयी दिल्ली न कहकर "रायसीना" या "रसीना" कहते थे। अब तो "रायसीना" नयी दिल्ली की केवल एक छोटी-सी सड़क का नाम रह गया है। पुराने ऐतिहासिक स्थानों को जाने के पहले हमने एक चक्कर रायसीना का लगाया। सब चीजें निर्मित हो रही थीं और उस समय दिल्ली के राजधानी घोषित होने पर भी यह कल्पना नहीं होती थी कि दिल्ली इतना बड़ा नगर हो जाने वाला है जितना अब हो गया है। नयी दिल्ली में उस समय कोई चीज पूरी नहीं हुई थी जिसका यहाँ वर्णन किया जा सके। हाँ, इस नयी दिल्ली के चारों ओर अनेक पुरानी दिल्लियों के खण्डहर देखने योग्य अवश्य थे। इन खण्डहरों को दूर से ही देखने पर इतिहास के कितने पुराने पृष्ठों का स्मरण हो आया। यहीं तो कहीं महाभारत काल का हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ था। नयी दिल्ली के निकट ही एक पुराने किले के नाम से टूटा-फूटा किला है। कुछ लोग उसे पाण्डवों का किला कहते हैं, परन्तु यथा॰ में वह पाण्डवों का किला नहीं है। महाभारत के काल की तो अब तक कोई चीज मिली ही नहीं है। यह किला

है हुमायूं और शेरशाह का। इस किले की लाल पत्थर की कुछ टूटी दीवालें रह गयी हैं। निकट ही शेरशाह की मस्जिद है।

यथार्थ में सबसे पुरानी दिल्ली के ये भग्नावशेष हैं ही नहीं, चाहे जन-साधारण इस किले को पाण्डवों का किला और इन्द्रप्रस्थ कहें।

सबसे पुरानी दिल्ली के जो खण्डहर आदि अब हैं वे कुतुब मीनार के चारों ओर हैं। पहले यहाँ तुआरों का राज्य रहा फिर चौहानों का और फिर पठानों का। तुआरों में प्रसिद्ध राजा हुए अनंगपाल प्रथम और द्वितीय। और चौहानों में पृथ्वीराज अथवा राय पिथौरा। पृथ्वीराज यथार्थ में भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् थे। पुराने किले से हम यहाँ पहुँचे। लाल पत्थर की कुतुब मीनार बहुत दूर से दिखायी पड़ने लगी। नजदीक पहुँचने पर उसका खुदाव का सुन्दर काम दृष्टिगोचर होता है। मीनार की एक मंजिल ही चढ़ने पर उसके चारों ओर के स्थान दिखने लगते हैं। लाल कोट की भग्न भित्तियाँ, और राय पिथौरा के किले के कुछ खण्डहर, सीरी नगर की कुछ दीवालें आदि। हमारे साथ आज कोई गाइड नहीं था, परन्तु दिल्ली के एक भूतपूर्व कमिश्नर एच० सी० फानशावे (H. C. Fanshawe) की "देहली पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट" नामक सन् १९०२ में प्रकाशित एक अंग्रेजी पुस्तक थी, जिसने जीवित गाइड से भी अधिक काम दिया। पुस्तक अच्छी थी, पर इसमें एक ही दोष था। सन् १८५७ के हमारे स्वातन्त्र्य संग्राम को बलवा आदि लिख उसका बड़ा विशद वर्णन अंग्रेजों के पक्ष में किया गया था। किसी "गाइड" पुस्तक में यह वर्णन सर्वथा असंगत जान पड़ता था। दूर से चीजों को देखने के बाद हमने मीनार से उतर उन्हें निकट से देखा। मीनार के सिवा वहाँ कुतुब मस्जिद, कुतुबुद्दीन ऐबक की कब्र, अला-उद्दीन की कब्र, अलाई दरवाज और अशोक के स्तंभ के सदृश एक लोहे का स्तंभ आदि दर्शनीय माने जाते हैं। इनका निर्माण सन् ११९१ से सन् १३१५ तक हुआ और ये चीजें जिस सामान से बनायी गयीं वह अनंगपाल और पृथ्वी-राज के मन्दिरों, महलों आदि को तोड़-फोड़कर निकाला गया। इसीलिए कला की दृष्टि से यहाँ हमें यथार्थ में उस काल की हिन्दू कला के दर्शन होते हैं। पर इस कला के साथ ही हमें याद आता है वह प्राचीन इतिहास भी जब विदेशी मुसलमानों ने हमारे देश पर विजय कर धर्मान्धता के वशीभूत हो

हिन्दुओं के प्राचीन मन्दिरों को तोड़-फोड़कर इन मीनारों और मस्जिदों का निर्माण कराया था। मैं साँची, खजुराहो, ग्वालियर, आगरा और फतहपुर-सीकरी अभी-अभी देखकर दिल्ली आया था। दिल्ली में भी आज ही हुमायूँ और शेरशाह का किला देखा था, परन्तु इन सब ऐतिहासिक और कलात्मक चीजों को देखकर मेरे मन में ऐसी भावनाओं का उदय नहीं हुआ था जैसी कुतुब मीनार और उसके चारों ओर की वस्तुएँ देखकर हुआ। मैं अयोध्या, मथुरा और काशी हो आया था। भगवान राम और कृष्ण की जन्मभूमि पर तथा विश्वनाथ के मन्दिर पर बनी हुई मस्जिदों को देखकर जैसी भावनाएँ मेरे मन में उठी थीं वैसी ही आज उठीं। मैं कोई धर्मान्ध व्यक्ति नहीं हूँ, न उस समय सम्प्रदायवादी था और न उसके बाद ही जीवन में कभी किसी सम्प्रदायवादी संस्था में रहा, परन्तु मेरा यह अटल विश्वास हो गया है कि यदि हमें इस देश में सम्प्रदायवाद का मूलोच्छेदन करना है तो इस प्रकार की चीजों को नष्ट करना अनिवार्य है। मैं बहुत देर कुतुब मीनार और उसके चारों ओर के स्थल पर न रह सका। मैं वहाँ की कला के सौन्दर्य से भी प्रभावित न हो सका। न जाने क्या-क्या सोचते-सोचते मैं लौट पड़ा। उसके बाद इतना अधिक दिल्ली में रहते हुए भी मैं कुतुब मीनार बहुत कम गया हूँ और जब-जब मैं वहाँ गया हूँ बुरी भावनाओं से भरा हुआ ही लौटा हूँ।

कुतुब से लौटते हुए नयी दिल्ली के ही निकट हमने तीन बड़े-बड़े मकबरे देखे—निजामुद्दीन औलिया का, बादशाह हुमायूँ का और खानखाना का। तीनों मकबरे उस काल की स्थापत्य-कला के अच्छे नमूने हैं। निजामुद्दीन औलिया के मकबरे पर मानता करनेवाले स्त्री-पुरुषों की एक बड़ी भीड़ इकट्ठी थी। हुमायूँ का मकबरा क्या एक प्रकार से सारे मुगल खानदान का यह कब्रिस्तान है। कितनी कब्रें हैं इस मकबरे में। यहाँ मेरा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया इस मकबरे के बाग में तोतों के झुण्डों ने। इतने इकट्ठे तोते मैंने इसके पहले कहीं न देखे थे। संध्या हो रही थी और ये तोते अपने बसेरों के वृक्षों पर आ आ कर इधर-उधर चक्कर लगा रहे थे। हर वृक्ष पर फुदकते हुए हरे तोते उन वृक्षों के ही चैतन्य प्रतीक-से जान पड़ते थे। रहीम खानखाना का मकबरा देख मेरे मन में न जाने कितनी साहित्यिक भावनाएँ उठीं। खानखाना बड़े भारी

योद्धा थे, राजनीति में भी दक्ष और प्रथम कोटि के कवि। तो वीरता का काठिन्य और कविता की कोमलता साथ-साथ एक ही व्यक्ति में रह सकती है। हमारे यहाँ तो ऐसा ही व्यक्ति आदर्श व्यक्ति माना जाता है। भगवान राम के लिए कहा ही है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनिकुसुमादपि।

रहीम खानखाना ने देश की सच्ची राष्ट्र-भाषा क्या है यह समझ लिया था। साथ ही कैसा रस बरसता है उनके काव्य में। उनके अनेक दोहे तब से लेकर अब तक भी इस देश की जनता को कण्ठस्थ हैं। कौन सम्राट् और राजा ऐसे साहित्यिकों की तुलना कर सकता है। यह मकबरा बड़ा बे-मरम्मत-सा था। उसी समय से मेरे मन में यह बात थी कि ऐसे साहित्यिक की इस याद-गार का किसी तरह जीर्णोद्धार कराना, परन्तु मेरी वह इच्छा पूर्ण हुई करीब ३९ वर्ष बाद। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् सन् १९५४ में संसदीय हिन्दी परिषद् की ओर से हमने इस मकबरे पर एक आयोजन भारत के राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी के सभापतित्व में किया। भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू भी इस आयोजन में पधारे थे। आयोजन बड़ा सफल हुआ। खानखाना के जीवन-चरित्र पर भाषण हुए, उनकी कविता का पाठ और गायन हुआ। इस आयोजन के बाद हम राष्ट्रपतिजी और प्रधान मन्त्री जी को मकबरे पर ले गये। प्रधान मन्त्री जी ने वचन दिया है कि वे इस मकबरे की मरम्मत करवा-येंगे, इसके चारों ओर एक बाग लगवायेंगे, उस स्थल का नाम "रहीम नगर" रखेंगे और वहाँ जिस राष्ट्रभाषा की खानखाना ने इतनी बड़ी सेवा की उसका एक पुस्तकालय भी स्थापित करायेंगे।

दूसरे दिन सर्वप्रथम हमने फीरोजशाह का कोटला और वहाँ का अशोक स्तम्भ देखा।

इसके बाद जामा मस्जिद। यह मस्जिद विशालता और सौन्दर्य दोनों में ही भारत की शायद सबसे बड़ी और सबसे सुन्दर मस्जिद है।

मस्जिद के पश्चात् हमने देखा लाल किला। इस किले को बादशाह शाहजहाँ ने बनवाया था।

किले की लाल पत्थर की दीवालें, उसके फाटक, दीवाने आम, दीवाने

खास, बादशाह और बेगम के निवास के कुछ स्थल, नक्कारखाना या नौबत खाना, मोती मस्जिद आदि दर्शनीय हैं। पर यह किला और इसकी सारी इमारतें प्रायः आगरे के किले और उसकी इमारतों के सदृश ही हैं।

तीसरे दिन हम चहारदीवारी से घिरी हुई अनेक फाटकोंवाली पुरानी दिल्ली के चाँदनी चौक, दरीबा, काश्मीरी गेट आदि बाजारों में घूमे। काश्मीरी गेट के बाजार इस समय नये बाजार माने जाते थे और यहाँ खूब चहल-पहल थी, क्योंकि नयी दिल्ली में राजधानी आने के पहले अस्थायी तौर पर राजधानी इसी ओर रखी गयी थी। दिल्ली दरबार के समय जब मैं यहाँ आया था उस समय भी इन स्थलों को घूम चुका था।

यह पुरानी दिल्ली बादशाह शाहजहाँ ने बसायी थी। इसलिए इसका नाम शाहजहाँबाद भी है। शाहजहाँ ने इसे बसाया था आगरे में ताज निर्माण कराने के पश्चात्। तो अपनी प्रियतमा पर अविरल अश्रुधारा से सिंचन करने के पश्चात् भी शाहजहाँ को आँसुओं से पिण्ड छुड़ा किसी मुस्कराती हुई जीवित वस्तु की आवश्यकता महसूस हुई थी। मृत मृत रहता है, जीवित जीवित। मृत होते तक जीवित मृतक नहीं हो सकता और जीवित को सदा जीवनदायिनी वस्तुओं तथा कृतियों की आवश्यकता रहती ही है। जिस समय यह दिल्ली बसी उस समय यह उस समय तक बसी हुई सब दिल्लियों से नयी थी। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, तुआरों तथा चौहानों की दिल्ली, पठानों की कई दिल्लियाँ और उनके बाद शाहजहाँ की दिल्ली बसी थी। अब बस रही थी अंग्रेजी राज्य की नयी दिल्ली, जो आगे चलकर स्वराज्य प्राप्त होने के पश्चात् भी स्वतन्त्र भारत की राजधानी हुई। भारत क्या संसार के किसी स्थान का भी इस प्रकार बार-बार उत्थान तथा पतन शायद ही हुआ हो। दिल्ली को देखकर महाकवि कालिदास का निम्नलिखित श्लोक जितना याद आता है उतना कभी नहीं--

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततोवा-
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

और कालिदास के इसी श्लोक के साथ इन भिन्न-भिन्न दिल्लियों को देख कर दिल्ली के दर्शन पर याद आता है एक शेर—

"जो चमन खिजा से उड़ गया,
मैं उसी की फस्ले बहार हूं।

यह अनन्तयौवना दिल्ली ! यह विषकन्या दिल्ली ! यह पंचकन्या दिल्ली !

हमने दिल्ली में एक दिन और ठहरने का इसलिए निर्णय किया था कि पराठा गली के पराठों की और दिल्ली की चाट की बहुत प्रशंसा सुनी थी। चौथे दिन सभी ने खूब पेट भरकर पराठा गली के पराठे और दिल्ली की चाट खायी। पाँचवें दिन हमें रवाना होना था पर पहले दिन की बदपरहेजी का नतीजा बदहजमी में निकला। अच्छे होने में दो दिन और लग गये और हम दिल्ली छः दिन के बाद छोड़ सके। पाँचवें दिन संध्या को हम रोशनारा बाग देखने गये। इस व्यतिक्रम के कारण हमारे फर्स्ट क्लास के रिजर्वेशन में भी कुछ दिक्कत हुई पर अधिक इसलिए नहीं कि अब हम जा रहे थे छोटी लाइन द्वारा चित्तौड़।

चित्तौड़ गढ़ स्टेशन के समीप हम एक छोटी-सी धर्मशाला में ठहरे और भोजन इत्यादि से निवृत्त हो कोई एक बजे दिन को ही ताँगों पर गढ़ की ओर रवाना हुए। उस समय वहाँ मोटरें इत्यादि नहीं मिलती थीं।

चित्तौड़ गढ़ को जाते-जाते मेरा हृदय भावनाओं के उद्वेग से उल्लसित हो उठा। टाड का राजस्थान इतिहास मैंने हाल ही में पढ़ा था और पढ़े थे हिन्दी में दो उपन्यास—एक का नाम था "राजपूत जीवन-संध्या" जिसमें हल्दीघाटी के रोमांचकारी रण का वर्णन था और दूसरा "वीर जयमल"। यहीं महाराणा साँगा और महाराणा प्रताप, वीर जयमल और उन्हीं के सदृश अगणित सरदारों तथा सैनिकों ने केवल जीतते हुए नहीं पर हारते हुए संग्रामों को भी ऐसी बहादुरी से लड़ा था जैसे संग्राम संसार के किसी देश में कभी भी लड़े क्या सुने तक नहीं गये। केसरिया बाना पहन-पहनकर यहीं वीरों ने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए प्राणों को तुच्छ मान हँसते-हँसते अपना बलिदान कर वीर के साथ ही हुतात्मा पद को प्राप्त किया था। यहीं वीरांगनाओं ने अपने पवित्र सतीत्व की रक्षा के लिए जीते के जीते अपने कोमल शरीरों से भयंकर अग्नि की ज्वालाओं का आलिंगन कर वे इतिहास प्रसिद्ध जौहर किये थे जैसी घटनाएँ दुनिया के इतिहास में कहीं नहीं मिलतीं। ऐसी सती साध्वी वीर माताओं, वीर

भगनियों, वीर पत्नियों, वीर पुत्रियों की संख्या दो, चार, दस, सौ, दोसौ, चारसौ न होकर हजारों थी हजारों ! यहीं भामाशाह के सदृश सर्वस्व त्यागी वैश्य भी हुए थे। तो मेवाड़ के महावीर साथ ही महान् हुतात्मा सूर्यवंशी शिशोदिया क्षत्रिय नर-नारियों ने जहाँ संसार के इतिहास की अभूतपूर्व तथा अद्वितीय शौर्य और जौहर की अमर गाथाएँ गढ़ी थीं वहीं आज हम जा रहे थे।

चित्तौड़ गढ़ एक पहाड़ी पर है। जैसे-जैसे तांगा इस पहाड़ी पर चढ़ता जाता था, मेरी आतुरता वहाँ की वस्तुओं को देखने के लिए बढ़ती जाती थी। आखिर हम चित्तौड़ गढ़ में पहुँचे। गढ़ की दीवालें और उनके बुर्ज खंडित हो गये हैं; करीब-करीब सारी इमारतें जमींदोज। उन खण्डहरों के बीच खड़े हैं, दो स्तंभ—"कीर्ति स्तंभ" और "विजय स्तंभ"। कीर्ति स्तंभ पुराना और जर्जर है, परन्तु विजय स्तंभ उसके बाद का साथ ही वीरता के इतिहास का सच्चा प्रतीक है। इस सात खंडों वाले विजय स्तंभ को देखकर मुझे उतना ही हर्ष हुआ जितना कुतुब मीनार को देखकर दुख हुआ था। कला और सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह विजय स्तंभ अपूर्व है; फिर कैसी महान् वीरता का इतिहास इस विजय स्तंभ के साथ है। इसके बाद हमने उस स्थान को देखा जहाँ जौहर हुए थे। यद्यपि इस गढ़ में देखने योग्य बहुत कम रह गया है तथापि मुझे तो इसका एक-एक पत्थर इसकी धूलि का एक-एक कण भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न ध्वनियों में भिन्न-भिन्न रागों द्वारा वीर-गाथाएँ गाते जान पड़े। इन पत्थरों पर मुझे उस काल की पढ़ी और सुनी हुई एक-एक घटना नृत्य करती-सी जान पड़ी। यद्यपि वहाँ की देखने लायक चीजों को हम लोग थोड़ी ही देर में देख चुके, परन्तु मैं तो संध्या के पूर्व उस स्थल को छोड़ ही न सका। इधर से उधर और उधर से इधर न जाने कितने बार आवारा-सा, भूला-सा घूमता-फिरता रहा। एक-एक जगह को न जाने कितनी बार देखा। मेरी ऐसी दशा अब तक की यात्रा में कभी न हुई थी और न इसके बाद ही हुई। मेरे साथियों को मेरी मुद्रा और दशा पर कुछ आश्चर्य भी हुआ, कुछ लोग कुछ हँसे भी, कुछ ने कुछ मजाक भी उड़ाया, परन्तु मैं तो अपने आपे में नहीं था। जब अँधेरा होने लगा तब साथियों ने जोर देकर वहाँ से चलने को कहा। चलने के पूर्व जौहर वाले स्थान की धूलि लेकर बार-बार मैंने अपने मस्तक पर लगायी और जिस

प्रकार बड़े-बड़े उत्सवों पर मैं मन्दिर में भगवान को शाष्टांग दण्डवत् प्रणाम करता था उसी प्रकार प्रणाम मैंने उस पवित्रतम विजय स्तंभ को किया। प्रणाम के उपरान्त मैंने हाथ जोड़ मन ही मन प्रार्थना की कि जिन वीरों की अपूर्व वीर कृतियों का वह विजय स्तंभ प्रतीक है, उनकी कृतियों में जो शौर्य, जो त्याग, जो कष्ट-सहिष्णुता थी मुझे भी उसका परमाणु बराबर अंश तो प्राप्त हो। जीवन में अनेक जोखिमों के अवसरों पर मुझे यह विजय स्तंभ याद आया है और इस स्मरण ने मुझे नव साहस और नवीन स्फूर्ति प्रदान की है।

चित्तौड़ गढ़ छोड़ने के पहले हमने वह स्थान भी देखा जहाँ वीर जयमल को गोली लगी थी और उन्होंने वीर गति प्राप्त की थी। इस स्थल के दर्शन से हृदय और अधिक गद्‌गद् हो गया।

रात्रि को रवाना होने के पहले हमारा भोजन स्टेशन के निकट बना था कुछ वृक्षों की झुरमुट में और यह था मेरा प्रिय भोजन दाल-बाटी-चूरमा, पर लाख प्रयत्न करने पर भी आज ये कौर मेरे गले न उतरते थे।

चित्तौड़ से हम उज्जैन आये; सप्त मोक्षदायिका पुरियों में एक पुरी अवन्तिका। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारतवर्ष के गौरवपूर्ण समयों की यह एक राजधानी थी। परन्तु महाकालेश्वर के एक नवीन मन्दिर के सिवा यहाँ हमें क्षिप्रा के अतिरिक्त विक्रमादित्य या भोज के काल की कोई वस्तु न मिली। हमारी इस यात्रा का उद्देश्य तीर्थाटन न होकर ऐतिहासिक वस्तुओं का निरीक्षण था। हम अपना असबाब स्टेशन पर ही छोड़ गये थे अतः क्षिप्रा के जल का आचमन और महाकालेश्वर के दर्शन कर हमने कुछ ही घण्टों में जलगाँव के लिए उज्जैन छोड़ दिया।

जलगाँव हम आये थे अजन्ता और एलोरा गुफाएँ देखने। हमारे यहाँ ठहरने की व्यवस्था यहाँ माहेश्वरी समाज के एक सुधारक कार्यकर्त्ता श्री रूपचंदजी लाठी ने की थी। उन्हीं ने हमारे अजन्ता और एलोरा जाने के लिए किराये की एक लारी मोटर का भी प्रबन्ध किया था।

जलगाँव से लारी पर हम सीधे अजन्ता गये। अजन्ता की ये गुफाएँ सुन्दर और हरे-भरे पार्वत्य प्रदेश में हैं। इन गुफाओं की संख्या २९ है। इनमें ४ "चैत्य" के ढंग की और शेष "विहार" ढंग की हैं। ये गुफाएँ एक साथ नहीं

बनायी गयीं। यद्यपि इनके बनने का निश्चित समय ज्ञात नहीं, परन्तु पुरातत्व-वेत्ताओं के मत से ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से सात सौ वर्ष बाद तक ये बनती रहीं, कोई कभी और कोई कभी। ये गुफाएँ इनकी अद्‌भुत चित्रकारी के कारण सारे संसार में प्रसिद्ध हो गयी हैं। यह चित्रकारी १३ गुफाओं में थी पर अब ६ में ही है। इन छः की संख्याएँ हैं—१, २, ६, १०, १६ और १७।

सन् १८१६ तक इन गुफाओं का कोई पता ही न था। पहले पहल मद्रास के कुछ फौजी अफसरों ने इन्हें देखा और फिर सन् १८३६ में सर जौन्स अलैकजैन्डर ने इनका एक संक्षिप्त वर्णन रायल एशियाटिक सुसाइटी को दिया। इसके बाद दिनोंदिन इनकी प्रसिद्धि बढ़ती गयी।

हम लोगों को इन गुफाओं को दिखाने श्री रूपचन्दजी लाठी स्वयं हमारे साथ गये थे और अपने साथ एक जानने बूझने वाले अन्य व्यक्ति को भी ले गये थे, जिनका नाम अब मैं भूल गया हूँ। इन महाशय को गाइड का नाम तो नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह काम इनका धन्धा नहीं था, परन्तु ये इन गुफाओं और इन गुफाओं के चित्रों से सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातों को किसी गाइड से कम नहीं जानते थे। इन्होंने ये गुफाएँ हमें बड़े कायदे से दिखायीं और इनके चित्रों के भी संक्षिप्त वर्णन सुनाये।

नम्बर १ की गुफा खुदाव की और चित्रों की दृष्टि से शायद सबसे अच्छी गुफा है। गुफा के सामने एक सुन्दर दालान है, जिसमें खुदाव का काम है। अन्दर जैसे बौद्ध विहार होते हैं वैसी बनावट है; पीछे की ओर मन्दिर, मन्दिर के सामने आलय और आस-पास छोटे-छोटे कक्ष। इन कक्षों में आराम करने के पर्यंक मय तकियों के पत्थर में ही खुदे हैं। भित्तियों पर जो चित्र हैं उनमें अनेक को अनोखे या अद्‌भुत कहा जा सकता है।

ये गुफाएँ एक अर्ध गोलाकार पहाड़ी के मध्य भाग की चट्टानों को काट कर बनायी गयी हैं। कैसी अद्‌भुत बात है कि एक ही शिलाखंड को काटकर उसके अन्दर कमरे और उनमें मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। कमरों की दीवारों पर पलस्तर चढ़ाकर तथा सफेदी करके उस पर सुन्दर चित्र बनाये गये हैं। पलस्तर इतना मजबूत और सुन्दर है कि कई शताब्दियों के पश्चात् आज भी हम उसे ज्यों का त्यों पाते हैं

अधिकांश चित्रों में भगवान बुद्ध के चरित्र की कथाओं का ही चित्रण है। गौतम के जन्म, उनके महाभिनिष्क्रमण तथा बोध प्राप्ति का विशेष प्रदर्शन है। इसके अतिरिक्त भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक फुटकर कथाएँ हैं—जैसे एक माता और पुत्र का भगवान बुद्ध को भिक्षा देना। इसके अतिरिक्त राजसभा और राजकीय जीवन से सम्बद्ध कुछ चित्र भी हैं, जिनमें राजकीय जुलूस और हाथी के जुलूसवाले चित्र अधिक प्रसिद्ध हैं। इन चित्रों से तत्कालीन वेशभूषा तथा रहन-सहन की जानकारी होती है। सत्रहवीं गुफा का चित्र जिसमें माता और पुत्र को बुद्ध भगवान को भिक्षा देते हुए चित्रित किया गया है। करुणा और सहानुभूति का यह बड़ा सजीव दृश्य है। माता और पुत्र ने दैन्य भाव से हाथ फैला रखा है। दोनों ही अधखुली आँखें और बिखरी लटें निर्धनताजनित दीनता की सूचक हैं। हाथों में बालक ने एक और माता ने अनेक कंकण पहन रखे हैं जो सम्भवत: उसके वैधव्य के सूचक हैं। बालक के शरीर का ऊपरी भाग नंगा है, माता ने बारीक जाकट पहन रखी है और उसके कानों में कोई गहना नहीं है। कुशल चित्रकार ने सादगी, दीनता और निर्धनता का एक साथ समावेश किया है।

बोधिसत्व पद्म-पाणि अर्थात् कमल पुष्प लिये हुए भगवान बुद्ध का चित्र, बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का चित्र है। सिर पर मुकुट धारण किये हुए सिद्धार्थ खड़े हैं। बायें हाथ में एक सूत का धागा बँधा है और दाहिने हाथ में कमल पुष्प है। शरीर पर मोटा यज्ञोपवीत और गले में मणिमाला है। पतली लम्बी भवों के नीचे अधखुले विशाल नेत्रों से अहिंसा, शान्ति तथा वैराग्य टपकता है। उनकी मुखाकृति गम्भीर और दैवी ज्योति से आलोकित है। कैसा मनोहर रूप, कैसे ढले हुए-से सारे अंग-प्रत्यंग और अवयव ! कैसी चित्रकारी ! घण्टों चित्र की ओर देखते रहिए, आँखें और मन तृप्त न होंगे। कहा जाता है इससे सुन्दर आकार आज तक दुनिया में चित्रित नहीं हुआ। इस चित्र के विषय में देवी निवेदिता लिखती हैं "यह चित्र सम्भवत: भगवान बुद्ध का सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है। ऐसी अद्वितीय कल्पना का पुन: साकार हो सकना असम्भव-सा ही है।"

सत्रहवीं गुफा में एक चित्र सोने के हंस का है जिसकी बातें राजा बड़े

चाव से सुन रहा है। उसी गुफा में रानी माया का एक चित्र है जिसमें वह लुम्बिनी बगीचे में घुसती दिखायी देती है।

सत्रहवीं गुफा का एक और महत्त्वपूर्ण चित्र एक राजकीय जुलूस का है, जिसमें बहुत से आदमी सजधजकर जाते दिखाये गये हैं। किसी के हाथ में छाता है तो किसी के हाथ में बजाने का श्रृंगी बाजा है। जुलूस में स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित हैं। चित्र अलंकार-प्रधान है। स्त्रियों के हाथों में सुन्दर कंकण हैं तथा वे गले में हार पहने हैं। कान से लगे सुन्दर कर्णावतंस भी लटक रहे हैं। स्त्रियों की कमर लचीली और पतली है। उनके उभरे हुए वक्ष स्थल कुछ सूक्ष्म वस्त्रों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी गर्दनें तिरछी और मुद्राएँ कटाक्ष-पूर्ण हैं। कनखयों से देखती हुई यौवन-मद और अनुराग-लिप्सा से परिपूर्ण वे जीवन-तापहारी लतिकाओं-सी जान पड़ती हैं।

एक और चित्र हाथियों वाले जुलूस का है, जिसमें हाथियों पर स्त्री-पुरुष आसीन हैं। प्रधान हाथी अत्यन्त सुन्दर है। इसकी सूँड पर अनेक रंगों के चित्र हैं और मस्तक पर जरी के काम की झालर है। रंगीन कपड़ों की बनी झूल भी बड़ी सुन्दर है। इस पर आसीन व्यक्ति के सिर पर मुकुट और छत्र है, जिससे उसके राजा होने का बोध होता है। अन्य हाथियों पर आभूषण-युक्त स्त्रियाँ बैठी हैं।

अजन्ता की चित्रकला में स्वाभाविकता है, जीवन है, सादगी है, साम्य है, औचित्य है और सौन्दर्य-भावना है। कुरुचि का अथवा वीभत्सता का लेशमात्र उनमें नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अजन्ता के चित्रों में अंकित व्यक्तियों में चाहे वह धनाढ्य हैं, भूपति हैं अथवा निर्धन गृहस्थ हैं, चाहे पुरुष हैं अथवा स्त्रियाँ हैं—इन सब में जीवन के प्रति आनन्द-भावना है, उनके हृदय में जीवन के प्रति एक सुखमयी लिप्सा है, जिसे सभी कला-मर्मज्ञों ने स्वीकार किया है। यही कारण है कि अजन्ता के चित्र संसार भर में अद्वितीय हैं। उनमें भारतीय जीवन की, उसके विराग-अनुराग की, उसकी आशाओं-निराशाओं की, उसकी क्षमताओं-व्यथाओं की झलक तो है ही उनमें भारतीय संस्कृति का चरम आदर्श भी परिलक्षित हुआ है। आनन्द-भावना ही भारतीय जीवन का साध्य और साधन रही है। एक इतिहासकार के शब्दों में "श्री हर्ष ने अपनी कविता

में स्त्रियों की कटि का वर्णन करते हुए उसे 'मुष्टिमेय' कहा है पर अजन्ता के चितेरों ने इस कथन को अपनी तूलिका द्वारा प्रत्यक्ष कर दिखाया है। अतएव अजन्ता के चित्रों को हम तूलिका से अभिव्यंजित मनोरम कविता कहें तो कुछ अनुचित न होगा।"

भारतीय चित्रकला के इतिहास में अजन्ता की चित्रकारी का सर्वप्रथम स्थान है। प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी कला-मर्मज्ञों ने अजन्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। माइकेल एंजलो और फ्रा एंजिलिकों से शताब्दियों पूर्व इन सौन्दर्यमय चित्रों की रचना किस प्रकार हुई होगी यह सोचकर आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। कहना न होगा कि बाद में भारतीय चित्रकला पर अजन्ता की चित्रकला की बहुत गहरी और अमिट छाप पड़ी। लार्ड वोनालुरो के मतानुसार बंगाल की आधुनिक कला-शैली पर भी अजन्ता का गहरा प्रभाव जान पड़ता है। अभी कोई पन्द्रह वर्ष पहले सारनाथ के मूलगन्ध बूटी विहार में जापानी कलाकारों ने जो भित्ति चित्र बनाये उनसे भी अजन्ता का आभास अवश्य मिलता है।

अजन्ता की २६ गुफाओं में से दो अगम्य हैं बाकी सभी देखी जा सकती हैं।

इनके विषय में एक बड़ी कठिनाई है काल-निर्णय की। समय-समय पर विविध राजाओं की संरक्षकता में इन्हें बनाया गया होगा, ऐसा अनुमान है, क्योंकि कुछ चित्र अत्यन्त प्राचीन और कुछ अर्वाचीन जान पड़ते हैं। अजन्ता का एक चित्र काल-निर्णय में कुछ सहायक है। यह चित्र है फारस देश के राजदूत का जो फारस के राजा की ओर से कोई भेंट प्रस्तुत करता दिखाया गया है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त काल से लेकर चालुक्य वंश के शासन-काल तक इन गुफाओं का निर्माण हुआ होगा।

अजन्ता से हम मोटर लारी में ही दौलताबाद गये और दौलताबाद से एलोरा।

एलोरा की गुफाएँ भी शिलाखंड में काटकर बनायी गयी हैं। शिलाखंड ही क्यों कहना चाहिए एक छोटे-मोटे पठार को काट इन गुफाओं को बनाया गया है। अनुमान कीजिए ये गुफाएँ सवा मील तक चली गयी हैं, जिनके बनाने में न मालूम कितना परिश्रम हुआ होगा और न मालूम कितना समय लगा होगा।

इस गुफा-शृंखला के तीन मुख्य अंग हैं—बौद्ध गुफाएँ, हिन्दू गुफाएँ,

और जैन गुफाएँ। बौद्ध गुफाओं की संख्या बारह है और अनुमान है कि वही सबसे पहले की बनी है। उनकी खुदाई चौथी से आठवीं शताब्दी के बीच हुई। हिन्दू गुफाओं की संख्या सत्रह है। ये बीचोंबीच बनी हुई हैं और अनुमान है कि इनकी खुदाई सातवीं और आठवीं शताब्दी में हुई। अन्तिम गुफाएँ, जिनकी संख्या चार है, जैन गुफाएँ हैं, जिनकी खुदाई हिन्दू गुफाओं के बाद ही हुई होगी।

प्रारम्भिक बौद्ध गुफाएँ बिल्कुल सादी हैं। पर दसवीं गुफा, जो विश्वकर्मा गुफा के नाम से प्रसिद्ध है, उल्लेखनीय है। बारहवीं गुफा, जो तीन तल गुफा के नाम से प्रसिद्ध है, एक तिमंजिली गुफा है। यहाँ पर जो मूर्तियाँ अंकित हैं वे आकार, धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति और सजावट की दृष्टि से अनुपम बनी हैं।

विश्वकर्मा गुफा का भीतरी भाग सँकरा होता गया है और अन्त में २७ फुट लम्बा और साढ़े पन्द्रह फुट चौड़ा रह गया है। वहाँ पर आसीन ग्यारह फुट ऊँची भगवान बुद्ध की विशाल मूर्ति है।

तीन तल गुफा मनुष्य के सतत प्रयत्न और धैर्य का उत्कृष्ट नमूना है। कितने परिश्रम और कितनी लगन से पाषाण खंड काटकर यह तिमंजिली कला-कृति खड़ी की गयी होगी। अकेले अर्थ-व्यय से सम्भवतः यह कार्य सम्पन्न होना कठिन था। मुझे इसके पीछे मनुष्य की कर्त्तव्य-निष्ठा और आस्था की झलक दिखायी दी जिसके बिना मेरे विचार में कोई महान् कार्य पूरा करना सम्भव नहीं।

इस गुफा में जो बुद्ध की मूर्ति है उसके विषय में एक रोचक बात बताना जरूरी है। स्थानीय निवासी उसे राम मानकर पूजते हैं। इस मूर्ति की नाक और ओंठ आदि नहीं हैं पर स्थानीय निवासी एक के टूटते ही पलस्तर की दूसरी नाक चढ़ा देते हैं। भक्ति का मुझे यह अनोखा रूप जान पड़ा और बुद्धि-वादी भले ही तर्क की शरण लें, किन्तु मुझे वे स्वल्प बुद्धि वाले किन्तु श्रद्धालु स्थानीय जन ही भगवान के अधिक निकट जान पड़े जो किसी भी रूप में सर्व-शक्तिमान को ही पूजते हैं।

हिन्दू गुफाओं में १६वीं गुफा जिसे कैलाश अथवा रंगमहल गुफा कहते हैं शिव की गुफा है, किन्तु इसमें विष्णु का और अन्य पौराणिक विभूतियों के चित्र

अंकित हैं। इसमें ध्वज स्तम्भ और हाथी की मूर्ति भी दर्शनीय हैं। भारत में पाषाण खण्ड में बनी हुई इतनी विशाल गुफा दूसरी नहीं है। यह गुफा २७६ फुट लम्बी, १५४ फुट चौड़ी और १०७ फुट ऊँची है। इससे गुफा के भीमकाय आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। शिलाखण्ड में काटकर बनाया गया हिन्दुओं का इतना विशाल मन्दिर भारत में दूसरा नहीं है। इक्कीसवीं गुफा जो रामेश्वर गुफा कहलाती है और २९वीं गुफा जो सीता गुफा कहलाती है, कला और पच्चीकारी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है।

जैन गुफाओं में से इन्द्र सभा और जगन्नाथ सभा अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, किन्तु उन पर ब्राह्मण गुफाओं की कला की छाप है और प्रकट यह होता है कि वे लक्ष्य तन्मयता की बजाय प्रतिस्पर्धा से प्रेरित होकर बनायी गयी हैं। बौद्ध गुफाओं में जिस तन्मयता की झलक मिलती है उसका इन गुफाओं में सर्वथा अभाव है यद्यपि कला की दृष्टि से इनके महत्त्व को नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

एलोरा से फिर हम दौलताबाद लौटे और दौलताबाद से पुनः अजन्ता आ कर एक बार फिर पद्मपाणि भगवान् बुद्ध के चित्र के दर्शन कर जलगाँव लौट आये। जलगाँव में हमें एक दिन और ठहरना पड़ा क्योंकि श्री रूपचन्दजी लाठी ने हमारे सम्मान में एक पार्टी रखी थी।

जलगाँव से हम बम्बई पहुँचे। हमारा उद्देश्य बम्बई नगर देखना न था; बम्बई तो मैं कई बार हो ही आया था। यहाँ हम आये थे एलीफैण्टा गुफाएँ देखने। बम्बई में हमारी दूकान थी और मकान भी। हम यहाँ अपने मकान में ही ठहरे। बम्बई से हम गये एलीफैण्टा गुफाएँ देखने।

एलीफैण्टा गुफाओं के विषय में हाथी की एक मूर्ति का जिक्र होता है जिस का अपना इतिहास है। १८१४ में इस हाथी का सिर टूट कर गिर गया और बाद में उसका शेष अंग भी कई भागों में कट गया। १८६४ में इस मूर्ति के खण्डित अंगों को विक्टोरिया बाग बम्बई ले जाया गया, जहाँ इसको पुनः जोड़ा गया। कहा जाता है कि इस हाथी के अंग्रेजी पर्याय एलीफैण्ट के नाम पर ही पुर्तगालियों ने इन गुफाओं को एलीफैण्टा गुफाओं की संज्ञा दी।

ये गुफाएँ एपालो बन्दर से कोई सात मील पश्चिमोत्तर में एक द्वीप पर स्थित हैं, जिसे स्थानीय निवासी और मल्लाह घरपुरी कहते हैं। इसका घेरा कुल

मिलाकर साढ़े चार मील से अधिक नहीं। इसमें दो पहाड़ियाँ हैं, जिनके बीच एक मनोरम घाटी है। द्वीप के निवासियों की संख्या बहुत कम है।

आकार की दृष्टि से यह द्वीप चाहे छोटा हो, पर इसका इतिहास बड़ा रोचक रहा है। मौर्य्य, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं का इस पर आधिपत्य था। १५३४ में इस पर पुर्तगालियों ने अधिकार किया। १७७४ में अंग्रेजों ने इसे अपने शासन में लिया और १७७५ में बादशाह एडवर्ड सप्तम को, जो उस समय प्रिंस आफ वेल्स थे, इस द्वीप पर दावत दी गयी थी।

किन्तु इस द्वीप की महत्ता का आधार इसका इतिहास न होकर वहाँ की तक्षण कला और वहाँ की अद्भुत गुफाएँ हैं। इन गुफाओं का निश्चित रूप से काल निर्णय करना तो असम्भव-सा है, पर, हाँ, इतना अवश्य ज्ञात हुआ है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ये विद्यमान थीं।

एलीफैण्टा की गुफाएँ मुख्यतः शैव हैं और इनमें सबसे प्रसिद्ध शिव का मन्दिर है जो एक गुफा में खोदा गया है। यहाँ भगवान् शिव को सृजनहार, पालनहार और प्रलयंकर तीनों रूपों में अंकित किया गया है। शिव के तांडव नृत्य का एक मनमोहक दृश्य है और एक शिला पर शिव को भावमग्न भी अंकित किया गया है। शिव को नटराज के रूप में अंकित करने वाले एक दृश्य में उनके उस सृजनकारी नृत्य की अभिनव छबि है, जिसे ब्राह्मण कला में इतना उच्च स्थान प्राप्त है। शिव-पार्वती-विवाह, गंगावतरण, अर्धनारीश्वर शिव, मानवती पार्वती आदि के अनेक छबि-दृश्य हमने मनोयोगपूर्वक देखे। इन प्रतिमाओं में सबसे प्रसिद्ध शिव की प्रतिमा है।

ये गुफाएँ हमको आज भी कितनी भव्य जान पड़ीं, किन्तु उनमें वह नवीनता और सौन्दर्य भला कहाँ रहा, जो किसी समय रहा होगा, क्योंकि पुर्तगालियों ने इन गुफाओं का बड़ा दुरुपयोग किया। कैसे दुःख की बात है कि इन गुफाओं में वे अपने घोड़े बाँधते थे और इन्हें निशानेबाजी के काम में लाते थे।

एलीफैण्टा से हम बम्बई लौटे। बम्बई से हमारा विचार बीजापुर जाकर गोल गुम्बज देखने का और था। उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, परन्तु जबलपुर के कुछ ऐसे तार और पत्र मिले कि इस दौरे को अब मुझे समाप्त कर जबलपुर लौटना पड़ा। इसके बाद गोल गुम्बज देखने का मुझे अब तक सौभाग्य प्राप्त न

हो सका, यद्यपि मैं सारे संसार के अधिकांश भाग में चक्कर लगा आया हूँ। एक कहावत है "अनी चूके बीसा सौ" वही इस मामले में हुआ।

मैंने इस यात्रा के समय ही कुछ नोट लिखे थे, क्योंकि उस समय मेरी इच्छा इस यात्रा पर एक लेखमाला लिखने की थी। उस समय वह लेखमाला न लिखी जा सकी, पर अनेक पुराने पत्रों के सदृश वे नोट भी सुरक्षित रहे। इस पुस्तक का यह अध्याय मुख्यतः उन्हीं नोटों के सहारे से लिखा गया है।

सार्वजनिक जीवन की ओर

मेरा महत्जनों की जीवनियों का अध्ययन मुझे अब सार्वजनिक जीवन की ओर आकर्षित करता जा रहा था। मेरा कभी एक विद्वान का पढ़ा हुआ कथन अनेक बार मुझे याद आ जाता है—"अपनी उन्नति का पुरुषार्थ अपने में विद्यमान रहना, यह मानव और पशु का सबसे बड़ा भेद है। एक सीमा के उपरान्त जानवर अपनी तरक्की नहीं कर सकता, लेकिन मनुष्य के लिए कोई ऐसी नैसर्गिक सीमाएँ नहीं हैं।" इन्हीं दिनों मैंने एक कथन और पढ़ा—"दुनिया के खेल खेलने की हिम्मत जिन्हें नहीं होती उन्हें खिलौना मान दुनिया उनसे खेलती है।" मेरे सार्वजनिक जीवन का आरम्भ हुआ, सन् १९१५ के लगभग एक बहुत छोटे से काय से। यह कार्य था "शारदा भवन" नामक एक छोटे से पुस्तकालय की स्थापना। यह पुस्तकालय राजा गोकुलदास महल के निकट ही हमारे ही एक दूसरे विशाल भवन "गोपाल निवास" में स्थापित किया गया। इस प्रकार यद्यपि सार्वजनिक जीवन का यह छोटा-सा आरम्भ था तथापि मेरे जीवन के आदर्श बड़े-बड़े बनने लगे थे। टाल्स्टाय ने एक जगह लिखा है—"मानवों के दोषों के दो ही उद्गम स्थान हैं—आलस्य और अन्धविश्वास तथा उनके दो ही प्रधान सद्गुण हैं—कार्यशीलता और बुद्धिमत्ता।" वेदान्त के सूत्रों के सदृश जीवन के आदर्श का यह कथन एक सुन्दर सूत्र कहा जा सकता है। तरुणाई ने इस आदर्श को बल पहुँचाया। यदि आदर्श ऊँचे हों और अवस्था तरुण तो यह होता ही है। प्रेमचन्दजी ने एक स्थान पर ठीक लिखा है—"जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का।" फिर मैं सदा से ही कुछ महान् स्वप्न देखता रहा हूँ। रूस के एक साहित्यिक मारिस हिण्डस ने लिखा है—"स्वप्न देखनेवाला होना, किसी प्रकार का भी, यहाँ तक कि मूर्खतापूर्ण स्वप्न देखने वाला भी होना, एक अच्छी और महान् बात है।" और इन स्वप्नों के साथ ही रूस के एक प्रसिद्ध साहित्यकार तुर्गनेव का निम्न-

लिखित वाक्य भी मुझे बड़ा प्रिय रहा है—"अच्छा होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं, अच्छा करना—हाँ, जीवन में यह बड़ी बात है।" फिर सार्वजनिक जीवन में आने के बाद एक प्रसिद्ध पश्चिमी साहित्यिक मैटरलिंक की कही हुई बात से भी मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती रही है—"जितना महान् जीवन उतना ही अधिक कर्मण्य।" साथ ही मुझ में जीवन भर सदा जोश रहा है। पश्चिम के ही एक विद्वान एडवर्ड बुलवर लिटन ने एक जगह लिखा है—"जोश सचाई की नींव है और बिना जोश के सत्य कोई विजय हासिल नहीं कर पाया।" अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर आज मैं कह सकता हूँ कि यह विचार सर्वथा सत्य है। हाँ, यह जोश सच्चा जोश होना चाहिए, सोडावाटर की बोतलवाला जोश नहीं। सच्चे जोश की सुन्दर व्याख्या रस्किन ने की है। वे लिखते हैं—"जिस तरह सच्चा ज्ञान विचार का प्रथम प्रादुर्भाव न होकर अनुशासित और परीक्षित ज्ञान है, उसी प्रकार सच्चा जोश मनोविकार का प्रादुर्भाव न होकर अनुशासित और परीक्षित जोश है।"

मेरे सार्वजनिक जीवन का सम्बन्ध उस समय संसार, देश, प्रान्त और जिले से न होकर जबलपुर नगर के संकुचित क्षेत्र से ही था और इस क्षेत्र में बहुत शीघ्र मेरा तथा मेरे इस छोटे से शारदा भवन पुस्तकालय का एक स्थान हो गया।

हमारे कुटुम्ब की सामाजिक स्थिति तथा पंडित विष्णुदत्तजी शुक्ल का सम्बन्ध होने से राजनैतिक क्षेत्र में और पं० विनायकरावजी का मुझ पर अत्यधिक स्नेह होने के कारण साहित्य क्षेत्र में, दोनों ही में मुझे अपना स्थान बनाने में बड़ी सहायता मिली।

एक वजह और थी जिससे मेरा और मेरे पुस्तकालय का जबलपुर में इतने शीघ्र महत्त्व हो गया यह वजह थी यहाँ का अत्यधिक सुप्त वायुमण्डल तथा कार्यकर्त्ताओं का भयानक रूप सेअ्रभाव।

जबलपुर के सार्वजनिक जीवन का वर्तमान संगठन साहित्यिक चेतना से प्रारम्भ हुआ और इस कार्य का केन्द्र बना शारदा भवन पुस्तकालय।

इस पुस्तकालय का प्रथम वार्षिकोत्सव पं० विनायकरावजी के सभापतित्व में बड़ी धूमधाम से मनाया गया। उस समय के लोगों का कथन था कि उसके

पूर्व जबलपुर में उससे बड़ा कोई साहित्यिक या राजनैतिक आयोजन न हुआ था। इस अवसर पर जबलपुर के उस समय के सार्वजनिक भावनाओं को रखने वाले सभी व्यक्तियों का एक संगठन-सा हो गया। इनमें मुख्य थे—पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल, पं० विनायकरावजी, पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी, पं० कामताप्रसादजी गुरु, पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री, पं० सुखरामजी चौबे, बाबू नाथूरामजी मोदी, श्री लज्जाशंकरजी झा, पं० मनोहरकृष्णजी गोलवलकर आदि। जबलपुर के इन वयोवृद्ध महत्जनों ने न जाने क्यों सार्वजनिक जीवन के लिए मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधीं और पं० विनायकरावजी ने तो मेरे पर अत्यधिक स्नेह के कारण अपने भाषण में यह तक कह डाला—"गोविन्द की गति गोविन्द जाने।" मेरे आगे के सार्वजनिक जीवन में अनेक वर्षों तक विनायकरावजी के इस कथन की बड़ी चर्चा होती रही।

शारद-भवन पुस्तकालय के इस वार्षिकोत्सव के बाद इसी पुस्तकालय में एक व्याख्यानमाला का प्रबन्ध किया गया, जिसमें हर सप्ताह के रविवार को भिन्न-भिन्न विषयों पर स्थानीय तथा बाहरी विद्वानों के भाषण आरम्भ हुए। हर वर्ष शारदा भवन पुस्तकालय का धूमधाम से वार्षिकोत्सव होता, जिसमें स्थानीय तथा बाहरी विद्वान् बुलाये जाते। इन समारोहों में सभापति और व्याख्याता के रूप में श्री जगन्नाथप्रसादजी भानुकवि, स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक, पं० नन्दकिशोरजी वाणीभूषण, पं० दीनदयालजी शर्मा व्याख्यान वाचस्पति, पं० माधवरावजी सप्रे, भारत धर्म महामण्डलवाले स्वामी दयानन्दजी, डाक्टर भगवानदासजी, बाबू शिवप्रसादजी गुप्त, स्वामी श्रद्धानन्दजी, यहाँ तक कि महामना मालवीय तक जबलपुर पधारे थे। कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति सभापति होकर आता और कभी कोई व्याख्याता। तीन दिनों का यह समारोह रहता—व्याख्यान होते, निबन्ध और कविता-पाठ किये जाते, वक्तृत्वोत्तेजक समारम्भ होते, नाटक खेले जाते, न जाने कितने कार्यक्रम चलते। लेखकों, कवियों, वक्ताओं और नाटक के सफल पात्रों को पुरस्कार दिये जाते। मेरा पहला "विश्व-प्रेम" नामक नाटक मैंने शारदा भवन पुस्तकालय के ही एक वार्षिकोत्सव के लिए लिखा था, जो उस अवसर पर बड़ी सफलता के साथ खेला गया था और जिसमें पं० कामताप्रसादजी गुरु, श्री दुर्गाप्रसादजी पाठक, पं०

शालिग्रामजी द्विवेदी, श्री रोशनलालजी श्रीवास्तव, श्री गणेशरामजी मिश्र, श्री कुन्दनलालजी नरहोरिया आदि ने पात्रों के रूप में काम किया था। इन समारोहों का उस समय के जबलपुर में एक विशिष्ट स्थान था। जबलपुर की जनता महीनों पहले से इन समारोहों की बाट देखती और समारोहों के बाद महीनों तक इनकी चर्चा चला करती। जबलपुर का सार्वजनिक जीवन किस प्रकार विकसित होता जा रहा था और कैसी प्रगति कर रहा था इसका पता सबसे अधिक इन समारोहों में लगता था। परन्तु शारदा भवन पुस्तकालय के प्रथम वार्षिकोत्सव के पश्चात् एक ऐसी घटना हुई जिसका विवरण देना यहाँ आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके मेरे भावी सार्वजनिक जीवन की वृत्ति को समझना सम्भव न होगा।

सन् १६१६ में पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जबलपुर निमंत्रित किया। जबलपुर के उस वक्त तक के सार्वजनिक समारोहों में यह सबसे बड़ा समारोह था। सम्मेलन के इस अधिवेशन की स्वागत-समिति के सभापति मेरे ताऊ दीवान बहादुर वल्लभदासजी थे और मैं मंत्रियों में से एक मंत्री चुना गया था। सम्मेलन के सभापति चुने गये थे पंडित रामावतार शर्मा और सम्मेलन के इस अधिवेशन की जबलपुर में महीनों पहले से बड़ी चर्चा थी। एकाएक स्वागत-समिति में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। यह विवाद था अमरावती के श्री खापर्डे को सम्मेलन में निमंत्रित करने के सम्बम्ध में। श्री खापर्डे लोकमान्य तिलक के निकटतम अनुयायियों में से एक थे और उस समय के गरम दल के राजनैतिक अग्रगण्य नेताओं में माने जाते थे। सम्मेलन की स्वागत-समिति के कुछ सदस्यों का मत था कि जब सम्मेलन का अधिवेशन हमारे प्रान्त में हो रहा है तब इस प्रान्त के सभी क्षेत्रों के गण्यमान्य व्यक्तियों को हमें निमंत्रित करना चाहिए और कुछ सदस्यों का कथन था कि सम्मेलन के सदृश साहित्यिक समारोह में हमें किसी ऐसे व्यक्ति को निमंत्रित नहीं करना चाहिए जिसका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध देश की उग्र राजनीति से हो। विवाद बहुत बढ़ा और अन्त में बहुमत से श्री खापर्डे को निमंत्रित करने का निर्णय हुआ। देश की राजनीति ने आगे चलकर जो रुख ग्रहण किया उसे देखते हुए यह घटना एक अत्यन्त साधारण-सी घटना थी, परन्तु उस समय इसे बड़ा महत्त्व मिला।

स्वागत-समिति के इस निर्णय के कारण कई सरकारपरस्त व्यक्तियों ने स्वागत-समिति से त्याग-पत्र दे दिया। मेरे ताऊ यद्यपि सरकारी पदवीधारी थे तथापि वे अड़े रहे, परन्तु मेरे पिताजी ने मुझ से स्तीफा देने के लिए कहा। मेरे मन में पिताजी की इस आज्ञा ने जो संघर्ष उत्पन्न किया वह अपने ढंग का पहला संघर्ष था। आगे चलकर पिताजी के और मेरे बीच जो संघर्ष हुए उनका भी वह श्रीगणेश था।

मेरे इस मानसिक संघर्ष और महान् जीवन-चरित्रों के अध्ययन के कारण उठनेवाली वीर भावनाओं के बावजूद भी अन्त में जीत पिताजी की हुई और मैंने भी सम्मेलन की स्वागत-समिति के मंत्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। मुझे जान पड़ा कि यथार्थ में मैं कायर हूँ, वीर नहीं। अपने साथियों के सामने मैं अपनी ही नजरों में गिर गया, परन्तु किसी प्रकार अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए मैंने भगवान् रामचन्द्र के दृष्टान्त की शरण ली। जब मेरा कोई साथी इस विषय की चर्चा करता, मैं कुछ इस प्रकार कहता—"भई, मैं तो माता-पिता को जीवन में सर्वोपरि मानता हूँ। देखो न, जब पिताजी ने लाखों-करोड़ों खर्च कर डाले तब भी मैंने उनसे एक शब्द नहीं कहा, फिर भला मैं पिताजी की इस छोटी सी आज्ञा का उल्लंघन कैसे करता ? इस विषय में मैं भगवान् राम का अनुयायी हूँ।" मैं आरम्भ से ही पिताजी से डरता था और मेरी सम्मेलन से स्तीफा देने की कृति उसी भय का परिणाम था। राम का दृष्टान्त इस डर को छिपाने के लिए ही दिया जाता था। यथार्थ में पिताजी की आज्ञा मानने के कारण राम ने जिन कष्टों को उठाने का निर्णय किया था, राम की उस कष्ट-सहिष्णुता की छाया भी उस समय मेरे मन पर न थी।

इस प्रकार सम्मेलन की स्वागत-समिति से स्तीफा तो मैंने दे दिया और अपने साथियों के सामने राम का दृष्टान्त दे देकर अपनी भीरुता को ढाँकने का प्रयत्न भी करता रहा, परन्तु मेरा मन अपने ही प्रति अत्यधिक ग्लानि से भर गया। इस समय मुझे चित्तौड़ का विजय-स्तंभ अनेक बार याद आया; चित्तौड़ में उसको की हुई मेरी प्रणाम और प्रार्थना स्मरण आयी और इन संस्मरणों के कारण मैं अपने को और अधिक धिक्कारने लगा। सम्मेलन के अधिवेशन को देखने का मैं अपना लोभ तो संवरण न कर सका, पर जब मैं सम्मेलन के अधि-

वेशन में जाता सकुचा-सकुचा-सा, अत्यधिक लज्जित। मुझे जान पड़ता जैसे सम्मेलन में उपस्थित सारी जनता मेरी ओर ही देख रही है और मुझे कायर समझ मुझ पर हँस रही है। अपने ही प्रति मेरे मन में इस घटना ने जो ग्लानि उत्पन्न की थी, सम्मेलन के अधिवेशन के बाद वह और बढ़ गयी। मैं अनमना ही न रहता, मैं बेचैन रहने लगा और कई बार तो तलमला तथा छटपटा उठता। मेरी दिनचर्या, मेरे आमोद-प्रमोद, मेरे पढ़ने-लिखने, सब पर मेरी इस मानसिक अवस्था का असर पड़ा। प्रसिद्ध साहित्यकार पर्लबक ने एक स्थान पर लिखा है—"हृदय टूटने के कई प्रसंग हो सकते हैं, पर सबसे बड़ा प्रसंग तब आता है जब किसी का जीवन सम्बन्धी कोई महान् स्वप्न भंग हो जाय ; वह स्वप्न चाहे कोई भी स्वप्न क्यों न हो।" मेरे जीवन का उस काल का एक बड़ा भारी स्वप्न भंग हो गया था चाहे आज वह कितना ही तुच्छ क्यों न जान पड़ता हो। यदि उस समय मुझे पं० माधवराव सप्रे का सहारा न मिलता तो न जाने वैसी मानसिक अवस्था में मैं क्या कर डालता।

पंडित माधवराव सप्रे अपने अज्ञातवास से उसी समय निकले थे और अपने अज्ञातवास के पश्चात् साहित्य सम्मेलन के जबलपुर के अधिवेशन में ही सर्वप्रथम उन्होंने फिर से सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। सप्रे जी का अज्ञातवास हुआ था सरकार से उनके माफी माँगने के कारण। लोकमान्य तिलक को "केसरी" में जिन लेखों के लिखने के कारण छः वर्ष का कठिन कारावास का दण्ड दिया गया था उन लेखों के हिन्दी अनुवाद सप्रेजी ने नागपुर से निकलनेवाले अपने "हिन्दी केसरी" में छापे थे। सप्रे जी भी गिरफ्तार हुए थे और यदि उन्होंने माफी न माँगी होती तो वे भी जेल भेजे जाते। सप्रेजी ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के कारण माफी तो माँग ली, परन्तु इसके बाद उनके मन में ऐसी ग्लानि उत्पन्न हुई कि उस माफी के प्रायश्चित के लिए उन्होंने जो कष्ट उठाये वे जेल के कष्टों से भी कहीं अधिक थे। न जाने कितने समय तक उन्होंने अपना उदर-पोषण "मधुकरी" भिक्षा से किया, न जाने कितने समय तक वे बिना किसी से मिले-जुले एकान्त में अज्ञातवास में रहे और सिर तथा पैरों में कुछ पहनना तो उन्होंने जन्म भर के लिए परित्याग कर दिया। वे सदा नंगे सिर और नंगे पैर ही रहते थे। साहित्य सम्मेलन के अवसर पर मुझे सर्वप्रथम

सप्रेजी के दर्शन हुए और मैं उनके प्रति कुछ ऐसा आकृष्ट हुआ कि फिर तो वर्षों तक वे मेरे मार्गदर्शक रहे।

साहित्य सम्मेलन की स्वागत-समिति से त्याग-पत्र देने के कारण जो ग्लानि मेरे मन में उत्पन्न हुई थी उस सब का पूरा वृत्त मैंने सप्रेजी को बताया। उन्होंने सरकार से माफी माँगने पर उनके मन में जैसी भीषण ग्लानि उत्पन्न हुई थी उसका तथा उस माफी के प्रायश्चित के लिए उन्होंने क्या-क्या किया था उसका हाल मुझे कहा और मन की शान्ति के लिए उन्होंने मुझे कुछ आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन करने की सलाह दी। लोकमान्य तिलक के "श्री मद्भगवद्गीता रहस्य" तथा समर्थ स्वामी रामदास के "दास बोध" का हिन्दी अनुवाद सप्रेजी ने ही किया था। ये ग्रन्थ उन्हीं दिनों प्रकाशित भी हुए थे। सप्रे जी ने इन्हें मुझे पढ़ने को दिया। मेरी धार्मिक रुचि थी ही। इन ग्रन्थों को मैंने बड़े चाव से पढ़ा और इनके अध्ययन ने मुझे मानसिक शान्ति तथा भावी कार्य के लिए दृढ़ता भी कम नहीं दी। जान वैसली का एक कथन भी सप्रेजी ने मुझे बताया जो मुझे सदा स्मरण रहा है—"अच्छा जितना भी कर सको, करो; जितने भी साधनों से कर सको, करो; जितने भी मार्गों से कर सको, करो; जितने भी स्थानों में कर सको, करो; जितने भी अवसरों पर कर सको, करो; जितने भी लोगों के लिए कर सको, करो; जितने भी काल तक कर सको, करो।" इसके कुछ समय बाद मैंने पढ़ा टामस पाइने का एक कथन—"संसार मेरा देश है; समस्त मानव मेरे भाई; भला करना मेरा धर्म है; मैं एक ईश्वर में विश्वास करता हूँ।" यह भी मुझे जीवन में स्मरण रहा है और इन्हीं कथनों के साथ आगे चलकर जो मैंने वेदान्त के कुछ सूत्र पढ़े थे—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "वसुधैव कुटुम्बकम्"। उन दिनों मेरा इस दिशा का अध्ययन चलता तथा बढ़ता ही रहा और उन्हीं दिनों मैंने अपना ध्येय बनाया एच० ए० वाल्टर के एक कथन को—

"मैं सच्चा रहूँगा, क्योंकि ऐसे लोग हैं जो मेरा विश्वास करते हैं;
मैं पवित्र रहूँगा, क्योंकि ऐसे लोग हैं जो इस ओर ध्यान रखते हैं;
मै बलवान रहूँगा, क्योंकि बहुत से कष्ट भोगने ही होंगे।
मैं साहसी रहूँगा, क्योंकि बहुत कुछ ललकारने योग्य है।"

अब मेरा मन सार्वजनिक जीवन के सारे संघर्षों के लिए तैयार हो चला और मैंने निश्चय किया कि पिताजी अथवा किसी से भी चाहे मुझे कितना ही संघर्ष क्यों न करना पड़े, साहित्य सम्मेलन की स्वागत-समिति से त्याग-पत्र देने के सदृश कमजोरी अब मैं जीवन में दिखानेवाला नहीं।

मेरे मन के होने वाले इस परिवर्तन का प्रमाण मुझे मिला उस समय जब लोकमान्य तिलक का सन् १९१६ के अन्त में जबलपुर आगमन हुआ।

लोकमान्य लखनऊ कांग्रेस में जा रहे हैं एकाएक यह खबर जबलपुर में फैली। जबलपुर और उसके आस-पास के सुप्त राजनैतिक वायुमण्डल में उस समय जबलपुर नगर के एक वकील श्री नाथूराम मोदी थोड़ा-बहुत राजनैतिक कार्य किया करते थे। उनके नेतृत्व में जबलपुर के कुछ लोगों ने यह प्रयत्न आरम्भ किया कि लोकमान्य कुछ घण्टे जबलपुर में ठहरें और यहाँ उनका भाषण हो। इस प्रयत्न में गुप्त रूप से मेरे ताऊ दीवान बहादुर वल्लभदासजी का भी हाथ था, क्योंकि सरकारपरस्त रहते हुए भी भारतीय नेताओं के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा रहती थी। सार्वजनिक जीवन में भी उनका स्थान था ही। लगातार १८ वर्ष से वे जबलपुर म्यूनिसिपैल्टी के सभापति थे। जब मैंने लोकमान्य के जबलपुर में ठहराने के प्रयत्न का हाल सुना तब उनके दर्शन तथा उनके सामीप्य में पहुँचने की उत्कण्ठा से मेरा हृदय हाथों उछलने लगा और मैंने निश्चय किया कि मेरी इस कृति में चाहे कोई भी बाधा क्यों न आये मैं उसे कुचले बिना न रहूँगा।

लोकमान्य उस समय के भारतीय राजनैतिक जगत में सूर्य के तुल्य थे। कुछ ही समय पूर्व छै वर्ष का कारावास भोगकर वे छूटे थे। वहाँ से वे जो भगवद्गीता रहस्य ग्रन्थ लिखकर लाये थे और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, हाल ही में मराठी और हिन्दी भाषा में प्रकाशित हुआ था, जिसके कारण भारत के विद्वत्समाज पर भी उनका प्रभाव और अधिक बढ़ गया था। श्रीमती एनी बेसैण्ट के सहयोग से उसी समय उन्होंने होमरूल लीग नामक संस्था स्थापित की थी। जबलपुरवाले सफल हुए और जबलपुर की भूमि लोकमान्य के चरणों से पवित्र हुई। वे श्री साने के यहाँ ठहरे। उस समय मोटरों का बहुत प्रचार न हुआ था अतः मेरे ताऊ वल्लभदासजी की दो घोड़े की बग्घी उनके

लिए तैनात रही । उसी पर वे स्टेशन से श्री साने के मकान पर गये, श्री साने के मकान से सार्वजनिक सभा के लिए "अलफ खाँ की तलैया" नामक स्थान को, वहाँ से लौटकर श्री साने के यहाँ और श्री साने के यहाँ से वापस स्टेशन । सन् २० के बाद से कांग्रेस के जुलूसों और सार्वजनिक सभाओं में जैसी भीड़ें हुईं, वैसी उस समय न होती थीं, परन्तु लोकमान्य के स्वागत और उनकी सभा में जितनी जनता उस समय उपस्थित हुई थी उतनी शायद उसके पहले कभी नहीं । लोकमान्य के जबलपुर की धरती पर पैर रखने के बाद से जबलपुर से बिदा होने तक मैंने उनके साथ रहने के सिवा अन्य कोई काम न किया ।

गेहुआँ रंग, साधारण कद और शरीर, पुराने मराठी ढंग से कटे और मुड़े सिर के खिचड़ी बाल और घनी खिचड़ी मूँछें, सिर पर मराठी पगड़ी, ऊपरी शरीर पर मराठी ढंग का अंगरखा तथा उस पर दुपट्टा, नीचे के तन पर धोती और मराठी चप्पल । तिलक के व्यक्तित्व में कोई विशेषता नहीं थी, पर उस व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में जो देशभक्ति, जो साहस, जो त्याग, जो कष्ट सहिष्णुता और इस सब की पृष्ठभूमि में जो विद्वत्ता थी वह उस समय देश के अन्य किस व्यक्तित्व में थी ? रोमांचवाले शरीर और सजल नयनों से मैंने लोकमान्य के चरण स्पर्श किये । मोदीजी ने मेरा परिचय कराया और लोकमान्य ने अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक ध्यान से देखते हुए मुझ को आशीर्वाद दिया ।

तिलकजी का भाषण अलफखाँ की तलैया पर हुआ । उस दिन से इस स्थान का नाम जबलपुरवासियों ने तिलक भूमि रख दिया । लोकमान्य कोई अच्छे वक्ता न थे, थोड़ा अटक-अटककर भी बोलते थे, पर इतने पर भी उनके कथन का जितना प्रभाव पड़ता था उस समय के अन्य किसी व्यक्ति का नहीं । यह था उनके कार्यों के कारण । वे अंग्रेजी में बोले । वे एक-एक वाक्य बोलते और उसका हिन्दी अनुवाद करते पं० माधवरावजी सप्रे । उस भाषण में उन्होंने क्या-क्या कहा था इसका अब मुझे स्मरण नहीं है । इसका कारण कदाचित यह है कि मैं उस समय उनके भाषण सुनने की अपेक्षा उनके देखने में अधिक दत्तचित्त था । हाँ, एक बात उनके भाषण के सम्बन्ध में मुझे अब तक याद है । उनके भाषण के बाद मैंने सप्रेजी से कहा था कि लोकमान्य अंग्रेजी में क्यों बोले ? यदि वे हिन्दी में न बोल सकते थे तो मराठी में बोलते और आप उनके

मराठी भाषण का भी उसी प्रकार अनुवाद कर सकते थे जिस प्रकार आपने उनके अंग्रेजी भाषण का किया। सप्रेजी ने मुस्कराते हुए मेरी इस बात का कुछ संक्षिप्त उत्तर भी दिया था, पर वह भी मुझे अब स्मरण नहीं रहा।

लोकमान्य के इस दर्शन और उनके इस सामीप्य से मेरी उस समय की मनोवृत्ति में मेरे मन को बड़ा बल मिला और मेरा यह बल और बढ़ गया उसके बाद की एक घटना के कारण जो नीचे लिख रहा हूँ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि लोकमान्य की सवारी के लिए मेरे ताऊजी ने अपनी बग्घी दी थी। तिलकजी के बिदा होने के बाद जबलपुर के अंग्रेज अफसरों ने उनसे इस बात के लिए कैफियत चाही। वल्लभदासजी ने उस कैफियत के उत्तर में केवल इतना ही लिखकर भेजा "आतिथ्य-सत्कार बिना किसी भेद-भाव के हम लोग अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जिस प्रकार जबलपुर में आने वाले अनेक राजा-महाराजाओं का हम पहले आतिथ्य-सत्कार करते रहे हैं, अभी भी सरकारी अफसरों का अनेक प्रकार से करते हैं, उसी प्रकार तिलक का भी किया। इसके अतिरिक्त मुझे और कोई कैफियत नहीं देनी है और यदि यह कैफियत संतोषजनक न समझी जाय ता आपकी जो इच्छा हो आप कर सकते हैं।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर के अधिवेशन में श्री खापर्डे को निमंत्रित न करने के स्वागत-समिति के फैसले के बाद भी मेरे ताऊजी स्वागत-समिति के अध्यक्ष बने रहे थे और लोकमान्य को अपनी बग्घी देने के सम्बन्ध में उन्होंने अफसरों को एक करारा उत्तर दिया। उस समय ऐसे काम भी बड़ी वीरता के काम माने जाते थे और मेरे मन पर मेरे ताऊजी की इस बात का कम प्रभाव नहीं पड़ा।

अब जैसे-जैसे मैं सार्वजनिक जीवन की ओर बढ़ता गया मुझे बुलवर लिटन के इस कथन की सत्यता में विश्वास होता गया कि "जीवन की बड़ी चीजों के मूल्य को तभी पूर्ण रीति से समझा और उन्हें ग्रहण किया जा सकता है जब छोटी चीजों से असन्तोष हो।"

इन्हीं दिनों मैंने एक बात और की—अपने गुण-दोषों का स्वयं निरीक्षण आरम्भ कर एक चार्ट बनाया जिसमें अपने दोष लिखे। इन्हें मैं नित्य सोने के

पूर्व देखता और हर दिन उन दोषों के सम्बन्ध में नम्बर लेता; जैसे अधैर्य मुझे अपना एक दोष दिखता । किस दिन मैं अधैर्य में थर्ड क्लास रहा, किस दिन सैकिण्ड क्लास और किस दिन फर्स्ट क्लास, यह हर दिन उस चार्ट में नोट होता ; इसी प्रकार अन्य दोषों के सम्बन्ध में भी । सार्वजनिक जीवन में अधिकाधिक अग्रसर होते हुए मुझे अपने में अधिकाधिक दोष दिखने लगे थे । कुछ दोष कम होते अथवा मिटते जाते और कुछ नये-नये सूझते जाते । यह चार्ट मैंने वर्षों रखा है और अपने दोषों को घटाने में मुझे इससे बहुत सहायता मिली है । अपने दोषों के इस निरीक्षण की प्रेरणा मुझे कार्लाइल के निम्न-लिखित कथन से मिली थी—"सबसे बड़ा दोष है अपने किसी दोष को न जानना ।"

और उसी समय विचार करते-करते मैंने जीवन की सफलता के प्रधान साधनों का भी निश्चय किया । मुझे ये चार जान पड़े—अच्छा स्वास्थ्य, बुद्धि का विकास, धन और आत्मसंयम । इतने वर्षों के इतने अनुभव के पश्चात् भी मैं इनमें कोई वृद्धि नहीं कर पाया हूँ ; इन चार के अन्तर्गत जीवन की सफलता के सब प्रधान साधन आ जाते हैं ।

व्यक्तिगत आर्थिक सहायताएँ, सेवाएँ और भेटें

हमारा कुटुम्ब पुराने ढंग का था अतः बड़े-बड़े चन्दों के अतिरिक्त सदाव्रत, गुसाइयों, महन्तों, पंडों और साधु-सन्तों को दान पुण्य तथा आगत गुणीजनों के सत्कार में भेटें, सिरोपाव आदि सदा दिये जाते थे । इन संस्कारों का प्रभाव बाल्यकाल से ही मेरे मन पर था । सप्रेजी ने जो जान वैसली का कथन मुझे बताया उसने इस ओर मुझे एक नयी प्रेरणा दी । यद्यपि गान्धीजी की धनवानों के लिए ट्रस्टी होने की बात उस समय प्रचलित नहीं हुई थी, पर बिना उसके ही वैसली के इस कथन के कारण मेरे मन में उठा कि मेरे कुटुम्ब ने जो संपत्ति इकट्ठी की है उसका उपयोग यथार्थ में शानशौकत आदि प्रदर्शन न होकर अधिक से अधिक लोगों का भला करना ही हो सकता है । आर्थिक संकट से हमारा घर मुक्त हो ही गया था अतः मैंने सप्रेजी के उपदेश को कार्य रूप में परिणत करना आरम्भ किया ।

हमारे कुटुम्ब से जो व्यक्तिगत दान-पुण्य और गुणी जनों का सत्कार होता था उसका मार्ग भर मैंने परिवर्तित कर दिया ।

मेरे इस कार्य की दिशा हो गयी विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ, विधवाओं को सहायता, अपाहिजों को भिक्षा, मित्रों को आर्थिक चिन्ता से मुक्त करना, साहित्यिकों की सेवा और राजनैतिक तथा समाज के अन्य ऊपरी तपके के लोगों को भेटें ।

विद्यार्थियों में ठीक पात्रों को ये छात्रवृत्तियाँ मिलें इसके लिए मैंने श्री रघुवरप्रसादजी द्विवेदी और श्री मनोहरकृष्णजी गोलवलकर को माध्यम चुना । ये छात्रवृत्तियाँ इन्हीं दो महानुभावों के मार्फत दी जातीं । इन छात्रवृत्तियों की सहायता से जो विद्यार्थी पढ़े उनमें से अनेक आज वकील, डाक्टर, वैद्य, प्रोफेसर और मास्टर हैं । कुछ विद्यार्थियों को तो विलायत जाने के लिए भी सहायताएँ दी गयीं ।

विधवाओं की सहायता जबलपुर के नार्मल स्कूल के एक शिक्षक श्री दुर्गाप्रसादजी पाठक के मार्फत दी जातीं। इस सम्बन्ध में उनके उस काल के पत्रों के कुछ अंश इस पुस्तक के परिशिष्ट एक में इसलिए दिये गये हैं कि यह कार्य किस प्रकार चल रहा था इसका कुछ दिग्दर्शन इन पत्रों से हो जाता है।

अपाहिजों को भिक्षा मैं स्वयं देता। नित्य प्रातःकाल मैं या तो पैदल घूमने जाता या घोड़े पर। अपाहिजों को उस समय यह भिक्षा बाँटी जाती। स्वयं इस प्रकार का दान करते-करते मेरे मन में जबलपुर में एक अनाथालय स्थापित करने की बात उठी। आगे चलकर मैंने इसे स्थापित भी किया। मेरी बहन की मृत्यु के बाद हमारे कुटुम्ब ने इस संस्था को एक अच्छी रकम चन्दे में भी दी और अब यह अनाथालय जबलपुर में मेरी बहन के नाम पर "राजकुमारी बाई" अनाथालय के नाम से चल रहा है।

मित्रों को आर्थिक चिन्ता से मुक्त करने के कार्य में मैंने शायद सबसे अधिक व्यय किया। आगे चलकर जब मेरी आर्थिक अवस्था खराब हो गयी तब इस प्रकार के अन्य खर्चे तो बन्द हो गये, पर इस मद का नहीं, यहाँ तक कि जिन मित्रों के खर्च चलाने की जिम्मेदारी मैंने उठा ली थी उस जिम्मेदारी को कर्ज लेकर भी मैं पूरा करता रहा। मित्रों को इन व्यक्तिगत आर्थिक सहायताओं के सिवा मेरे कुछ मित्र जिनकी शारीरिक संपत्ति अच्छी न थी, उन्हें आयुर्वेदिक, हकीमी कल्प आदि कराकर मैंने उनकी तीमारदारी भी की है और इसमें जब उन्हें लाभ पहुँचा तब मुझे एक अनोखे सुख का अनुभव हुआ है।

साहित्यिकों की सेवा मैं महान् कार्य मानता था, क्योंकि जिस काल में मैं यह कार्य कर रहा था वह था देश के विचार-परिवर्तन का युग। विचार-परिवर्तन की नींव ही साहित्य है। इस विषय में तो मैंने पटना के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर सम्मेलन से एक प्रस्ताव पास करा "राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर" नामक संस्था की ही स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य ही यह था कि जीविका की चिन्ता से मुक्त कर साहित्य सृजन के लिए साहित्यिकों को रखना। खेद की बात है कि यह संस्था तो न चल सकी पर व्यक्तिगत रूप से इस दिशा में मेरा सेवा का कार्य सदा चलता रहा।

राजनैतिक तथा समाज के अन्य ऊपरी तपके के लोगों को भेंटें अर्पण करते

रहना इस क्षेत्र का मेरा अन्तिम कार्य था। ऊपर लिखे हुए अन्य कार्यों में मैंने जिन्हें सहायता दी या जिनकी सेवा की उनके नामों का उल्लेख करना उचित नहीं, परन्तु इन भेंटों को जिन्हें किया गया उनमें से कुछ के नामों का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि ये भेंटें जिन्हें की गयीं उनकी कोई माँग इन भेंटों के लिए न थी, वरन् मैं यह भी कहूँ तो अनुचित न होगा कि इन भेंटों को करने में बहुत दूर तक मेरा ही स्वार्थ था। जिन्हें ये भेंटें दी गयीं उनमें दो ही नामों का यहाँ उल्लेख करता हूँ—एक उस काल के साहित्य क्षेत्र के और दूसरे राजनैतिक क्षेत्र के उच्चतम व्यक्ति—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० मोतीलालजी नेहरू। ऊपर कहा गया है कि इन भेंटों के अर्पण में बहुत दूर तक मेरा ही स्वार्थ था। मैंने साहित्य और राजनीति दोनों क्षेत्रों में कार्य आरम्भ किया था और इन भेंटों का उद्देश्य था अपने कार्यों की प्रशंसा।

पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी से मेरा धीरे-धीरे घनिष्ठ सम्बन्ध हो चला था। इस सम्बन्ध को और दृढ़ करने के लिए सौगात के रूप में मैंने उन्हें कुछ भेजने के लिए लिखा। इस पत्र का मसौदा श्री कामताप्रसादजी गुरू ने बनाया था, जो उनके अक्षरों में ही अब तक मेरे पास सुरक्षित है, क्योंकि बड़ा नाजुक मामला था। द्विवेदीजी से इस विषय में मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ था वह बड़ा सिद्धान्तवादी तथा दिलचस्प है। उस पत्र-व्यवहार के भी कुछ अंश परिशिष्ट १ में दिये गये हैं।

पं० मोतीलालजी नेहरू से हमारे कुटुम्ब और मेरे पिताजी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब वे आनन्द भवन की नयी इमारत बना रहे थे, उस समय मैंने अपने जंगल से उस इमारत के लिए सागौन की लकड़ी भेजी। उस सम्बन्ध में नेहरूजी के भी दो पत्र इसलिए परिशिष्ट १ में दिये गये हैं कि उन्होंने यह लकड़ी इसी विचार से स्वीकृत की थी कि वे उसकी पूरी कीमत चुका देंगे, पर कहीं भेंट की हुई चीजों के बिल भेजे जाते हैं।

भगवान ने गीता में दान के तीन प्रकार लिखे हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।
अदेशकाले यद्दान मपात्रेभ्यश्च दीयते
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामस मुदाहृतम् ।

मेरी इन व्यक्तिगत आर्थिक सहायताओं, सेवाओं और भेंटों में तमोगुण से प्रेरित एक भी बात न थी। अन्तिम चीजें रजोगुणी थीं और शेष सब सात्विकी।

मैंने जब इन कार्यों को आरम्भ किया तब मैं सार्वजनिक क्षेत्र में आ रहा था। सार्वजनिक कार्यों के लिए मैंने इस दीर्घ काल के सार्वजनिक जीवन में चन्दा आदि भी नहीं दिया ऐसा नहीं, पर मैंने इन चन्दों से कहीं अधिक व्यक्तिगत सहायताओं और सेवाओं में खर्च किया है। इनका यदि जोड़ लगाया जायगा तो वह रकम हजारों नहीं लाखों तक पहुँचेगी।

इसके सिवा इस क्षेत्र में मैंने एक बात और की। जब मेरा परिचय बढ़ गया तब मेरी दृष्टि से इस प्रकार की सहायताओं के जो उचित पात्र थे उन्हें मैंने अन्यों से भी सहायताएँ दिलाने का यत्न किया। इस प्रकार के कार्य के लिए भिक्षा माँगने में मुझे कभी भी किसी तरह का संकोच नहीं हुआ, जैसा कि मेरे वर्ग के अधिकांश लोगों को होता है।

मेरी दो सख्त बीमारियाँ और स्वास्थ्य लाभ के लिए मैं पचमढ़ी में

मुझे निसर्ग ने काफी मजबूत तथा नीरोग शरीर दिया है, या यों भी कह सकते हैं कि पूर्वजों से आनुवंशिकता के नियमानुसार मजबूत एवं नीरोग शरीर मिला है। पूर्व जन्म के कर्मों अथवा आनुवंशिकता या वातावरण मानव के निर्माण में कितना और किस प्रकार का योग देते हैं इसका कुछ दिग्दर्शन पहले किया जा चुका है अतः पुनः इस सम्बन्ध में कुछ कहना पिष्ठपेषण ही होगा। जो कुछ हो, पूर्व जन्म के कर्म अथवा आनुवंशिकता की देन ने मुझे मजबूत तथा नीरोग बनाया और उसे सहायता दी मेरे लालन-पालन एवं भोजन ने। फलस्वरूप मैं जीवन में बहुत कम बीमार पड़ा हूँ। पर सन् १९१८, १९ का कुछ समय इस दृष्टि से मेरे जीवन में अपवाद रहा।

सन् १९१८ के अन्तिम दो महीनों में भारतवर्ष ने एक नयी तथा महा-भयानक महामारी का भीषण काल देखा। इस महामारी को उस समय अंग्रेजी में इन्फ्लूएंजा और हिन्दी में लाल बुखार के नाम से पुकारा गया। यह महा-मारी उस बीच सारे संसार में फैली। इसका क्या कारण था इस सम्बन्ध में अनेक खोजें हुई और यद्यपि इस विषय में विशेषज्ञों एवं वैज्ञानिकों में मतभेद रहा, जैसा कि सदा रहता ही है, तथापि इनमें से अधिकतर विशेषज्ञ तथा वैज्ञानिक इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह महामारी सन् १४-१८ के महायुद्ध का परिणाम थी। सारे संसार में इस बीमारी के बीमारों तथा मरनेवालों की संख्या यद्यपि अब तक की समस्त महामारियों से अधिक रही, तथापि अन्य देशों में धन एवं चिकित्सा के साधनों के उपलब्ध रहने से बीमारी शीघ्र ही रोकी जा सकी, बीमार अच्छे किये जा सके और बहुत शीघ्र मृत्यु संख्या भी घटायी जा सकी। भारतवर्ष में यह नहीं हो सका और यहाँ इस महामारी का जैसा ताण्डव रहा वैसा कहीं भी नहीं। हमारी पराधीनता ने हमें कितना गरीब,

कितना जर्जर और कितनी दूर तक चिकित्सा के साधनों से विहीन बना दिया है इसका जितना पता सन् १९१८ के इन्फ्लूएंजा में लगा उतना कदाचित कभी भी न लगा था। पूरब से लेकर पश्चिम तक तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक एक भी नगर, एक भी कस्बा, एक भी गाँव ऐसा न था जहाँ यह बीमारी न पहुँची हो; जिस गाँव में एक झोंपड़ी थी वहाँ भी यह पहुँची ; और एक ही समय; जिससे प्लेग, हैजा, शीतला आदि महामारियों में जिस प्रकार बीमारी के स्थान से अन्य स्थल पर जाने से मनुष्य अपने को बचा लेता था उस प्रकार बचत भी न की जा सकी। सारा देश बीमारों की आहों और मृत्यु होनेवाले गृहों में उनके कुटुम्बियों की चीत्कारों में व्याप्त था। कई जगह तो कुटुम्ब के कुटुम्ब इस बीमारी में स्वाहा हो गये। कुटुम्ब का एक व्यक्ति प्रातःकाल मरा तो दूसरा एक पहर दिन चढ़े, तीसरा उसके कुछ घण्टों बाद और चौथा सायंकाल तक। ऐसे कुटुम्बों में ही पूर्ण शान्ति रही, क्योंकि वहाँ न कोई रोने वाला रहा और न चीत्कार करनेवाला। बीमारों के इलाज करनेवाले यथेष्ट चिकित्सक नहीं थे, न थे मुरदों की अन्त्येष्टि करनेवाले साधन। शहरों में ही जब इन साधनों का घोर अभाव था तब गाँवों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही निरर्थक है। यदि इलाज का ऐसा अभाव न होता तो मृत्यु संख्या इतनी कदापि न होती। मौत आने पर ही कोई मरता है यह विचार कितना गलत है यह बात इस महामारी में जितनी दूर तक सिद्ध हुई उतनी शायद पहले कभी न हुई थी, क्योंकि बीमारी आरम्भ होते ही जिस बीमार का इलाज हो गया उनमें से अधिकांश बच गये। अनेक घरों और घरों ही नहीं गाँवों तथा शहरों के मुहल्लों में न जाने कितने दिनों तक मुरदे पड़े-पड़े सड़ते रहे, उन्हें उठाने, जलाने अथवा दफनाने के लिए कोई था ही नहीं। कानपुर आदि शहरों के गंगा आदि नदियों के प्रवाह तक मुरदों से पट गये थे। यूरोप के चार वर्षों के घनघोर संग्राम एवं इस देश की वर्षों तक चलनेवाली प्लेग, हैजा, शीतला आदि महामारियों में युगों में भी जितनी मृत्यु संख्या न पहुँची थी उतनी दो महीनों में इस महामारी में पहुँची।

हमारे घर में भी इस बीमारी ने प्रवेश किया। यद्यपि डाक्टरों की राय के अनुसार हम लोग इस समय शहर के बाहर की अपनी कोठी गोविन्द भवन में

रहते थे और नमक, पुटेशियम परमेंगनेट, लिस्टरीन आदि दवाओं से हर तीसरे-चौथे घण्टे कुल्ले करते थे तथापि इसका कोई फल न निकला। घर में एक-एक कर प्रायः सभी बीमार हुए। गनीमत यही हुई कि इलाज के साधन उपलब्ध रहने तथा बीमार होते ही इलाज हो जाने के कारण मृत्यु के मुख तक पहुँचने पर भी मृत्यु किसी को निगल न सकी और सभी बच गये।

मैं भी बीमार हुआ और सख्त बीमार। जो व्यक्ति भी इस बीमारी का शिकार होता, बीमार होते ही यह तो मान ही लेता कि वह जा रहा है। मृत्यु का सामना करने की तैयारी कैसी होती है इसका अनुभव महामारियों के समय उस महामारी से ग्रस्त व्यक्ति को जितना होता है उतना शायद किसी को नहीं। मैं बीमार पड़ा लगभग ९ बजे प्रातःकाल। पहले तबियत कुछ भारी जान पड़ी और दो घण्टे में ही तापमान १०३ के लगभग पहुँच गया। यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है मैं जीवन भर स्वस्थ ही रहा था, पर कभी मलेरिया बुखार भी न आया हो, ऐसा इस देश में कौन व्यक्ति है ? मुझे भी इसके पहले १, २ बार मलेरिया बुखार आ चुका था, जिसमें तापमान काफी ऊँचा जाता है, पर इस समय के बुखार और उस समय के बुखार में अन्तर था। वह बुखार काल-ज्वर है यह भावना भी मन में न उठती थी, जिस भावना से इस समय मन ओत-प्रोत था। और जब मन ने यह मान लिया था कि यह ज्वर काल ज्वर है तब शरीर का कष्ट मन पर उतना असर न करता था जितना मन की यह भावना। इलाज में भी विश्वास न था, फिर भी डाक्टर-वैद्यों के एक-एक निर्देश का मैं अक्षरशः पालन करता था। मृत्यु की पूर्ण संभावना और जीवित रहने की प्रबल इच्छा के बीच में तेज बुखार से व्याप्त शरीर झूल रहा था। बुखार के साथ अत्यधिक शिर-पीड़ा, हड़फूटन और खांसी। इतनी हड़फूटन तो जीवन में कभी हुई थी यह याद न पड़ता। इतने अधिक शारीरिक कष्ट में मृत्यु की पूर्ण सम्भावना की भावना इस समय मुझे ईश्वर का जितना स्मरण करा रही थी उतना ईश्वर को मैंने कदाचित कभी भी स्मरण न किया था। मैं आस्तिक वैष्णव हूँ। बाद के जीवन में मुझे कई बार ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह भी हुआ है, विशेषकर मार्क्स और फ्रायड के अध्ययन के समय, परन्तु उस समय मैं संशयात्मा नहीं था। ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह हो सकता है, परन्तु एक बात मैं

कदाचित नहीं, जिसे ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह नहीं वह भयानक से भयानक शायद मृत्यु के अवसर पर भी, जिस साहस और शान्ति से सामना कर सकता है, उतना न निरीश्वरवादी और न संशयात्मा। इन्फ्लूएंजा के समय की अपनी बीमारी और उसके लगभग तीस वर्ष के पश्चात् पिताजी की मृत्यु का जो दृश्य मैंने देखा उससे कम से कम मैं तो इसी निर्णय और निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। अत्यधिक शारीरिक कष्ट होते हुए तथा मृत्यु को सामने देखते हुए भी मैं शान्ति से पड़ा रहता, कोई हाय हत्या न करता। जब खाँसी का दौरा होता तब अवश्य उठकर बैठना पड़ता और दौरे के बाद शिथिल भी हो जाता, पर खाँसी के दौरे के सिवा तेज बुखार, सिर का दर्द और हड़फूटन कोई भी मेरी चुप्पी में बाधक न होते।

मैं बारह दिन बीमार रहा। तापमान १०४॥ डिग्री तक पहुँचा, दोनों फेफड़ों में भी निमोनिया का असर हुआ, पर खाँसी के दौरों के सिवा अन्य किसी समय भी मैं विचलित न हुआ। इलाज के सम्बन्ध में चिकित्सकों की हर बात का पालन करते हुए मैं भयानक से भयानक परिणाम के लिए तैयार था और ऐसे दारुण समय मुझे शान्त रख रहा था ईश्वर का अवलम्ब। मेरे इस प्रकार चुपचाप पड़े रहने पर मेरे कुटुम्बियों, मित्रों और चिकित्सकों को कम आश्चर्य नहीं हुआ।

आठवें दिन से मेरी बीमारी घूमी। बारहवें दिन मेरा बुखार उतर गया, पर कमजोरी कई महीने रही। उस समय पैन्सलीन न निकली थी जो अब निमोनिया की सर्वोत्तम औषधि मानी जाती है। एण्टी फ्लाजस्टीन के मोटे-मोटे पलस्तर छाती और पीठ पर चढ़ाये जाते थे और बीमारी के कष्ट को ये पलस्तर और अधिक बढ़ा देते थे।

इन्फ्लूएंजा के बाद की मेरी कमजोरी बिलकुल दूर न होने पायी थी कि सन् १९ के आरम्भ में मुझे एक और सख्त बीमारी हुई, यह थी २१ दिनवाला बड़ा मोतीझरा।

एलोपैथिक डाक्टर मोतीझरे को टाइफाइड कहते । वे मानते हैं कि यह भीषण ज्वर पेट की अँतड़ियों के कारण होता है। इसका एक जो सबसे बड़ा चिह्न गले से निकलकर कटि तक जानेवाले मोती के सदृश छोटे-छोटे श्वेत

दाने हैं उन्हें डाक्टर कोई महत्त्व नहीं देते। वैद्य भी इस ज्वर का कारण तो पेट की अँतड़ियाँ ही मानते हैं, परन्तु वे इन दानों को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं और उनकी दृष्टि सदा इन दानों पर रहती है। इन दानों के कारण ही वे इस बुखार को मोतीझरा कहते हैं और चाहते हैं कि ये दाने अच्छी तरह निकल आवें। मोतीझरे के जिस बीमार के ये दाने नहीं निकलते, या गले पर निकल कटि तक पहुँचे बिना लुप्त हो जाते हैं, उनका मोतीझरा बिगड़ गया, यह वैद्य मानते हैं। ऐसे बिगड़े हुए मोतीझरे में कई नयी व्याधियाँ पैदा हो सकती हैं और यदि मोतीझरे का मियाद के बाद बुखार उतर भी जाय तो बुखार उतरने पर भी बिगड़े हुए मोतीझरे के बाद अन्य शिकायतें हो सकती हैं, ऐसा वैद्यों का विश्वास रहता है।

कुछ समय पूर्व जब मोतीझरे की एलोपैथिक दवा न निकली थी तब वैद्य और डाक्टर दोनों ही इस बुखार को मियादी बुखार मानते थे और मियाद के पहले इसका उतरना अच्छा न समझते थे। उस समय इसकी कोई दवा भी न थी। वैद्य पूरा लंघन कराते और मोती के दाने पड़ा हुआ केवल गरम पानी रोगी को देते। डाक्टर ताकत रखने के लिए दूध पिलाते। वैद्यों का इलाज इस बीमारी में अच्छा माना जाता। अतः मेरा इलाज भी वैद्यक ही हुआ और मेरे इलाज के लिए जयपुर के राजवैद्य पं० श्यामलालजी महाराज बुलाये गये, जो उन दिनों हमारे कुटुम्ब के एक मुख्य वैद्य थे।

जैसा ऊपर कहा गया है मुझे बड़ा मोतीझरा था और मेरा बुखार इस मोतीझरे में भी १०४ के ऊपर गया। शरीर में अत्यधिक गरमी मालूम होने तथा सिर में दर्द के अतिरिक्त इस बुखार में न मुझे इन्फ्लूएंजा के सदृश शरीर में हड़फूटन थी और न खाँसी। मृत्युवाली भावना भी इस बार मेरे मन में न थी। यद्यपि मोतीझरा भी एक सख्त बीमारी मानी जाती है तथापि वह इन्फ्लूएंजा के सदृश कोई महामारी न थी जिसमें समूचे देश की ही मृत्यु संख्या इतनी बढ़ गयी थी। फिर इन्फ्लूएंजा से मैं हाल ही में मृत्यु के मुख से निकला था अतः इतनी भीषण बीमारी में मृत्यु के मुख से निकलने के पश्चात् फिर से इतने शीघ्र मैं उसकी जठराग्नि में पहुँच जाऊँगा इसका भी मुझे विश्वास न होता था। यदि मेरी आयु ही पूरी हो गयी थी तो मैं इन्फ्लूएंजा से ही न

बचता यह एक प्रकार का विश्वास मेरे मन में था। बीमारी में चुपचाप पड़े रहने का अभ्यास मुझे इन्फ्लूएंजा से हो गया था। उस समय जो खाँसी मेरी चुप्पी में बाधक होती वह भी इस समय मुझे नहीं थी अतः मैं इस बीमारी की पूरी अवधि भर एकदम चुपचाप पड़ा रहा। हाँ, एक बात इस बीच मेरे मन में कई दफा उठती। मेरे सदृश स्वस्थ आदमी बार-बार इस प्रकार बीमार क्यों हो रहा है? इन्फ्लूएंजा तो देश भर क्या संसार भर में फैला था अतः मैं अनेक प्रयत्न करने पर भी अपने को उससे न बचा सका, पर यह मोतीझरा? यदि यत्न करता, खाने-पीने में वैज्ञानिक हिदायतों का ध्यान रखता, तो शायद यह मुझे न होने पाता। मोतीझरे से बचत वाले टीके उस समय तक न निकले थे तथा खाने-पीने के सम्बन्ध में आजकल के सदृश वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी उस समय नहीं हुआ था। अभी भी बहुत कम लोग इस प्रकार के टीके लगवाते हैं तथा नहीं के बराबर लोग खाने-पीने में भी इन वैज्ञानिक हिदायतों का पालन करते हैं, पर मेरा विश्वास है कि यदि सब बातों पर ध्यान रखा जाय तो ये बीमारियाँ बहुत दूर तक बचायी जा सकती हैं। जो लोग इन टीकों अथवा अन्य वैज्ञानिक खोजों का मजाक उड़ाया करते हैं उनसे मेरा मतभेद है। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि विज्ञान की खोजें किसी विषय पर अन्तिम कथन नहीं मानी जा सकतीं तथापि विज्ञान ने आखिर खोजें तो की ही हैं और यदि हम इनका आश्रय न लेंगे तो क्या मूढ़वाद का लेंगे? यदि टीकों या इसी प्रकार की अन्य वैज्ञानिक हिदायतों से लाभ नहीं पहुँचता तो क्या झाड़ा-फूंकी और जन्तर-मन्तर से पहुँचता है? हमने कुम्भ आदि मेलों अथवा प्लेग, शीतला आदि महामारियों के अवसरों पर अनुभव किया है कि इन टीकों से कितना लाभ पहुँचा है। विज्ञान की अधूरी खोजों पर भी हमें मजाक न उड़ा उनसे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। हाँ, ईश्वर और निरीश्वरवाद आदि के सदृश तात्त्विक बातों में मेरा मत है कि विज्ञान की अपेक्षा दर्शन अथवा ऋषियों, मुनियों, योगियों, सन्तों और भक्तों आदि के अनुभव हमारा ठीक पथ-प्रदर्शन कराते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में विज्ञान जो कुछ कहता है वह कथन उसकी किसी खोज के आधार पर न होकर केवल तर्क के आधार पर होता है, जो तर्क दर्शन में भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। साथ ही ऐसे मामलों में जहाँ वैज्ञानिकों की केवल तर्क रहती है वहाँ ऋषि-

मुनियों, योगियों, सन्तों, भक्तों आदि के अनुभव रहते हैं। तर्क की अपेक्षा अनुभव का स्थान सदा ही ऊँचा रहना चाहिए।

मेरा मोतीझरा बिना किसी विघ्न बाधा के अपने २१ दिन का पूरा समय लेकर शान्त हो गया। बुखार खूब तेज रहा। दाने भी खूब निकले। वैद्यक इलाज के कारण पूरे लंघन कराये गये। इक्कीस दिन तक मोती के दानों वाले पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया गया। दवा में केवल मुक्ताभस्म दी गयी। बाइसवें दिन बुखार उतर गया। पर इस बीमारी में मेरे शरीर में केवल अस्थियाँ शेष रहीं।, इन्फ्लूएंजा के समय मुझे जितना कष्ट हुआ था उतना इस बीमारी में नहीं, पर इन्फ्लूएंजा के बाद मैं इतना कमजोर नहीं हुआ था। इसके दो कारण थे—उस समय मुझे दूध दिया जाता था और वह बुखार भी लगभग दस दिन ही चला था। मोतीझरे में मुझे पूर्ण लंघन कराये गये थे और यह बुखार भी उस बुखार से दूने समय तक चला था। फिर इन्फ्लूएंजा की कमजोरी रहते-रहते ही यह बीमारी आ गयी थी।

चूंकि मोतीझरा बिना किसी उपद्रव के शान्त हो गया था, इसलिए बुखार उतरने के बाद जल्दी-जल्दी मुझमें ताकत आने लगी।

जब मैं चलने-फिरने के लायक हो गया तब स्वास्थ्य लाभ के लिए पिताजी ने मुझे पचमढ़ी भेजा।

मध्य प्रदेश के हुशंगाबाद जिले में पचमढ़ी नामक यह स्थान है। गर्मी के दिनों में वहीं मध्य प्रदेश की सरकार की राजधानी उठकर चली जाती है। यह स्थान बड़ा स्वास्थ्यप्रद है।

यहाँ एक छोटे से टीले पर पत्थर की पाँच गुफाएँ हैं। इसी कारण इस स्थान का नाम पचमढ़ी है। कहते हैं ये गुफाएँ पाण्डवों की हैं। राज्य से निर्वासित होने पर उन्होंने यहीं बारह वर्ष तक निवास किया था। परन्तु पुरातत्व की दृष्टि से यथार्थ में इन गुफाओं का पाण्डवों से कोई सम्बन्ध नहीं; गुफाओं नावट से मालूम होता है कि वे बौद्धकालीन हैं।

"हाइलैन्डस आफ सेंट्रल इण्डिया" नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के रचयिता कप्तान जे० फरसियथ ने सन् १८६२ ईस्वी में, मध्य प्रदेश के चीफ कमिश्नर सर रिचर्ड टेंपिल के समय इस स्थान का पता लगाया था। उस समय इस स्थान

पर "कारको" नामक जमींदार का अधिकार था। मध्य प्रदेश के लिए आरोग्य-वर्धक स्थान के योग्य इसी स्थान को भारतीय सरकार ने पसन्द किया। तब, यहाँ जमीन की नाप-जोख आदि की गयी। उसमें लगभग पचास हजार रुपया व्यय हुआ। जमींदार ने इसे चौरासी हजार रुपया में बेचना स्वीकार किया था, पर कह नहीं सकते इसके लिए उसे क्या दिया गया।

सन् १८६९ में पचमढ़ी ग्रीष्म ऋतु के लिए मध्य प्रदेश की राजधानी बनायी गयी। इसके एक वर्ष के बाद सेना विभाग के लिए भी यही स्थान निश्चित किया गया। सतपुड़ा पर्वत-श्रेणी के महादेव नामक शिखरों के मध्य में, २३ मील समभूमि पर यह जगह आबाद है। इस समभूमि की उँचाई समुद्र-तल से ३,५०५ फुट है। इसके चारों ओर जो पहाड़ियाँ हैं वे और भी अधिक ऊँची हैं। इनमें सबसे ऊँची पहाड़ी को "धूपगढ़" कहते हैं। उसकी उँचाई ४,४५४ फुट है। यही सतपुड़ा श्रेणी का सबसे ऊँचा शिखर है।

पचमढ़ी की जनसंख्या लगभग छै हजार है। ग्रीष्म में बाहर से आनेवालों के कारण यह संख्या कुछ बढ़ जाती है।

पचमढ़ी में गरमी का औसत ९५ डिगरी तक रहता है। हुशंगाबाद से यहाँ गर्मी सिर्फ १० डिगरी कम है। कभी-कभी तो यह उष्णता १०५° तक पहुँच जाती है, परन्तु यहाँ विशेषता यह है कि ज्यादातर यहाँ लू नहीं चलती और दोपहर में ३-४ घण्टों को छोड़कर शेष समय ठंडा रहता है। रात्रि में और उषाकाल के समय तो यहाँ काफी ठंडा रहता है। जाड़े में यहाँ गरमी का औसत ३७ डिगरी तक रहता है, एक वर्ष ३० डिगरी तक भी पहुँच गया था, परन्तु बर्फ यहाँ कभी नहीं गिरता।

वर्षा प्रायः जून के दूसरे सप्ताह में आरम्भ हो जाती है और सितम्बर तक रहती है। वर्षा का औसत यहाँ ७५ इन्च है। किसी-किसी वर्ष १०० इंच तक पानी बरस जाता है। वर्षा ऋतु में कभी-कभी कई हफ्ते तक सूर्य भगवान के दर्शन नहीं होते।

पचमढ़ी में सफाई खूब है। यहाँ की सड़कें और बँगले बहुत स्वच्छ रहते हैं। मोटर आदि पर घूमने के लिए यहाँ दो चक्कर भी बने हैं—एक लांग अर्थात् लम्बा चक्कर और दूसरा शार्ट अर्थात् छोटा चक्कर। लम्बे चक्कर

का घेरा ७ मील और छोटे का ४ मील है। इन चक्करों की सड़कें बड़ी अच्छी हैं और दृश्य भी मनोहर है। पोलो, घुड़दौड़ के लिए भी यहाँ मैदान है। कचहरी के निकट ही सरकारी बगीचा है, जिसमें तरह-तरह के फल-फूल और तरकारियाँ होती हैं।

पचमढ़ी का पहाड़ी पत्थर रेतीला है। जंगल में विशेषकर साज, साल, हर्रा, बहेड़ा और आँवला के पेड़ हैं। जामुन, आम तथा चम्पे के पेड़ भी बहुत से पाये जाते हैं। जब पहाड़ों पर प्रातःकाल और सायंकाल सूर्य की सुनहरी किरणें पड़तीं हैं तब रेतीले पत्थर के कारण उनकी शोभा वृद्धि हो जाती है।

शिकार और चाँदमारी के कारण आस-पास जंगली पशु बहुत कम हैं। पक्षी यहाँ कई प्रकार के हैं। भृंगराज, चण्डूल आदि के मधुर शब्द प्रायः सभी पहाड़ियों पर सुनायी पड़ते हैं।

पचमढ़ी यद्यपि भारतवर्ष के अन्य पहाड़ी स्थानों के सदृश ठंडा नहीं है तथापि यहाँ के दृश्य बहुत सुन्दर हैं। "दानवा" नामक एक पहाड़ी नदी ने इनमें से कई दृश्यों को और भी सुन्दर बना दिया है। इस नदी के कई स्थानों पर कुण्ड बन गये हैं। पचमढ़ी में बहुत ठंड न होने के कारण गर्मियों में यहाँ आनेवाले लोग इन कुण्डों में खूब स्नान करते और तैरते हैं। तैरने का यह आकर्षण जैसा पचमढ़ी में है वैसा भारत के किसी हिल स्टेशन में नहीं। बड़े महादेव, छोटे महादेव, जटाशंकर आदि कुछ नामों को छोड़कर शेष स्थानों के नाम पहले अंग्रेजी नाम थे। पर स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् इन नामों का भारतीयकरण हो गया है। क्या ही अच्छा हो कि भारत के अन्य स्थानों, विशेषकर हमारी राजधानी नयी दिल्ली में हम इसका अनुसरण करें।

पचमढ़ी जाने के लिए पिपरिया नामक स्टेशन पर उतरना पड़ता है। स्टेशन से पचमढ़ी ३२ मील है। सड़क पक्की है और मोटर तथा बैलगाड़ियाँ मजे में आती-जाती हैं। पिपरिया से सात मील आगे जंगल आरम्भ होता है। १५ मील तक समतल भूमि है। इसके बाद सिंधानामा नामक स्थान से पचमढ़ी तक बराबर चढ़ाव है, किन्तु सड़कें इस प्रकार घुमावदार बनायी गयी हैं कि यह चढ़ाव सुगम हो गया है। चढ़ाव के कारण मोटर के आने में साधारणतः १॥ घण्टे लगते हैं, पर लौटते समय सवा घण्टे से अधिक नहीं लगता। बैलगाड़ी

२४ घण्टे में आती है, क्योंकि बीच में एक-दो जगह बैलों के विश्राम के लिए गाड़ी ठहरानी पड़ती है।

मैं लगभग दो महीने यहाँ रहा। कुछ स्वस्थ होने पर मैं पचमढ़ी के अनेक दर्शनीय स्थानों को जाता, कई जगह खूब नहाता और तैरता। कई जगह वन भोजन होते, जिसमें अधिकतर चूरमा बाटी की मेरी प्रिय रसोई बनायी जाती। बीमारी के बाद इस वन-विहार और विश्राम ने मुझे जल्दी स्वस्थ कर दिया। मन भी यहाँ मेरा बड़ा प्रफुल्लित रहा। यहाँ मैंने अपने 'वाणसुर पराभव' काव्य का बहुत सा अंश लिखा। पचमढ़ी के वे दिन मुझे जीवन में सदा स्मरण रहेंगे।

जब मैं पचमढ़ी से लौटा तब पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गया था।

हर्ष की बात है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने इस स्थान को त्याज्य नहीं माना और अब तो इसकी उन्नति की भी नयी-नयी योजनाएँ बनायी जा रही हैं। यहाँ बिजली भी हो गयी है और पानी के नल भी। ऐसे स्थानों की अवहेलना मैं उचित नहीं मानता, वरन् उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के प्रयत्न होने चाहिएँ।

जबलपुर का सार्वजनिक जीवन और मेरे सार्वजनिक जीवन की प्रगति

पिछले एक अध्याय में यह कहा जा चुका है कि जबलपुर के आधुनिक सार्वजनिक जीवन का संगठन साहित्यिक चेतना से आरम्भ हुआ और इस कार्य का केन्द्र बना शारदा भवन पुस्तकालय।

शनैः शनैः शारदा भवन पुस्तकालय केवल पुस्तकालय और वाचनालय ही न रह गया। पुस्तकालय, और वाचनालय तो निःशुल्क चल ही रहे थे। उसके प्रथम वार्षिकोत्सव के पश्चात् एक व्याख्यानमाला भी आरम्भ हो गयी थी, जिसका उल्लेख भी इसके पहले के अध्याय में हो चुका है। इन कार्यों के अतिरिक्त इस संस्था में दो नये कार्य और आरंभ किये गये—एक "श्री शारदा" मासिक पत्रिका का प्रकाशन और दूसरा "शारदा पुस्तकमाला" नामक एक पुस्तकमाला का प्रकाशन। "श्री शारदा" के संपादक हुए पं० नर्मदाप्रसादजी मिश्र और "शारदा पुस्तकमाला" का संपादन किया पं० कामताप्रसादजी गुरु ने। बहुत जल्दी "श्री शारदा" उस समय की हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में से एक हो गयी और "शारदा पुस्तकमाला" उस समय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकमालाओं में से एक पुस्तकमाला। आगे चलकर "श्री शारदा" का संपादन पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने किया और उन्होंने तो यह संपादन इतनी योग्यता से किया कि "श्री शारदा" उनके संपादन काल में हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका मानी जाती थी। मैं भी इस पत्रिका में लेख, कविताएँ आदि लिखा करता था।

यह काल एक प्रकार से देश की सर्वतोमुखी उन्नत भावनाओं के आरंभ का काल था, परन्तु यह हो रहा था मुख्यतः साहित्य-क्षेत्र द्वारा। किसी भी कृति के लिए सर्वप्रथम विचार की आवश्यकता होती है। विचारों की उत्पत्ति में सब से

अधिक प्रेरणा साहित्य से मिलती है। साहित्य के निर्माण का सबसे बड़ा साधन भाषा है। इस देश के आधे जनों की मातृभाषा हिन्दी थी और हिन्दी ही इस समय भारत की भावी उन्नति के लिए सर्वप्रधान साधन। अतः इस हिन्दी भाषा के वर्तमान रूप लेने तक उसका विकास किस तरह हुआ तथा किस प्रकार हुआ उसमें साहित्य-सृजन, इस विषय का कुछ संक्षिप्त विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या रहा होगा यह कहना या जानना बहुत ही कठिन है। आर्यों की प्राचीनतम प्राप्य आर्य पुस्तक "ऋग्वेद" की रचना एक ही समय अथवा एक ही स्थान पर नहीं हुई इसलिए उसकी भाषा के आधार पर भी कोई मत निर्धारित करना सम्भव नहीं। पर यह अवश्य कहा जाता है कि उस काल में भाषा का कोई रूप स्थिर न था और वह राष्ट्रीय न होकर प्रादेशिक थी अर्थात् उसमें एक समुदाय की भाषा जैसी एकरूपता न होकर भिन्न-भिन्न वर्गों और क्षेत्रों की भाषा जैसा बिखरापन था। पर धीरे-धीरे भाषा ने टकसाली रूप धारण किया और वह संस्कृत (अथवा शुद्ध) भाषा बन गयी। जो स्थान आजकल हिन्दी को मिला हुआ है और प्राकृत काल में जो महाराष्ट्री को प्राप्त हुआ था वही स्थान उस समय संस्कृत को प्राप्त था; पर बाद में जनता से दूर होकर संस्कृत फिर एक प्रादेशिक भाषा बन गयी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"पहले संस्कृत शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। 'संस्कृत वाक्' ठीक उसी भाषा को कहते थे जिसे उर्दूवाले 'शुस्ता जुबान' या अंग्रेजी दां 'रिफाइंड स्पीच' कहते हैं। प्रत्येक भाषा यदि वह व्यवहार क्षम, शिष्ट प्रयुक्त और व्यापक है तो समय पाकर संस्कृत बन जाती है। हमारी आज की हिन्दी यदि संस्कृत कही जाय तो अनुचित नहीं। पीछे जैसे 'उर्दू हिन्दी' से केवल 'उर्दू' रह गयी वैसी ही 'संस्कृत वाक्' से केवल संस्कृत शब्द ही उस विशिष्ट भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे। सुन्दर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी; एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिए पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बताये। इस प्रकार साहित्यकारों की कृति और वैयाकरणों

की व्याकृति ये संस्कृत परिष्कृत होकर बहुत दिनों तक अखंड राज्य करती रही। पर सब दिन बराबर नहीं जाते अतः संस्कृत सर्वगुणसम्पन्न थी सही पर धीरे-धीरे उसका चलन कम होने लगा। वह राष्ट्रीय से साम्प्रदायिक हो चली।"

संस्कृत का रूप अत्यन्त व्यवस्थित, स्थिर और अपरिवर्तनशील हो जाने के कारण उसमें जो जड़ता आयी उससे वह बंध्या होकर रह गयी, किन्तु जनता की सहचरी प्राकृत (स्वाभाविक अथवा अर्कमय) भाषा संतानवती होती चली गयी। संस्कृत एवं प्राकृत दो अलग-अलग भाषाएँ न थीं अन्तर केवल यही था कि प्राकृत बोलचाल की भाषा थी, जो पीछे परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी थी।

पहली प्राकृत या पाली बोलचाल की भाषा थी, जिसने कालान्तर में साहित्यिक प्राकृत का रूप धारण किया, जिससे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्ध मागधी चार मुख्य भाषाएँ निकलीं। महाराष्ट्री, इनमें प्रमुख मानी गयी है। साहित्यिक प्राकृत को एक ओर छोड़ बोलचाल की भाषा 'अपभ्रंश' वेगवती होकर निरन्तर प्रवाहित होने लगी जिसने आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं को जन्म दिया।

भाषा के इतिहास का कुछ विवेचन यहाँ इसलिए दिया गया है कि वर्तमान समय में भाषा विषयक जो समस्या पैदा हो गयी है उसे भली भाँति समझने और उसके विषय में उचित दृष्टिकोण अपनाने में सहायता मिल सके। याद रखिए जब बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा में विशेष अन्तर होने लगता है तब उनकी दिशाएँ अलग हो जाती हैं जिन पर चलती हुई अन्त में वे ऐसी स्थिति पर पहुँच जाती हैं जहाँ एक दूसरे में बहुत कम साम्य रह जाता है। आज हिन्दी जगत के सामने भी संकट उपस्थित है। शास्त्रीय पक्ष और प्रजा पक्ष के बीच कशमकश चल रही है। शास्त्रीय पक्ष भाषा के दावेदारों का पक्ष है जो भाषा को सुव्यवस्थित, सुस्थित और परिमार्जित बनाने का इच्छुक है, किन्तु जिसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अन्त में भाषा की गति में अवरोध उत्पन्न होने की आशंका है। दूसरा पक्ष प्रजा पक्ष है, भाषा का सही प्रयोग न कर सकनेवाले अगणित अपढ़ जन-समूह का पक्ष, जिसकी उपेक्षा का अर्थ होगा उनकी भाषा से दूर होना, जनवाणी का निरादर करना और हिन्दी के

रक्त-संचार को रोक देना। शास्त्रीय ढंग से आज जो शब्द-रचना हो रही है उसकी तुलना हम यंत्र निर्मित रबड़-प्लास्टिक आदि के उन मानवीय अवयवों से कर सकते हैं जो मानुषी अवयवों के स्थान पर लगाये तो जा सकते हैं पर उनके स्थान की पूर्ति कदापि नहीं कर सकते।

मानव-शरीर की भाँति भाषा के अवयवों को सजीव रखने के लिए भी मुक्त रुधिर संचार उतना ही आवश्यक है। जिस तरह आहार के अभाव में विटामिन गोलियों पर आश्रित रह कर मानव शरीर का अस्तित्व अधिक काल तक नहीं रह सकता उसी तरह विद्वानों एवं नेताओं के गढ़े हुए शब्दों के बल पर भाषा स्वस्थ अथवा टिकाऊ नहीं हो सकती।

मुझे इस विषय में पूरी शंका है और मैं उसे छिपाना भी नहीं चाहता कि आज देश में अनेक विशेष समितियाँ जिस शब्द भंडार को हिन्दी के हलक के नीचे उतारना चाहती हैं, उसे क्या हिन्दी पचा सकेगी? सीमित मात्रा में पोषक भोजन लेने से शरीर पुष्ट होता है किन्तु असंयम रोगादि का कारण बन कर अन्त में स्वास्थ्य को नष्ट भी कर डालता है। भाषा की पाचन शक्ति भी सीमित होती है। जबरदस्ती का परिणाम वही होगा जो संस्कृत के साथ हुआ। जनता के लिए अग्राह्य होने पर भाषा मृत-भाषा का रूप धारण कर लेती है।

इस विषय को अब यहीं छोड़ मैं इस विषय पर आता हूँ कि हिन्दी साहित्य के जिस रूप को मैंने उस समय देखा वह कैसा था और किस तरह उत्तरोत्तर विकास के पश्चात् हिन्दी उस अवस्था को पहुँची थी।

हिन्दी का आदिकाल लगभग वि० संवत् १०५० के आस-पास माना जाता है। हिन्दी के जन्म का समय भारत में राजनीतिक उथल-पुथल और उलट-फेर का समय था। उसके स्पष्ट रूप लेने के पहले से ही मुसलमानों के भारत पर आक्रमण आरम्भ हो गये थे और भारत—छिन्न-भिन्न एवं विभक्त भारत येन केन प्रकारेण आत्म-रक्षा के लिए लड़ता रहा था, अतएव इस बीच साहित्य एवं कला की वृद्धि का कोई सुगठित प्रयत्न नहीं हुआ। हाँ, युग धर्म के अनुसार वीर काव्य की रचना हुई। चारणों की भाषा "डिंगल" और विद्वान् कवियों की भाषा "पिंगल" कहलाती थी। इस प्रकार की भाषा का युग सं० १३७५ तक चला। इसके बाद हिन्दी के विकास का मध्य युग चला जिसके दो मुख्य खंड

हैं संवत् १३७५ से १७०० तक और दूसरा संवत् १७०० से १९०० तक।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"प्रथम भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियाँ बदल कर ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं, और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है, तथा अन्त में अवधी और ब्रजभाषा का मिश्रण-सा हो जाता है और काव्य भाषा का एक सामान्य-सा रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आयी जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँच कर पुनः डाँवाडोल हो गयी। हिन्दी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १९०० में आरम्भ होती है। उसी समय से हिन्दी गद्य का विकास नियमित रूप से आरम्भ हुआ और खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी गद्य और पद्य दोनों में होने लगा।"

हिन्दी का यह काल आधुनिक काल कहलाता है। इसमें खड़ी बोली का न केवल प्रादुर्भाव हुआ बल्कि प्रभुत्व भी छा गया। इस भाषा के विषय में ग्रियर्सन साहब ने अपनी "भाषा विषयक पड़ताल" (Linguistic Survey of India) पुस्तक में लिखा है—

"यह हिन्दी (यानी संस्कृत बहुल हिन्दुस्तानी अथवा कम से कम वह हिन्दुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी लोग 'उच्च हिन्दी' कहते हैं उन हिन्दुओं के गद्य साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अंग्रेजी प्रभाव के कारण होने लगा है।"

ग्रियर्सन साहब के कथन की अनेक बातों से सहमत होने पर भी मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि उस युग में एक नयी भाषा को साहित्य-सृजन का माध्यम बनाया गया जिसे लल्लूलाल, सदल मिश्र, मुंशी सदासुख, सैयद इंशाअल्लाखाँ आदि ने समृद्ध किया।

हिन्दी का इतिहास तीन काल में बटा है—पूर्वकाल, मध्यकाल और उत्तर-काल अथवा आधुनिक काल। आधुनिक काल में साहित्य की भाषा में ब्रजभाषा और अवधी का प्रचार घटता गया तथा खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया और अब तो यही गद्य व पद्य की भाषा बन गयी है एवं इसे ही समूचे भारत की राजभाषा बनने का भी गौरव प्राप्त हुआ है।

जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसको जन्म दिया भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ने। उन्होंने "कालचक्र" नामक अपनी पुस्तक में नोट किया है "हिन्दी नयी चाल में ढली सन् १८७३ ईसवी में।" भारतेन्दु का जन्म सन् १८५० में हुआ और वे केवल ३३ वर्ष जीवित रहे, किन्तु इतने अल्पकाल मे जितनी साहित्य-सेवा उन्होंने की उसकी कदाचित् ही हिन्दी साहित्य में किसी और से तुलना की जा सके। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"नयी चाल का तात्पर्य यह है कि इस समय उन्होंने जिस भाषा की नींव डाली, उसमें किसी प्रकार का बंधन नहीं था और न किसी प्रकार से कृत्रिम रूप से वह गढ़ी गयी थी। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा में अपने लेख और ग्रंथ लिखे वह बहुत स्वाभाविक और भाव-प्रकाशन में सूक्ष्म भाषा थी।"

हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में साहित्यिकों का एक मंडल जुड़ गया था। उपाध्याय पंडित, बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी आदि उन्हीं की देन हैं। उन्होंने साहित्य तथा जीवन के बीच पुनः सामंजस्य उत्पन्न किया एवं साहित्य को अनेक नयी दिशाएँ दीं। अपने अल्प जीवन में उन्होंने जो ज्योति जगायी वह आज भी आलोकमय होकर विद्यमान है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हिन्दी प्रचार आन्दोलन और भी अधिक संगठित हो गया। सन् १८९३ में काशी में बाबू श्यामसुन्दरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार मिश्र ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। आगे चलकर इस संस्था ने बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और आज भी यह हिन्दी सेवा-कार्य में संलग्न है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी नागरी प्रचारिणी सभा ने ही जन्म दिया है। इस सभा का मूल उद्देश्य हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रचार ही करना था और है। उन्नीसवीं शताब्दी में इस सभा के प्रतिनिधित्व करने पर ही कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिल सका। उस समय इसको भी हिन्दी की बहुत बड़ी विजय माना गया था।

इसका एक अच्छा परिणाम यह निकला कि हिन्दी प्रचारकों का हौसला बढ़ा; सर्वत्र "निज भाषा" की उन्नति के लिए काम होने लगा।

इस आन्दोलन के साथ-साथ उर्दू के साथ संघर्ष छिड़ गया। हिन्दी के साथ भारी अन्याय और अत्याचार हुआ था। अंग्रेजों ने हिन्दी को हटाकर न सिर्फ हम पर अंग्रेजी भाषा थोपी थी वरन् हिन्दी के मुकाबले उर्दू को शह दी थी। उर्दू को अदालतों में स्थान दिया गया था। इसलिए जबरदस्ती लोगों को उर्दू पढ़नी पड़ती थी या फिर अदालती काम-काज के लिए उर्दू-दाँ लोगों का आसरा देखना पड़ता था। उर्दू वैसे देशी भाषा थी, उसके साथ हिन्दी का कोई वैर न था या यों कहें कि वह हिन्दी की सगी बहन थी पर उत्तरोत्तर वह फारसी तथा अरबी साहित्य की ओर उन्मुख हो चली थी। इसके अतिरिक्त उसमें देश के परम्परागत साहित्य का संचय न था। काफी परिश्रम के बाद, जिसका श्रेय नागरी प्रचारिणी सभा को और पंडित मदनमोहन मालवीय को था, हिन्दी को थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिला। इस सब में राष्ट्रीयता की उस भावना का भी कम हाथ न था जिसके कारण जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में गुलामी की जंजीरें तोड़ने की इच्छा बलवती हो चली थी वहाँ सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय गौरव के पुनरुद्धार की उमंग दिखायी देती थी। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही काव्यों, नाटकों और उपन्यास-कहानियों का विषय पुराना भारतीय गौरव होने लगा। इसका सूत्रपात हरिश्चन्द्र-काल में ही हो गया था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इन सब विषयों का मंथन होता रहा। इनका पूर्ण परिपाक बीसवीं शताब्दी में ही हुआ।"

उन्नीसवीं शताब्दी का अंत काल और बीसवीं शताब्दी का आरंभ काल एक तो आधुनिक हिन्दी का निर्माण-काल था, दूसरे उस समय के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक एक प्रकार से सारे मानसिक उद्वेलन ने भाषा को अव्यवस्थित कर रखा था। कुछ लोग उर्दू के कठिन फारसी-अरबी शब्दों के पक्षपाती थे तो कुछ संस्कृत बहुल भाषा के प्रेमी थे। शैली, शब्द भंडार एवं व्याकरण सभी को परिमार्जित करने की आवश्यकता थी। जहाँ एक ओर अंकित अरबी-फ़ारसी शब्दों की छानबीन आवश्यक थी वहाँ दूसरी ओर संस्कृत पदावली की अनुचित ठूँस-ठाँस भी अवांछनीय थी, लेकिन शब्दाडंबर

और अलंकरण से मुक्त शैली ही जनता की आवश्यकताएं पूरी कर सकती थी, स्वयं लोकप्रिय बन सकती थी। यह कार्य पूरा किया पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने। उन्होंने कठोरता से घिस-माँजकर अपने व्यक्तित्व और आत्म-विश्वास के बल पर नयी शैली को जन्म दिया। अपने अथक परिश्रम से उन्होंने भाषा की अभिव्यंजना शक्ति तथा अभिव्यक्ति को बढ़ाया एवं उसमें स्वच्छंदता ला दी। "सरस्वती" का प्रकाशन १९०३ ईसवी में आरंभ हुआ। हिन्दी को "सरस्वती" सचमुच सरस्वती सिद्ध हुई। इस पत्रिका के द्वारा द्विवेदीजी ने हिन्दी की निस्वार्थ भाव से अनवरत सेवा की। "सरस्वती" आज भी निकल रही है, पर आज की "सरस्वती" वह "सरस्वती" नहीं जो उनके दिनों में थी। उन्होंने नये ढंग से लिखने के हेतु अनेक नवयुवकों को साहित्य रचना के लिए प्रेरित किया। माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यशरण रतूड़ी, रामचरित उपाध्याय आदि ने उनके वरद् हस्त से आशीर्वाद पाया। वे कवि न थे। जो कुछ उन्होंने लिखा गद्य के क्षेत्र में लिखा था, उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसी क्षेत्र में हुई किन्तु वे सच्चे कला-मर्मज्ञ थे और कवियों को भी अपनी तीक्ष्ण एवं विलक्षण बुद्धि से लाभान्वित करते थे।

संक्षेप में, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा का रूप निर्माण किया। उनके नाम पर उस युग का नाम द्विवेदी-युग रखकर उनका उचित ही सम्मान किया गया है।

द्विवेदी-युग "प्रसाद-गुण-सम्पन्न" युग था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम-कालीन लेखकों की कृतियों में जो असंतोष पाया जाता है वह द्विवेदी-युग में मिट-सा गया। इसके अतिरिक्त एक नया प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ रहा था अंग्रेजी साहित्य का। यद्यपि अंग्रेजी भाषा के भारत पर लादे जाने से देशी भाषाओं का सहज विकास रुक गया था फिर भी अंग्रेजी साहित्य के वैचित्र्य और विविधता का भारतीय भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। भारतेन्दु-युग की उदीयमान राष्ट्रीयता अनेक रचनात्मक दिशाओं में फूट पड़ी थी। लोगों में "स्वस्थ-प्रतिस्पर्धा" की भावना प्रबल हो उठी थी। क्यों न हम हिन्दी में भी अंग्रेजी जैसे प्रचुर एवं पुष्ट साहित्य की रचना करें? क्यों न हम अपने

गद्य-पद्य को उसी प्रकार सजावें तथा सँवारें ? पद्य साहित्य की तो प्राचीन परम्परा थी, किन्तु गद्य साहित्य का केवल सूत्रपात हुआ था। परिमार्जन की बड़ी आवश्यकता थी। भाषा का रूप एक तरह से भारतेन्दुजी निश्चित कर चुके थे—खड़ी बोली को भविष्य की भाषा मान लिया गया था, परन्तु उसकी फुलवारी वीरान ही थी या उसमें अगर कहीं कुछ पैदावार थी तो वह व्यवस्थित न थी। उस फुलवारी को सजाने, उसमें क्यारियाँ बनाने, नयी-नयी पौदें लगाने, कलम काटने और क्यारियाँ छाँटने आदि का सारा काम होना था। श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसी कार्य का सम्पादन आरम्भ किया और उसका बड़ी कुशलता से निर्वाह किया।

बंगाल की सीमा से लेकर सिंध की तथा सरहदी सूबे की सीमा तक और हिमालय से लेकर बरार तक हिन्दी भाषा बोली एवं लिखी तो जाती थी, पर उसमें रूप साम्य न था। जगह-जगह की बोलियाँ, प्रादेशिक कहावतें और मुहावरे खूब चलते थे, जिससे एक प्रदेश की भाषा दूसरे प्रदेश के लिए सुगम न रह जाती थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी में शब्दों तथा मुहावरों आदि का भी अभाव था जिसकी पूर्ति का कार्य आरम्भ तो हुआ पर इतने अव्यवस्थित ढंग से कि बड़े हास्यास्पद उदाहरण देखने में आते हैं। व्याकरण आदि की तो कोई चिन्ता ही न करता था।

इस सब अव्यवस्था से हिन्दी को मुक्त कराने और उसे व्यवस्थित परिमार्जित रूप देने का भी श्रेय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही है।

कहना न होगा कि द्विवेदी-युग अंग्रेजी का बहुत हद तक ऋणी है किन्तु द्विवेदीजी ने बंगला और मराठी के विकसित साहित्यों से भी बहुत कुछ लिया और इन सब सूत्रों से जो कुछ प्राप्त किया, उसका इस प्रकार समन्वय भी कर डाला कि उसमें बनावटीपन या पैबंदीपन न आने पाये।

द्विवेदी-युग में अनुवाद कार्य खूब हुआ जिसमें रामगोपाल गहमरी, ईश्वरीप्रसाद, रूपनारायण पाण्डे आदि ने योग दिया, किन्तु स्वतन्त्र रचना-कार्य भी कम नहीं हुआ। निबन्ध लेखकों में मुख्य थे पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित महादेवप्रसाद मिश्र, बाबू श्यामसुन्दरदास, बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र आदि। आलोचकों में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

के अतिरिक्त पंडित रामचन्द्र शुक्ल और पंडित पद्मसिंह शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। कवियों का युग तो वह नहीं था किन्तु राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, सत्यनारायण कविरत्न के नाम विख्यात हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त तो उस युग के भी उतने ही हैं जितने वह द्विवेदी-युग के बाद के हैं।

संक्षेप में द्विवेदी-युग का साहित्य उस समय का साहित्य है जब १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध की भावनाएँ बुझ चुकी थीं और १९२१ के असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न जागृति का सूत्रपात नहीं हुआ था। इस युग का साहित्य प्रतिभा की कसौटी पर तो उतना सच्चा कदाचित् न उतरे पर इस युग में भाषा के परिमार्जन का जो कार्य हुआ वह भाषा के लिए अत्यंत स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हुआ। जिस भाषा के रूप में स्थिरता आयी थी उसमें सृजन-शक्ति के बीज बो दिये गये थे और उन्हीं बीजों से अब पौधे निकलना प्रारम्भ हुआ था जो आगे चलकर पल्लवित, पुष्पित और फलित हुए।

इसी बीच सन् १९११ में मैं कुछ समय के लिए जयपुर गया और वहाँ कुछ मित्रों की सलाह से राष्ट्रव्यापी हिन्दी की उन्नति के लिए "हिन्दी मन्दिर' नामक संस्था की स्थापना का मैंने विचार किया। मेरे जबलपुर लौटने पर इस सम्बन्ध में जयपुर और जबलपुर के कुछ लोगों के हस्ताक्षर से एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जो परिशिष्ट २ में दिया गया है।

हिन्दी साहित्य सेवियों से इस बीच मेरे कुछ लिखते पढ़ने के कारण मेरा कुछ सम्पर्क हो चला था। हिन्दी मन्दिर की इस योजना से वह और बढ़ा। हिन्दी के क्षेत्र में उस समय के दिग्गज हिन्दी-सेवियों ने मेरा जितने उत्साह के साथ स्वागत किया था वह पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त, पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी, पं० श्रीधरजी पाठक, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के कुछ पत्रों से ज्ञात होगा जो परिशिष्ट १ में दिये गये हैं।

इस प्रकार देश में जब हिन्दी आगे बढ़ रही थी, जबलपुर में शारदा भवन संस्था भी इस काम में हाथ बटा रही थी और मैं देश के दिग्गज हिन्दी-प्रेमियों का कृपापात्र हो हिन्दी मन्दिर स्थापित करने की योजना बना रहा था तब

पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल ने प्रयत्न कर जबलपुर से "कर्मवीर" नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया।

"कर्मवीर" प्रकाशन के लिए एक कम्पनी का निर्माण किया गया, जिसके प्रधान हिस्सेदार थे पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल, मेरे ताऊ दीवान बहादुर वल्लभदासजी, ब्यौहार रघुवीरसिंहजी और गोविन्दलालजी पुरोहित। इस संस्था के संगठन के लिए पं० माधवरावजी सप्रे को बुलाकर जबलपुर रखा गया। "कर्मवीर" के सम्पादन के लिए पं० माखनलालजी चतुर्वेदी को बुलाया गया और उनकी मातहती में दो उप-सम्पादक नियुक्त किये गये—श्री लक्ष्मणसिंहजी चौहान एवं श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर। ये तीनों भी बाहर से ही बुलाये गये।

जबलपुर के स्थानीय सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की मेरे प्रति सदा ही सद्भावना रही थी। यहाँ के राजनीतिक क्षेत्र के उस समय के अग्रगण्य व्यक्ति पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल और साहित्यिक क्षेत्र के उस समय के अगुआ पं० विनायकरावजी का मुझ पर जो स्नेह था उसका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है। यद्यपि "कर्मवीर" की स्थापना पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल ने ही की थी और इसके संगठन का भार जिन पं० माधवरावजी सप्रे पर था, उनका भी मुझ पर अत्यधिक प्रेम था, फिर भी "कर्मवीर" ने जन्म लेते ही मुझ पर छींटाकशी शुरू की। इसके मुख्य कारण थे पं० माखनलालजी चतुर्वेदी और ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी चौहान। आगे चलकर यद्यपि चतुर्वेदीजी और चौहानजी से मेरा अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध हो गया, तथापि आरम्भ में मुझ पर इनकी महान् अकृपा रही। इसका कारण कदाचित यह था कि सार्वजनिक जीवन में जिस ईमानदारी, निष्ठा और त्याग की आवश्यकता होती है वह मुझ में नहीं और मैं केवल वाहवाही के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में आना चाहता हूँ यह इनका विश्वास था। इन लोगों की मेरे प्रति यह छींटाकशी शुरू हुई मेरे पुत्र के जन्मोत्सव से और इसका उग्र रूप हुआ उस समय जब मैं प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

सन् १९१९ में मेरे प्रथम पुत्र मनमोहनदास का जन्म हुआ। मेरे जन्मोत्सव में जिस प्रकार मेरे पितामह ने जलसे किये थे उसी प्रकार मेरे पुत्र के जन्म

के अवसर पर मेरे पिताजी ने। दावतें हुई, महफिलें हुईं, सभी कुछ हुआ। मेरे जन्म के समय में और इस समय में अन्तर हो गया था। इस समय सभी दिशाओं में सुधार आरम्भ हो गये थे और वेश्या-नृत्य आदि के विरुद्ध आवाज भी उठने लगी थी, परन्तु यह आवाज अभी काफी बुलन्द नहीं हुई थी। मेरे पुत्र के जन्मोत्सव की ये महफिलें मुझे भी पसन्द न आयी थीं पर मैं अभी भी उस स्थिति में न था कि पिताजी के कार्यों का विरोध कर सकूँ। मैं यह मानता हूँ कि वह समय वेश्या-नृत्य आदि के अनुकूल न था और मेरे पुत्र के जन्मोत्सव में यह सब होना आलोचना का स्वाभाविक विषय था, पर "कर्मवीर" ने जो आलोचना की उसमें सुधार की भावना कम और मुझ पर छींटाकशी की भावना अधिक थी।

मेरे प्रति "कर्मवीर" की यह अकृपा इसके बाद ही और स्पष्ट हो गयी जब मैं इसके थोड़े काल पश्चात् प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का यह अधिवेशन सागर में हुआ। सागर में यह अधिवेशन हो रहा था मध्य प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् के साथ। राजनीतिक परिषद् के सभापति चुने गये थे नागपुर के डाक्टर मुंजे और सम्मेलन का मैं। मेरे चुनाव में पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल और पं० माधवरावजी सप्रे का विशेष हाथ था। दोनों ही मुझे सार्वजनिक जीवन में पूर्ण रूप से खींचकर ले आना चाहते थे। मेरे चुनाव का चतुर्वेदीजी ने "कर्मवीर" में घोर विरोध आरम्भ किया। जब उनके विरोध के बावजूद भी मैं चुना गया तब उन्होंने सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर सम्मेलन के मंच पर मेरे विरोध की ठानी। शुक्लजी और सप्रेजी "कर्मवीर" के सर्वेसर्वा होते हुए भी चतुर्वेदीजी को रोक न सके। चतुर्वेदी में एक प्रकार की तेजस्विता थी और सम्पादक अपने कार्य में कितना स्वतन्त्र रह सकता है इसका उस समय चतुर्वेदीजी ने एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया। एक ओर थे "कर्मवीर" के सर्वेसर्वा शुक्लजी और सप्रेजी मेरे बड़े से बड़े समर्थक और दूसरी ओर थे "कर्मवीर" के सम्पादक मेरे घोर से घोर विरोधी। उस समम चतुर्वेदीजी का यह विरोध मेरे मन में क्रोध उत्पन्न कर रहा था, इसमें सन्देह नहीं, पर आज जब मैं उस समय का स्मरण

करता हूँ तब चतुर्वेदीजी के लिए मेरे मन में उलटे आदर की भावनाएँ जागृत हो जाती हैं। चतुर्वेदीजी ने "कर्मवीर" के मालिकों की, उनको सम्पादक के स्थान से हटाया जा सकता है, इन सब बातों की तनिक भी परवाह न कर जिस बात को वे उचित समझते थे उसे किया। परन्तु अन्त में सम्मेलन के मंच पर चतुर्वेदीजी मेरा विरोध न कर सके। बाद में मैंने सुना कि सप्रेजी ने जब उन्हें यह समझाया कि मंच पर मेरे विरोध से सूरत कांग्रेस की-सी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है, जो प्रान्त के उस आरम्भिक सार्वजनिक जीवन में किसी प्रकार भी वांछनीय नहीं, तब प्रान्त और जबलपुर के सार्वजनिक जीवन के हित की दृष्टि से चतुर्वेदीजी ने सम्मेलन के मंच पर से मेरे विरोध करने का विचार छोड़ दिया।

सागर की इस राजनीतिक परिषद् और साहित्य सम्मेलन में मेरा परिचय सारे प्रान्त के राजनीतिक और साहित्यिक व्यक्तियों से हो गया। यद्यपि महाकोशल प्रान्त उस समय पृथक् न हुआ था, परन्तु सागर नागपुर और बरार से दूर होने के कारण सागर में इकट्ठे होने वाले लोगों में प्रधानतया महाकोशल के लोग ही थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है सागर में जिन लोगों से मेरा परिचय हुआ उनमें मुख्य थे—सागर के दो प्रधान वकील श्री रामकृष्ण राव श्रीखण्डे और श्री भगवानदास, जिनमें प्रथम सम्मेलन और दूसरे राजनीतिक परिषद् के स्वागताध्यक्ष थे, सागर के ही श्री केशव रामचन्द्र खाण्डेकर, श्री वासुदेवराव सूबेदार, श्री केदारनाथ रोहण, दमोह के श्री गोकुलचन्द सिंघई, श्री दामोदर राव श्रीखण्डे, श्री लक्ष्मीशंकर ढगट, श्री झुन्नीलाल वर्मा, सिवनी के श्री जटार, मण्डला के श्री उमेशदत्त पाठक, होशंगाबाद के श्री जगन्नाथप्रसाद, श्री सीताशरण दुबे, नरसिंहपुर के श्री दौलतसिंह चौधरी, श्री माणिकलाल कोचर, खण्डवा के श्री कालूराम गंगराड़े, छिंदवाडा के श्री सालपेकर, बालाघाट के श्री नारायणराव केलकर, दुर्ग के श्री घनश्यामसिंह गुप्त, बिलासपुर के श्री कुंजबिहारी लाल अग्निहोत्री, श्री राघवेन्द्र राव, डाक्टर शिवदुलारे, ठाकुर छेदीलाल और रायपुर के श्री रविशंकर शुक्ल तथा वामनराव लाखे। इनमें से रविशंकरजी का हमारे कुटुम्ब से बहुत पुराना सम्बन्ध था। इनके चचा श्री गजाधर शुक्ल मेरे पितामह के समय हमारे यहाँ के बड़े विश्वसनीय कर्मचारी थे। राजा

गोकुलदास मिल्स के वे मैनेजर रह चुके थे। रविशंकरजी भी जबलपुर बहुत समय तक रहे थे। मेरे जन्म के समय के जलसों आदि में भी सम्मिलित हुए थे और उन्हें मेरे सार्वजनिक जीवन में आने से सबसे अधिक हर्ष था।

सागर की प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् और प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन दोनों ही उस समय को देखते हुए बहुत सफल हुए। मेरे सम्मेलन के आरम्भिक छपे हुए तथा अन्तिम मौखिक भाषण का अच्छा असर पड़ा। चतुर्वेदीजी और उनके सदृश विचार रखनेवाले व्यक्तियों की भी मुझ से सम्बन्ध रखनेवाली विचारधारा में कुछ परिवर्तन हुआ। यद्यपि भाषण शक्ति का सार्वजनिक जीवन में सदा ही स्थान रहा है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा, पर लाउड स्पीकर ईजाद होने के पहले उसका बहुत अधिक महत्व था। मुझे निसर्ग ने ही ऊँची आवाज दी है।

उन दिनों मैंने पढ़ा था कि भाषण में तीन प्रधान बातें होनी चाहिएँ—उसकी ताकत, उसका ज्ञान और उसकी प्रभावशाली शैली। मैंने अपने भाषणों को इन बातों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न आरम्भ से ही शुरू कर दिया था। पर इस सब के बावजूद भी शनैः शनैः मुझे इमरसन के और डैनियल वेब्सटर के निम्नलिखित कथनों की सत्यता भी सिद्ध होती गयी—इमरसन ने एक स्थान पर लिखा है—"पृष्ठभूमि में सच्चे मानव के रहे बिना किसी भाषण की प्रभावोत्पादकता सम्भव नहीं।" और वेब्सटर ने लिखा है—"व्याख्यान का सच्चा प्रभाव भाषण में नहीं रहता वह वक्ता में रहता है, विषय में रहता है और जिस अवसर पर वह व्याख्यान दिया जाता है उस अवसर में रहता है।" सागर में मैं एक अच्छा वक्ता सिद्ध हुआ और मेरे विरुद्ध भावना रखने वालों ने भी यह समझा कि मैं शायद वैसा निकम्मा नहीं जैसा वे समझते थे।

इसके बाद ही पटना में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति चुने गये थे पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल। शुक्लजी के इस चुनाव का भी बड़ा विरोध हुआ था। वे हमारे प्रान्त के प्रथम राजनैतिक नेता अवश्य थे, परन्तु कुछ लोगों का मत था कि उनकी ऐसी साहित्यिक सेवाएँ न थीं कि वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हों। कलकत्ते के श्री पुरुषोत्तमराय आदि कुछ लोग तो पटना में सम्मेलन के मंच से उनके

चुनाव का विरोध करने वाले थे, परन्तु यह विरोध भी किसी तरह टल गया। मैं शुक्लजी के साथ पटना गया। सम्मेलन के पटना के इस अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष थे श्री विजयानन्दजी त्रिपाठी और मंत्री डाक्टर राजेन्द्र-प्रसादजी। राजेन्द्र बाबू से मेरा प्रथम परिचय इसी अवसर पर हुआ और उस समय तो मेरा उन पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि उसके बाद मेरा और उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ उसमें वे मुझे "श्रद्धेय सेठजी" लिखते रहे। जब मैं अब कभी अपना पुराना पत्र-व्यवहार देखता हूँ और राजेन्द्र बाबू के वे पत्र पढ़ता तब वे बड़े होने पर भी उस समय मुझे जिस प्रकार सम्बोधित करते थे यह देखकर मुझे ही आश्चर्य होता है। सम्मेलन के इस अधिवेशन में मेरी हिन्दी मन्दिर की योजना कार्य रूप में परिणत हो गयी। सम्मेलन ने इस विषय में जो प्रस्ताव पास किया वह इस प्रकार था—

"इस सम्मेलन की सम्मति में इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के लिए देश में कम से कम एक ऐसी संस्था स्थापित की जाय जहाँ लेखकगण आजीवन साहित्य सेवा के लिए रखे जावें, जिनके द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ निर्माण कराये जावें।"

हिन्दी मन्दिर की जगह इस संस्था का नाम राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर रखा गया और इस राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर के लिए मैंने पटना के इस सम्मेलन में पच्चीस हजार रुपये के दान की घोषणा की।

सम्मेलन के इसी अधिवेशन में मेरा परिचय राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, श्री रामचन्द्रजी शुक्ल, श्री रामदास गौड़, श्री जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी, श्री रामचन्द्र वर्मा, श्री बालमुकुन्द वर्मा, श्री हरि-हर शर्मा तथा श्री काशीप्रसादजी जायसवाल आदि उस समय के अनेक साहित्यिकों से हुआ।

जबलपुर लौटकर राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर के लिए मैंने अपने दाऊजी से पच्चीस हजार रुपया और लिया और पचास हजार रुपये तथा शारदा भवन पुस्तकालय की सारी सम्पत्ति का एक ट्रस्ट डीड लिख इस संस्था को अखिल

भारतीय रूप दे दस लाख रुपये इकट्ठा करने की एक योजना बनायी। इस संस्था को उस समय जबलपुर और आस-पास के सभी क्षेत्रों के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का सहयोग और सहानुभूति प्राप्त हुई। आगे चलकर जो राजनीतिक हलचल चली और उसमें मेरा जो भाग हो गया उसके कारण चाहे यह संस्था न पनप पायी हो और इसी के साथ चाहे शारदा भवन भी समाप्त हो गया हो, परन्तु इस बात में सन्देह नहीं हो सकता कि हिन्दी के विकास और हिन्दी के लेखकों के लिए राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर जैसी संस्था की केवल उसी समय आवश्यकता थी यह नहीं, आज भी उतनी ही आवश्यकता है। शारदा भवन पुस्तकालय और उसके अन्तर्गत कई संस्थाओं के स्थापन तथा उनके राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर में परिणत करने के अतिरिक्त मेरा लेखन-कार्य भी उस समय चलता रहता था। उन दिनों मैंने "बाणासुर पराभव" नामक एक पौराणिक महाकाव्य को पूरा किया, कुछ स्फुट कविताएँ और लेख लिखे। "बाणासुर पराभव" के कुछ अंश और ये कविताएँ तथा लेख "सरस्वती", "श्री शारदा" आदि मासिक पत्रिकाओं में निकले भी।

रामनरेशजी त्रिपाठी ने तो मुझे अपनी कविता कौमुदी के दूसरे भाग के कवियों में ही स्थान दे डाला। उस समय लिखी हुई मेरी कविताओं में "जन्म-भूमि प्रेम" का बहुत प्रचार हुआ और यह अनेक पाठ्य-पुस्तकों में भी ली गयी।

इस प्रकार जबलपुर और जबलपुर के आस-पास का सार्वजनिक जीवन बढ़ रहा था, परन्तु इस सार्वजनिक जीवन में साहित्यिक कार्यों की ही प्रधानता थी। भारतवर्ष में जो राजनीतिक क्रान्ति हुई एक प्रकार से इस युग में उस क्रान्ति की तैयारियाँ हुईं अतः देश का यह समय जागृति तथा सुधार (रिनासांस और रिफार्मेशन) का काल कहा जा सकता है। यह जागृति तथा सुधार सर्वत्र सभी क्षेत्रों में चल रहा था, जबलपुर और उसके आस-पास भी। आगे होने वाली राजनीतिक क्रान्ति में जिन व्यक्तियों ने भाग लिया वे भी इस युग में तैयार हो रहे थे तथा अन्यों को तैयार कर रहे थे। मेरा भी वही हाल था।

मैं समाज सुधार के क्षेत्र में

साहित्य क्षेत्र में काम करने के बाद और राजनैतिक क्षेत्र में काम करने के पहले मैं समाज सुधार क्षेत्र में आया।

भारतीय समाज में सतयुग में केवल एक "हंस" वर्ण था यह अनेक पुराणों में लिखा हुआ पाया जाता है। इसके बाद हमारा समाज चार वर्णों में विभक्त हुआ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये चार वर्ण भारतीय समाज के मुख्य स्तम्भ थे, पर शनैः शनैः इन चार वर्णों में से एक एक वर्ण में न जाने कितनी जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति हुई और इन जातियों तथा उपजातियों ने सारे भारतीय समाज के टुकड़े-टुकड़े कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर इन जातियों और उपजातियों में अगणित कुरीतियाँ आयीं। बाल-विवाह को धार्मिक रूप दिया जाने लगा, कन्याओं के सम्बन्ध में यह कहकर "अष्टवर्षाद्भवेद् गौरी"। बाल विवाह पद्धति यहाँ तक बढ़ी कि साल-साल दो-दो साल के बच्चे-बच्चियों को थाली में लिटा लिटाकर उनकी भाँवर पड़ने के भी दृष्टान्त मिलते हैं और दस-ग्यारह वर्ष के लड़के तथा आठ-नौ वर्ष की लड़कियों के तो अधिकांश विवाह होते ही थे। इस बाल-विवाह के अनेक भीषण परिणाम निकले। ब्रह्मचर्य के लोप के साथ ही शारीरिक ह्रास और अल्पायु आरम्भ हुई। गृहस्थाश्रम जल्दी आरम्भ होते ही अशिक्षा आयी। विधवाओं की संख्या बढ़ चली और उनके पुनर्विवाह न होने के कारण व्यभिचार बढ़ा। जो भारतीय समाज जातियों तथा उपजातियों के कारण टुकड़े-टुकड़े हो छिन्न-भिन्न हो गया था वह निरक्षर भट्टाचार्य एवं मूढ़ ग्राही हो इन सामाजिक कुरीतियों के कारण अत्यधिक जर्जर अवस्था को पहुँच गया। ऐसे समाज वाले देश को जीत कर पराधीन कर देना तथा सात समुद्र पार से मुट्ठी भर लोगों का आकर उसे अपनी मुट्ठी में रखना कोई कठिन काम न था। पराधीनता अनेक नयी आपत्तियाँ लायी जिनमें मुख्य थीं चरित्रहीनता, गरीबी और रोग।

इस प्रकार जिस भारतवर्ष के सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि यहाँ जन्म लेने के लिए स्वर्ग के देवता भी तरसते थे वही भारत रौरव नरक के तुल्य हो गया। इस काल के भारतीय समाज में अन्धविश्वास का बोलबाला था जिससे बुरा सामाजिक दुर्गुण और कोई नहीं होता। इस अन्धविश्वास के सम्बन्ध में एक पश्चिमी लेखक क्लाइव बैल ने ठीक ही लिखा है—"अन्ध-विश्वास मानव और उसके ज्ञान द्वारा उत्पन्न सत्य वस्तु स्थिति के बीच में आता है। मानव को अपने आन्तरिक रोमांचकारी अनुभवों से सत्य वस्तु स्थिति का जो ज्ञान होने लगता है अन्धविश्वास बीच में आ उसे लूट लेता है। सत्य का ज्ञान और किसी वस्तु का उसके सत्य रूप में निरीक्षण वे अनुभव हैं जिनका प्रेम तथा सांस्कृतिक ज्ञान से ही मिलान किया जा सकता है। भावना के इस प्रकार के एक अत्यधिक कोमलतापूर्ण जोश को ही अन्धविश्वास धोखे में डाल देता है। बुद्धि चाहे मर न जाय, पर अन्धविश्वास की कैद में वह मोटी हो जाती है और अपना तीखा तथा पैनापन खो देती है। स्वर्ग और पृथ्वी की हर बात को टटोलने के लिए बुद्धि का स्वतंत्र रहना आवश्यक है; न केवल बड़ी बातों में, पर जिन्हें तमाशे की बातें कहा जाता है उनमें भी। जीवन की आधी महानता और अधिकांश लीला के लिए अन्धविश्वास डाकू का काम करता है।" पिछले अध्याय में राजनीतिक क्रान्ति के पूर्व जिस जागृति तथा सुधार (रिनैसान्स और रिफारमेशन) की बात कही गयी है, यथार्थ में यह जागृति और सुधार बहुत समय पहले आरम्भ हो गया था। इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र पर अभी उतना नहीं पड़ रहा था जितना साहित्यिक और समाज सुधार के क्षेत्र पर। इसका आरम्भ हुआ था राजा राममोहन राय के समय से। राजा राममोहन राय के बाद उनके ब्रह्मसमाज के अन्य कार्यकर्त्ता तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्यसमाज के अन्य कार्यकर्त्ता आये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और उनके बाद स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ ने भी यथार्थ में इसी काम को आगे बढ़ाया। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और इसी तरह के प्रार्थना समाज आदि अनेक समाजों एवं संस्थाओं तथा इन समाजों एवं संस्थाओं में और इनके सिवा स्वतंत्र रूप से काम करने

वालों में धार्मिक भावनाएँ भी थीं पर धार्मिक भावनाओं से कहीं अधिक थीं समाज सुधार की भावनाएँ।

समाज सुधार की ये भावनाएँ धीरे-धीरे इतना जोर पकड़ रही थीं कि देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था कांग्रेस के साथ भी "सोशल कान्फ्रेन्स" नामक एक सामाजिक परिषद् भी हुआ करती थी और कांग्रेस के उस समय के प्रस्ताव यद्यपि नरम नीति के द्योतक थे, परन्तु सामाजिक सुधारों से सम्बन्ध रखनेवाली "सोशल कान्फ्रेन्स" के प्रस्ताव समाज सुधार की दृष्टि से क्रान्तिकारी।

इस देश के समाज के अनेक जातियों तथा उपजातियों में बटे रहने के कारण अनेक जातियों ने अपनी जाति सभाएँ भी स्थापित की थीं। यद्यपि भिन्न-भिन्न जातियों की पंचायतें बहुत पुरानी थीं, परन्तु इन पंचायतों के पंच हो गये थे दकियानूसी और इनका एक मात्र उद्देश्य रह गया था अपनी-अपनी जाति में अपना आधिपत्य कायम रखना। इन पंचायतों और इन पंचायतों के पंचों की सत्ता के नाश तथा जाति सुधार के उद्देश्य से इन जाति सभाओं का उदय हुआ था।

मारवाड़ियों में भी माहेश्वरी, अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि जातियों की जाति सभाएँ चल रही थीं।

मारवाड़ी समाज की जन-जागृति के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि सबसे पहले मारवाड़ी माहेश्वरियों में सामाजिक जागृति का आन्दोलन आरंभ हुआ। १६०८ में अमरावती में मेरे पूज्य पितामह राजा गोकुलदासजी की अध्यक्षता में माहेश्वरी महासभा का प्रथम अधिवेशन हुआ था। इस महासभा में न केवल मध्य प्रान्त बरार के बल्कि समग्र भारत से माहेश्वरी बंधु बड़ी संख्या में पधारे थे। उनके भीतर अपनी जाति के अभ्युत्थान के लिये बड़ी ऊँची भावना और लगन थी। इस महासभा के कारण समस्त भारत और विशेषत: मध्य प्रान्त-बरार के समस्त मारवाड़ी समाज में सामाजिक जागृति उत्पन्न हुई। इसका बहुत कुछ श्रेय श्रद्धेय श्री कृष्णदासजी जाजू और स्वर्गीय सेठ रामनारायणजी राठी को है। ये महानुभाव मारवाड़ी मंडल संस्था बनाकर पहले से ही यहाँ के मारवाड़ी समाज में प्रचार कर रहे थे। और इन्हीं

के सदुद्योग से अमरावती में माहेश्वरी महासभा का प्रथम अधिवेशन आयोजित किया गया था। इस महासभा में जो सज्जन सम्मिलित हुए हैं उनका कहना है कि यह एक अभूतपूर्व जातीय समारोह था। उस समय पुराने विचारों के बंधुओं का जातीय प्रेम देखने योग्य था। वे महासभाधिवेशन के मंडप की परिक्रमा करते थे और कई श्रद्धालु सज्जन तो वहाँ की धूलि अपने शरीर पर लपेटकर तथा जाति पंचों की पद-रज अपने मस्तक पर लगाकर अपने को धन्य समझ रहे थे। कई लोग इस जाति गंगा के दर्शन करके अपने को कृत-कृत्य मानते थे। कहते हैं माहेश्वरी महासभा के इस अधिवेशन में देश भर से लगभग छै हजार प्रतिनिधि आये थे।

इस महासभा अधिवेशन में बाल-विवाह, कन्या विक्रय, अश्लील गायन आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत हुए और समाज में शिक्षा-प्रचार पर जोर दिया गया। मेरे पितामह राजा गोकुलदासजी उस युग के एक बड़े प्रभावशाली, लोकप्रिय और पुण्यात्मा पुरुष थे ही। उनके हाथों जो लोक कल्याण के काम हुए थे उनका उल्लेख पहले हो चुका है। वे उस काल के माहेश्वरी समाज के ही नहीं समस्त मारवाड़ी समाज के आदरणीय नेता थे और सारा समाज उनकी ओर पथ-प्रदर्शन के लिए निहारता था।

पर माहेश्वरी समाज की जन-जागृति का शंखनाद माहेश्वरी महासभा के इस अधिवेशन के भी पहले अजमेर से हो चुका था। यहाँ वि० संवत् १९४५-४६ में स्व० श्यामसुन्दरलालजी लोईवाल, स्व० मथुरादासजी भट्टड़ और स्व० रामविलासजी शारदा के सदुद्योग से "माहेश्वरी महत सभा" स्थापित की गयी थी। इस सभा की अनेक शाखाएँ स्थापित हुईं और उनके द्वारा समाज सुधार तथा सामाजिक संगठन का काफी कार्य हुआ। इसे "माहेश्वरी सदर सभा हिन्द" भी कहते थे। आरंभ में इसके विराट अधिवेशन नहीं हुए, परन्तु इसके द्वारा अनेक स्थानों में सामाजिक जागृति का प्रकाश फैला तथा अनेक रीति-रिवाजों के नियंत्रण के लिए नियम बनाये गये।

इस संस्था का प्रथम अधिवेशन संवत् १९५१ में महता नथमलजी दीवान की अध्यक्षता में "माहेश्वरी महासभा कान्फ्रैन्स" के नाम से सहारनपुर में हुआ। इसमें देशभर से १००-१५० माहेश्वरी प्रतिनिधि पधारे। इस कान्फ्रैन्स में अनेक

महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। उस समय की मुख्य कुरीति बाल-विवाह थी। इस के निषेध में प्रस्ताव पास करते हुए कान्फ्रैन्स ने माहेश्वरी बंधुओं से अनुरोध किया कि "लड़की का विवाह कम से कम १४ वर्ष और लड़के का १८ वर्ष की उम्र से ऊपर किया जाय। यदि माता-पिता इससे बड़ी उम्र में विवाह करें तो सराहनीय है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लड़के-लड़कियों के १८–१४ से कम आयु के विवाहों को गैर कानूनी करार देने वाला शारदा ऐक्ट सन् १९२९ में पास हुआ जबकि उससे ३५ वर्ष पहले माहेश्वरी महतसभा इस आशय का प्रस्ताव पास कर चुकी थी। माहेश्वरी समाज की प्रगतिशीलता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस माहेश्वरी महतसभा के कुछ अधिवेशन समय-समय पर दिल्ली, अलीगढ़, कलकत्ता आदि स्थानों में हुए और माहेश्वरी समाज में समाज-सुधार की सलिल धारा प्रवाहित होती रही। लेकिन आगे चलकर इस संस्था का कार्य शिथिल होता गया। इसका मुख्य कारण था उस समय की व्यापक रूप से सामाजिक कार्य करने की प्र गतिशील विचारधारा। माहेश्वरी महतसभा के प्रमुख संचालक "वैश्य महासभा" के भी संस्थापक और संचालक थे। उस समय भारतवर्ष में राजनीतिक और सामाजिक जागरण का सूर्योदय हो रहा था। एक तरफ राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के मंच से भारतीयों को राजनीतिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संगठित होकर कार्य करने का आह्वान किया जा रहा था तो दूसरी ओर स्वामी दयानन्दजी द्वारा संस्थापित आर्य-समाज सामाजिक धार्मिक नव जागरण का प्रकाश फैला रहा था। आर्यसमाज के संगठन और स्वामी दयानंद की विचारधारा से प्रभावित होकर देश में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संगठनों का जन्म हुआ। वैश्य महा-सभा की स्थापना भी इसी वायुमंडल का फल था। उस समय वैश्य बंधुओं में अपने पृथक् संगठन बनाकर वैश्य-वर्ण का एक व्यापक संगठन बनाने में अधिक रुचि रखते थे और जाति-उपजातियों के भेदभावों को मिटाकर राष्ट्रीय तथा सामाजिक ऐक्य को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाना चाहते थे। यह भावना आर्य-समाज के आंदोलन द्वारा प्रेरित हुई थी। आगे चलकर वैश्य महासभा के संचालकों ने वैश्य उपजातियों के संगठनों को इसलिए प्रोत्साहन दिया जिससे

अपने-अपने विभागों में जागृति उत्पन्न करके वैश्य महासभा के संगठन की एक मजबूत शृंखला बन सकें। वैश्य महासभा के संगठन की प्रेरणा से ही माहेश्वरी महतसभा का संगठन बना और अनेक वर्षों तक वैश्य महासभा के अधिवेशन के साथ ही इस संस्था के भी अधिवेशन होते रहे। लेकिन यह उद्देश्य पूर्ण न हो सका। न तो ये पृथक् उपजाति संगठन ही पनप सके और न वैश्य महासभा का संगठन ही व्यापक बन सका। माहेश्वरी महतसभा के अधिवेशन भी कुछ वर्षों तक तो वैश्य महासभा के साथ होते रहे परन्तु आगे चलकर उनका होना बंद हो गया।

माहेश्वरी महतसभा का संगठन यद्यपि शिथिल हो गया, परन्तु उसने सामाजिक जागरण की जो ज्योति जला दी थ वह जलती रही और माहेश्वरी समाज प्रगति की ओर बढ़ता गया। माहेश्वरी महतसभा का कार्यक्षेत्र विशेष रूप से उत्तर भारत था। उत्तर भारत में सामाजिक जागृति उत्पन्न होने के और भी कुछ कारण थे और सबसे बड़ा कारण था आर्यसमाज का व्यापक प्रचार। माहेश्वरी महतसभा की शिथिलता का एक बड़ा कारण यह भी था कि उसके प्रमुख संचालक आर्यसमाज के भी कार्यकर्त्ता थे और वे छोटे-छोटे संगठनों में अधिक विश्वास भी नहीं करते थे। लेकिन माहेश्वरी महतसभा समग्र माहेश्वरी समाज में एक स्फूर्ति और प्रगति की ओर बढ़ने की भूख पैदा कर चुकी थी। माहेश्वरी महतसभा ने अपने प्रचार के लिए माहेश्वरी नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया था। इस पत्र का जन्म स्व० हरशरणदासजी तापड़िया के अध्यवसाय से हुआ। वे ही इसके तत्कालीन सम्पादक थे। यह संवत् १९४७-४८ की बात है। इस तरह आज से ६०-६५ वर्ष पूर्व माहेश्वरी समाज में काफी जागृति उत्पन्व हुई और समाज-सुधार के आंदोलन को बड़े व्यवस्थित रूप से अग्रसर किया गया। इस पत्र के प्रचार के फलस्वरूप माहेश्वरी महतसभा का संदेश देश के कोने-कोने में फैले माहेश्वरियों तक पहुँचा।

इसी प्रचार और प्रेरणा के फलस्वरूप माहेश्वरी महतसभा का शिथिल संगठन सन् १९०८ में माहेश्वरी महासभा के रूप में अमरावती से पुनः जागृत हो उठा। अमरावती के पश्चात् माहेश्वरी महासभा का दूसरा अधिबेशन १९१२

में सेठ फतेलालजी सांवणा की अध्यक्षता में नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में शिक्षा-प्रचार के लिए एक कोष की स्थापना की गयी जिसमें स्व० सेठ दामोदरदासजी राठी व्यावर, सेठ फतेलालजी सांवणा धामणगांव और मेरे ताऊ स्व० सेठ वल्लभदासजी ने बड़ी-बड़ी धन-राशियाँ दान में दीं। इसी कोष से मारवाड़ी शिक्षा मंडल वर्धा की नींव पड़ी। माहेश्वरी महासभा का तृतीय अधिवेशन पाली में सेठ कोड़ीमलजी मालू की अध्यक्षता में हुआ। इसके बाद कुछ समय तक माहेश्वरी महासभा के क्षेत्र में भी शिथिलता रही। वह दूर हुई सन् २० में जो नवीन भारत की जागृति का प्रथम वर्ष था।

अन्य क्षेत्रों के सदृश इस क्षेत्र में भी कुछ नये कार्यकर्त्ता आये। इनमें मुख्य थे अकोला के श्री ब्रिजलालजी बीयाणी, नागपुर के श्री सतीदासजी मूंदड़ा, कलकत्ता के श्री रामकृष्णजी मोहता, श्री बालकृष्णजी मोहता, श्री बृजवल्लभ-दासजी मूंदड़ा, पूना के श्री हनुमन्तरामजी राठी, शोलापुर के श्री रामकृष्णजी जाजू, हैदराबाद के श्री रामकृष्णजी धूत, श्री गुलाबचन्दजी नागोरी, नासिक के श्री कचरदासजी कलंत्री, अजमेर के श्री चाँदकरनजी शारदा, फलोदी के श्री कन्हैयालालजी कलंत्री, जलगाँव के श्री रूपचन्दजी लाठी आदि। माहेश्वरी महासभा के प्रवर्तकों में मुख्य श्री रामनारायणजी राठी का देहान्त हो चुका था, परन्तु सारा माहेश्वरी समाज श्रीकृष्णदासजी जाजू को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। उनका आशीर्वाद इन सब नये कार्यकर्त्ताओं को प्राप्त हुआ और माहेश्वरी महासभा में एक नया जीवन आ गया। इसके अखिल भारतीय संगठन के साथ ही प्रान्तीय संगठन भी आरम्भ हुए।

मेरे बड़े पुत्र मनमोहनदास के जन्मोत्सव के समय वेश्या-नृत्य आदि पर जो टीका-टिप्पणी हुई थी उसी समय से समाज-सुधार की भावनाओं का मेरे मन में उदय हुआ था और ये प्रस्फुटित हुई मेरे माहेश्वरी सभा के कार्यों में खिंचने तथा उस दायरे में काम करने से।

माहेश्वरी महासभा के अन्तर्गत जो अनेक प्रान्तीय सभाओं के संगठन थे उनमें एक संगठन महाराष्ट्र प्रान्त का भी था। महाराष्ट्र प्रान्तीय माहेश्वरी सभा के तृतीय अधिवेशन पूना का मैं सभापति चुना गया। यह बात सन् २० के अगस्त महीने के आरम्भ की है, जिसके कुछ दिन बाद ही कलकत्ते में कांग्रेस का

वह विशेष अधिवेशन हुआ था जिसमें गान्धीजी का असहयोग वाला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था और जिसके तुरन्त बाद ही मैं राजनीतिक क्षेत्र में आया था। पूना की महाराष्ट्र प्रान्तीय माहेश्वरी सभा के इस अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष थे राय बहादुर हनुमन्तरामजी राठी। महाराष्ट्र प्रान्त का सार्वजनिक जीवन बहुत संगठित था। जहाँ लोकमान्य तिलक और राजर्षि गोखले के सदृश व्यक्ति काम कर चुके हों, वहाँ के सार्वजनिक जीवन का पूछना ही क्या? पूना तो सार्वजनिक संस्थाओं का एक ऐसा केन्द्र है जैसा कदाचित् इस देश का आज भी कोई स्थान नहीं। हनुमन्तरामजी राठी उस समय पूना म्यूनिसिपैलिटी के सभापति थे और उनका वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं से बड़ा मेलजोल था। उनके कारण इस माहेश्वरी सभा के अधिवेशन को पूना में बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ। श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर, "काल" के सम्पादक श्री परांजपे आदि महाराष्ट्र के उस समय के अनेक नेता माहेश्वरी सभा के इस अधिवेशन में पधारे और बोले। मेरे सदृश एक अल्पवयस्क व्यक्ति को सभापति देखकर वहाँ के लोगों को आश्चर्य भी कम नहीं हुआ, मेरी अपनी भाषण-शैली को मैंने अब इस प्रकार का बना लिया था तथा मेरी ऊँची आवाज ने उसे इस तरह की सहायता पहुँचा रखी थी कि मेरी अल्पवयस्कता इस भाषण-शैली ने बहुत दूर तक ढाँक दी थी। इस अवसर पर पूना की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं ने मुझे निमंत्रित किया और कई को मैंने दान भी दिये। मेरे माहेश्वरी सभा के कुशल सभापतित्व और भाषण पर "केसरी" ने एक अग्रलेख लिखा था। उसका शीर्षक था—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न चलिंगं न च वयः।"

माहेश्वरी महासभा के क्षेत्र में मैंने पूना में प्रवेश किया। इस क्षेत्र में आने के पहले और बाद भी मेरे मन में सदा एक बात उठती रही है—पिछली पीढ़ी के लोगों को नयी पीढ़ी के लोगों के सामने सिर झुकाना ही चाहिए नहीं तो दोनों का सुख नष्ट हो जायगा, इतना ही नहीं, दुनिया की तरक्की रुक जायगी। पूना के बाद मेरा समाज सुधार क्षेत्र का कार्य और इस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क बढ़ता ही गया। मैं अनेक प्रान्तीय माहेश्वरी सभाओं का सभापति हुआ और दो बार अखिल भारतीय माहेश्वरी महासभा का और एक बार अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन का। फिर इन सभाओं के निर्णयों को मैंने अपने घर में भी

अक्षरशः कार्य रूप में परिणत किया। मेरा घर विवाह, मरण आदि के अवसरों पर दकियानूसी रीति-रिवाजों और फिजूलखर्ची के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार के समस्त कामों में मैंने आमूल परिवर्तन किये। सबसे अधिक कठिनाई मुझे पिताजी के मरण-भोज को बन्द करने में हुई; यह माताजी के कारण। यदि पिताजी का मरण भोज हुआ तो मुझे अपने घर में ही सत्याग्रह करना पड़ेगा, यहाँ तक मुझे कहना पड़ा था। और यह कहने की ही बात न थी इसके लिए मैंने अपने को तैयार भी कर लिया था। ऐसे दुःख के अवसरों पर सुधार करना सुख के अवसरों के सुधार की अपेक्षा कहीं कठिन होता है, परन्तु मुझ में चाहे अन्य कोई दोष हों, निश्चय किये हुए काम को करने में मैं बहानेबाजी नहीं जानता। पुराने रईसों के सदृश हमारे घर की स्त्रियों में भी कड़ा परदा था। परदे के निवारण में भी मुझे कम कठिनाई नहीं पड़ी, पर जबलपुर के अन्य रईसों के कुटुम्बों में परदा रहते हुए भी हमारे कुटुम्ब में परदा न रह सका।

माहेश्वरी सभा द्वारा अपनी जाति में सुधार के इस काम में मेरा माहेश्वरी समाज के प्रमुख सुधारकों से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इनमें मुख्य थे वर्धा के श्री कृष्णदासजी जाजू, अकोला के श्री ब्रिजलालजी बीयाणी, श्री आईदानजी मोहता, श्री राधाकृष्णजी तोषनी वाला, श्री सुगनचन्दजी तापड़िया, अमरावती के श्री कृष्णदासजी लढ्ढा, नागपुर के श्री चंपालालजी राठी, श्री तुलसीदासजी साँवल, जलगाँव के श्री रूपचन्दजी लाठी, अलीगढ़ के श्री भागीरथदासजी भूतड़ा, श्री तोतारामजी विद्यार्थी, मेरठ के श्री गिरिधारीलालजी केला, सहारनपुर के श्री नन्दकिशोरजी गोदानी, हैदराबाद के श्री रामकृष्णजी धूत, श्री गुलाबचन्दजी नागोरी, श्री हरिश्चन्द्रजी हेड़ा, श्रीमती ज्ञानकुमारीजी हेड़ा, अजमेर के श्री चाँदकरनजी शारदा, श्री कन्हैयालाल जी कलंत्री. श्रीमती गुलाबदेवीजी, साँभर के श्री रामप्रसादजी हुरकट, श्री शिववल्लभजी मानधन्या, कलकत्ते के श्री रामकृष्णजी मोहता, श्री वृजवल्लभदासजी मूंदड़ा, श्री भागीरथजी मोहता, श्रीमती गंगादेवीजी मोहता, श्री बालकृष्णजी मोहता, बड़ौदा के श्री आनन्दप्रियजी दूधानी, जयपुर के श्री गणेशनारायणजी सोमाणी इत्यादि।

राजस्थान के वैश्यों की इन जातीय सभाओं में एक सबसे बड़ी विशेषता

यह थी कि इन सभाओं के द्वारा गान्धी जी तथा कांग्रेस के राष्ट्रीय कार्यों को बड़ा भारी समर्थन मिला। मारवाड़ियों के राष्ट्रीय नेताओं में से अधिकांश का मारवाड़ियों के समाज-सुधार आन्दोलन से भी बड़ा निकट का सम्बन्ध रहा है। सेठ जमनालालजी बजाज, आचार्य जुगलकिशोरजी अग्रवाल महासभा के, श्री सेठ अचलसिंहजी और राजमलजी ललवानी ओसवाल महासम्मेलन के, श्री कृष्णदासजी जाजू, श्री ब्रिजलालजी बीयाणी, श्री रामकृष्णजी धूत, श्री गुलाबचन्दजी नागोरी और मैं माहेश्वरी महासभा के सभापति रह चुके हैं और इन सभाओं ने न जाने कितने युवक-युवतियों को समाज सुधार के साथ ही राष्ट्रीय क्षेत्र के कार्यों में भी खींचा है।

राजनैतिक जीवन की भूमिका

मेरा राजनैतिक जीवन यद्यपि सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन से आरम्भ हुआ, परन्तु उसके बीज यथार्थ में मेरे बाल्य काल में ही नहीं, पर मेरे शैशव में बो गये थे। जब मैं अंग्रेज अफसरों के यहाँ अपने पितामह के साथ जाता और मेरे पितामह के उस समय के भारतीय समाज के सर्वोच्च व्यक्तियों में होते हुए तथा अंग्रेज सरकार की ही सर्वोच्च पदवियों में से "राजा" की पदवी से अलंकृत होते हुए भी उनके प्रति तक टुच्चे-टुच्चे अंग्रेज अफसरों का अपमान-जनक व्यवहार देखता तब मेरे मन पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता। कुछ और बड़े होने पर बाल्यावस्था में अपने पिताजी के प्रति भी मैंने इन अंग्रेजों का वैसा ही बर्ताव देखा। युवा होते-होते जब मैंने इस देश में अंग्रेजी राज्य का इतिहास और "देश की बात" पुस्तक पढ़ी, तब तो मेरे मन में अंग्रेजों के प्रति ग्लानि हो गयी और अपने को उनकी बराबरी का सिद्ध करने के लिए मैंने अनेक प्रयत्न किये। इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में अनेक स्थानों पर इन बातों का उल्लेख हो चुका है। इस प्रकार अंग्रेजों के प्रति जो भावनाएँ मेरे मन में उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही थीं उन्होंने, इसी बीच श्री मैथिलीशरणजी गुप्त द्वारा रचित "भारत भारती" पुस्तक ने तथा उस समय के राजनैतिक वायुमण्डल ने भी मुझे राजनैतिक क्षेत्र में अधिकाधिक खींचना आरम्भ किया। जिस घटना का मुझ पर इस बीच सबसे अधिक प्रभाव पड़ा वह थी सन् १९१८ का पंजाब का हत्याकाण्ड। पंजाब के हत्याकाण्ड की पृष्ठभूमि क्या थी इसका यहाँ कुछ विवेचन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

सन् १९१४ से आरम्भ होनेवाली लड़ाई में इस देश ने अंग्रेजों की महान् सहायता की थी। केवल नरम दल के नेताओं ने इस सहायता में भाग लिया हो यह नहीं, गरम से गरम नेताओं ने भी इस सहायता में पूर्ण रीति से सक्रिय भाग लिया था। लोकमान्य तिलक, जो इसी अवसर पर कारावास के अपने छः

वर्ष के पूर्ण समय को भोगकर जेल से निकले थे और जो अब केवल गरम दल के नहीं, पर समूचे भारत के सर्वमान्य और सर्वप्रिय नेता हो गये थे, उन्होंने इस लड़ाई में अंग्रेजों को पूरी-पूरी मदद देने की अपील की थी। गान्धीजी, जो इसी समय दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे, लड़ाई में अंग्रेजों को सहायता देने के इतने बड़े हिमायती थे कि उन्होंने तो स्वयं उद्योग कर लड़ाई के लिए इस देश में सिपाहियों तक की भरती करायी थी। बिना किसी भेदभाव के सारा देश अंग्रेजों के पक्ष में था।

पहले लड़ाई में अंग्रेजों की हार होती गयी, पर पाँसा पलटा और शनैः शनैः अंग्रेज जीतने लगे। लड़ाई का अन्त समीप देख और उसमें मित्र पक्ष की जीत की पूर्ण सम्भावना मान सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के जो अधिवेशन हुए उनमें भारत के शासन-सुधार के लिए एक योजना बनी जिसका उस समय का प्रचलित नाम था—"कांग्रेस लीग-स्कीम।" कांग्रेस और मुस्लिम लीग के इन अधिवेशनों में नरम और गरम दोनों ही दलों के नेता इकट्ठे हुए थे और जो कुछ इन अधिवेशनों में हुआ था उससे प्रधानतया सम्बन्ध था सब समुदायों और फिरकों में एकता। केवल नरम और गरम दल के नेता ही लखनऊ में इकट्ठे नहीं हुए थे, परन्तु भारत के दो प्रधान समुदायों—हिन्दुओं तथा मुसलमानों को भी एक करने का प्रयत्न किया गया था और इस एकता के लिए धारासभाओं के चुनावों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र तक स्वीकार कर लिये गये थे।

लड़ाई का अन्त हो रहा था और जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसके शासन-सुधारों के लिए यहाँ की दोनों मुख्य राजनैतिक संस्थाओं ने कांग्रेस लीग स्कीम को जन्म दिया था अतः भारत के सारे राजनैतिक मामले को हल करने के अभिप्राय से सारी परिस्थिति का अध्ययन करने ब्रिटिश सरकार ने निम्न-लिखित बातों की जाँच और उस जाँच पर क्या किया जाय इसकी सिफारिश करने के लिए श्री रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी बनायी।

(१) राजद्रोह से सम्बन्ध रखने वाले षड्यंत्रों की खोज और जाँच।

(२) इन षड्यंत्रों को दबाने के लिए क्या वर्तमान कानून अपर्याप्त हैं?

(३) यदि ऐसा है तो कौनसे ऐसे नये कानून आवश्यक हैं जिनके द्वारा परिस्थिति को काबू में लाया जा सके।

रौलेट कमेटी की रिपोर्ट निकली और लड़ाई समाप्त होते ही इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार रौलेट बिलों के रूप में नये कानून, भारतीय धारा सभा में सरकार ने उपस्थित किये।

इन रौलेट विधेयकों को ६ फरवरी १९१९ को विलियम बिसेण्ट ने उस समय की केन्द्रीय धारासभा में उपस्थित किया। इन दो विधेयकों में एक तो अस्थायी था और दूसरा स्थायी। पहले विधेयक का मन्तव्य था युद्धोपरान्त भारत रक्षा कानून समाप्त होने पर भी उसी को दूसरे रूप में इस शान्ति काल में भी लागू रखना। इस विधेयक के अनुसार—

(१) क्रान्तिकारियों के मुकदमे हाई कोर्ट के तीन जजों के सामने उपस्थित हो सकते थे और वे शीघ्रतापूर्वक उन पर विचार कर फैसला कर सकते थे। जहाँ ऐसे मुकद्दमों की बहुतायत हो, वहाँ अपील का हक न था।

(२) किसी भी व्यक्ति से, जिसके खिलाफ यह सन्देह हो कि वह राज्य के खिलाफ कार्य कर सकता है, जमानत ली जा सकती थी, साथ ही वह किसी स्थान विशेष में रहने से या कोई कार्य विशेष करने से रोका जा सकता था।

(३) प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया था कि किसी व्यक्ति के कार्य द्वारा सार्वजनिक शान्ति के भंग होने की सम्भावना का उचित सन्देह हो तो वह सन्देह पर ही जेल में बन्द किया जा सकता था।

(४) और इसके मुताबिक जो खतरनाक समझे जानेवाले आदमी उस समय जेलों में बन्द थे, उन्हें आगे भी बन्द रखा जा सकता था।

दूसरा बिल जो स्थायी था उसकी उपधाराएँ थीं—

(१) किसी राजद्रोही सामग्री का प्रकाशन या बाँटने की दृष्टि से पास रखना ऐसा अपराध माना जाय कि उसके लिए जेल की सजा हो सके।

(२) यदि कोई व्यक्ति सरकारी गवाह बन जाय तो उसकी रक्षा का भार अधिकारियों पर रक्खा जाय।

(३) किसी राजद्रोही अपराध में सजा पाये हुए कैदी से सजा भोगने के उपरान्त भी दो साल की नेकचलनी की जमानत ली जा सकती है।

भारतवर्ष के जिन नेताओं और जनता ने चार वर्ष तक लगातार अपना सब कुछ न्योछावर कर, अपने धन और जन बल को बड़े से बड़े परिमाण में दे, मित्रराष्ट्रों को विजय दिलायी थी वे नेता और जनता इस महान् सहायता के फलस्वरूप इन रौलेट बिलों को देख तलमला उठे। इनका सभी समुदायों और फिरकों ने एक मत से विरोध किया। इसके विरोध में जलूसों, आम सभाओं आदि के देशव्यापी ऐसे प्रदर्शन हुए जैसे इसके पहले इस देश में कभी न हुए थे। गान्धीजी इस समय व्यापक रूप से इस देश के सामने आये और उन्होंने रौलेट बिलों के विरोध में देशव्यापी एक दिन की हड़ताल, उपवास तथा हड़ताल के अन्त में जुलूस और आम सभा करने की अपील की। सारे देश में गान्धीजी का यह कार्यक्रम कार्य रूप में परिणत हुआ। देश के अन्य विभागों के साथ पंजाब में भी, पर जो कुछ पंजाब में हुआ वह अन्य कहीं नहीं।

सरकार इस देशव्यापी अशान्ति और जागृति को बड़ी व्याकुलता से देख रही थी, किन्तु जब उसने इसका प्रभाव पंजाब पर भी पड़ते देखा तो उसका पारा एकदम गर्म हो गया। वह नहीं चाहती थी कि वह प्रान्त, जहाँ के बहादुर लोग उसकी सेना में भरती होकर बिना पशोपेश किये अपने गले कटवा डालते हैं, इस कांग्रेस की छुतही बीमारी का शिकार हों। वहाँ के गवर्नर श्री माइकल ओडायर ने इस आन्दोलन के पंजाब में कुचल डालने की कसम ही खाली।

रौलेट बिल के विरोध में जुलूस, सभाएँ करने की तिथि १३ अप्रैल रखी गयी थी। १० अप्रैल को सरकार ने अमृतसर के नेताओं डा० किचलू और डा० सत्यपाल को पकड़कर अज्ञात स्थान में भेज दिया। इस धाँधली से प्रान्त में एकदम सनसनी फैल गयी। गान्धीजी द्वारा अहिंसा पर जोर देने पर भी पंजाब में कुछ खून खराबी हुई। उत्तेजित जनता ने कहीं-कहीं अंग्रेजों को मार डाला और बैंक तथा रेलवे स्टेशनों को जला डाला।

इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अमृतसर का वह घृणित हत्याकाण्ड हुआ जिसकी मिसाल संसार के किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलेगी। अमृतसर के स्थानीय अधिकारियों ने स्थिति को काबू में रखने में अपने को असमर्थ पा नगर को फौजी अधिकार में दे दिया। यद्यपि वहाँ जंगी कानून (मार्शल ला) घोषणा १५ अप्रैल को हुई थी फिर भी वह १० अप्रैल से व्यावहारिक हो गया

था। अब आइए १३ ता० के वर्ष प्रतिपदा के उस शुभ दिवस पर जिस दिन जलियाँवाले बाग में मानवता त्राहि-त्राहि और पाहि-पाहि कर रही थी, तथा दानवता का उच्च अट्टहास हमारे कानों को बधिर किये देता था।

संध्या समय जलियाँवाला बाग में, जो चारों ओर चहारदीवारी से घिरा है और जिसमें केवल एक ही सँकरा प्रवेश द्वार है, २० हजार के लगभग व्यक्ति शान्तिपूर्ण सभा के आयोजन में उपस्थित थे। यहाँ जनरल डायर १०० हिन्दुस्तानी तथा ५० गोरे सिपाहियों को लेकर आता है तथा मोर्चेबन्दी पर सिपाहियों को खड़ा करके लोगों को तितर-बितर होने की आज्ञा दे दो-तीन मिनट पश्चात् ही अन्धाधुन्ध गोली बरसाना आरम्भ कर देता है। लोग गोली से बचने लेट जाते हैं तो वह उन्हें अच्छा निशाना समझ कर भागतों की अपेक्षा पहले मारता है। टूटी-फूटी चहारदिवारी को जो लाँघ कर भागना चाहते हैं वहाँ बृहत समुदाय देखकर उन्हें सबक देने वहीं पर गोली चलवाता है। बच्चे, बूढ़े, औरतें, भोले-भाले मेला में आनेवाले किसान सब बिना किसी भेद-भाव के गोलियों से भून दिये जाते हैं। जनरल डायर को दुःख हुआ कि यदि बाग का दरवाजा चौड़ा होता तो वह बख्तरबन्द गाड़ी भीतर लाकर कुछ और भी करिश्मे दिखलाता। वह केवल १,६०० गोलियाँ चला सका और यह नरमेध १० मिनिट में ही समाप्त हो गया। अन्त में हजारों के प्राण से खिलवाड़ करने वाला बहादुर डायर अपनी प्राण-रक्षा के भय से एम्यूनीशन समाप्त समझकर भाग खड़ा हुआ। घायलों की सेवा करना या मरतों को पानी देने की व्यवस्था करना उसका काम नहीं था। इन निर्दोषों के रक्तपात में स्वयं सरकार के कथनानुसार ४०० व्यक्ति मरे थे और लगभग २,००० व्यक्ति घायल हुए थे।

इसके अतिरिक्त अमृतसर में उस समय और भी नाना भाँति के अत्याचार हुए जिनकी खबर देश को कई महीनों बाद लगी। वकीलों और अन्य सम्माननीय व्यक्तियों से कुली का काम करवाया गया; विद्यार्थियों को शहर से दूर हाजिरी देने जाना पड़ा; खुले आम कोड़े लगाने की व्यवस्था की गयी तथा मिस शेरवुड पर जिस गली में आक्रमण किया गया था वहाँ के सब निवासियों को पेट के बल रेंगने की सजा दी गयी और हवाई जहाज द्वारा निहत्थे बेकुसूरों

पर बम वर्षा हुई ; छोटे बच्चों से कवायद करायी गयी । क्या-क्या कहा जाय । इसके अतिरिक्त भी नाना अकथनीय जुल्म पंजाबियों पर हुए ।

जब देश के नेताओं ने ये खबरें सुन कर पंजाब जाना चाहा, तो उन्हें वहाँ जाने की आज्ञा नहीं मिली ।

मेरे मन की अंग्रेजों के प्रति बढ़ती हुई ग्लानि को पंजाब की इन घटनाओं ने लाखों-करोड़ों गुना बढ़ा दिया । मैं तलमला-सा उठा और इन सारे नृशंस कृत्यों तथा महान् अपमान का बदला लेने का जो भी कार्यक्रम हो उसमें स्वयं भाग लेने के लिए छटपटाने-सा लगा । मुझे स्मरण है कि उस समय मेरे मन में केवल एक ही भावना थी—देश के इस नृशंस हत्याकण्ड और घोर अपमान का बदला लेने के लिए अपने को पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर देना । यही विचार उस समय मेरी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न था । आजकल फिर मुझे चित्तौड़ का विजय-स्तंभ याद आता । साहित्य सम्मेलन की स्वागत-समिति के मंत्री-पद से जब मैंने त्याग-पत्र दिया था उस समय भी मुझे वह विजय-स्तंभ याद आता था, परन्तु उस समय उसका स्मरण मुझे व्यथा पहुँचाता था । आज वह मेरे मन में जोश उत्पन्न कर रहा था । एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्था में किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को उत्पन्न करती है । मेरे मन में बार-बार एक बात और उठती । सहन-शक्ति शायद सबसे बड़ा सद्‌गुण कहा जा सकता है, परन्तु उसका भी कुत्सित रूप हो सकता है । किसी प्रकार के अन्याय को सहन करना सहन-शक्ति के कुत्सित से कुत्सित रूपों में सबसे बड़ा कुत्सित रूप है । परन्तु मानव-मन निसर्ग ने कुछ इस प्रकार घड़ा है कि उस पर पड़े हुए किसी भी प्रकार के प्रभाव का यदि तत्काल उपयोग कर लिया जाय तब तो वह हो जाता है अन्यथा उस प्रभाव के उपयोग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं ।

पंजाब की इन दुर्घटनाओं के बाद असहयोग आन्दोलन के आते-आते काफी समय लग गया और यद्यपि मैं असहयोग आन्दोलन में आ अवश्य गया, पर उस समय मेरे मन में अपने को उत्सर्ग करने के अतिरिक्त अन्य भावनाएँ भी थीं, जिनके कारण बिना किसी मानसिक संघर्ष के मैं असहयोग आन्दोलन में उस प्रकार सम्मिलित न हो सका जिस प्रकार यदि पंजाब दुर्घटनाओं के पश्चात् तत्काल असहयोग आरम्भ होता तो उसमें हो जाता । बात यह है कि भावोद्वेगता के विस्फोट लगातार चलते नहीं रह सकते ।

प्रथम महायुद्ध के पहले और उसके बाद यूरोप, एशिया और भारत की स्थिति

सन् १४ का महायुद्ध समाप्त हो गया। अंग्रेजों और उनके मित्रराष्ट्रों की विजय हुई और जर्मनी की हार; किन्तु अंग्रेजों की यह विजय भी हार से कुछ भिन्न न थी। यह ठीक है कि वार्सेई की संधि से अंग्रेजों को जर्मनी के अफ्रीकी और अन्य उपनिवेश मिल गये और इस प्रकार उनके साम्राज्य का विस्तार घटने के बदले कुछ बढ़ा ही, किन्तु इस विस्तार से उनकी शक्ति में वृद्धि नहीं हुई वरन् उनकी शक्ति वैसी न रही जैसी कि महायुद्ध के पूर्व थी। यथार्थ में इस ऊपरी साम्राज्य-विस्तार के बावजूद इस युद्ध के पश्चात् पृथ्वी से अंग्रेजी प्रभुता के अन्त का श्रीगणेश हो गया और अंग्रेजों की शक्ति ही क्या, इस महायुद्ध ने यूरोप की सब शक्तियों को ऐसा धक्का लगाया कि मानव-जाति के जीवन में यूरोप और उसके देशों का जो प्रभुत्व था उसके अन्त का आरम्भ हो गया; इस प्रकार उस युग की समाप्ति होने लगी जिसका प्रारम्भ कोलम्बस और वास्को डिगामा ने अपनी भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में किया था। इतिहास की इस करवट ने हमारे जन-जीवन में भी क्रान्तिकारी कम्पन पैदा कर दी और आगे चल कर मेरे ज़ीवन की तो दिशा ही बदल गयी। मेरा जीवन तब से अपना ही या मेरे निकटस्थ स्वजनों का ही न रहकर भारतीय इतिहास के कोटि बाहु अधिदेवता का उपकरण मात्र बन गया।

अपने जीवन की अगली धारा की निश्चायक तथा निर्णायिक शक्तियों और प्रेरणाओं को यथावत् व्यक्त करने के लिए मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि इतिहास की इस करवट का यहाँ कुछ विश्लेषण कर दूँ।

भौगोलिक और आर्थिक साधनों की दृष्टि से यदि पृथ्वीमण्डल के विभिन्न भूखण्डों या महाद्वीपों के सम्बन्ध में तुलनात्मक विचार किया जाये तो यह

स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन सबमें जम्बू द्वीप या एशिया का ही सर्वोपरि स्थान है। अन्य महाद्वीपों की अपेक्षा यही अधिक बड़ा और फैला हुआ है। उसके गर्भ में हर प्रकार के आर्थिक साधन प्रचुर मात्रा में दबे पड़े हैं। और इसी में गंगा की तलहठी जैसी उर्वरा भूमि भी बड़े क्षेत्र में पायी जाती है। अपने इन्हीं आर्थिक साधनों के कारण यह जम्बूद्वीप मानव इतिहास के उषाकाल से ही मनुष्य जाति की प्रमुख लीला भूमि रहा है। इसी के वक्ष पर मानव की अनेक जातियाँ सहस्रों वर्षों से पलती आ रही हैं और संसार के जनसमुदाय का अधिकांश भाग एशिया में ही सर्वदा बसता रहा है। मानव-जाति के आरम्भिक युगों से ही एशिया में ही प्रबल साम्राज्यों और विशाल राजनैतिक तंत्रों का जन्म हुआ और सहस्रों वर्ष तक इनका अस्तित्व रहा। यह कहना अनुचित न होगा कि सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक धन की दृष्टि से, विद्या और विज्ञान की दृष्टि से, नीति और धर्म की दृष्टि से, राजनीतिक तंत्र और शक्ति की दृष्टि से एशिया ही पृथ्वीमण्डल का केन्द्र था। उन दिनों यूरोप तो उसके एक पार्श्ववर्ती क्षुद्र प्रान्त के समान था। इतिहास की धारा समरकन्द, बुखारा, पाटलिपुत्र या उज्जयिनी के किनारे होकर बहती थी और पृथ्वी भर में इन नगरों की समृद्धि तथा वैभव से टक्कर लेने वाला कोई नगर न पाया जाता था। इस प्रकार उन दिनों एशिया लक्ष्मी और सरस्वती की क्रीड़ा भूमि था और था पृथ्वी का कुबेरागार। किन्तु जैसा कहा है सदा किसी का दौरदौरा नहीं रहता, उसका युग-युगान्तर का वैभव भी लुप्त हो गया और वह स्वयं तथा सारा पृथ्वीमण्डल उसके एक छोटे और नगण्य भूखण्ड यूरोप की बाढ़ से आप्लावित हो गया। इस युग परिवर्तन का कारण कोलम्बस की यात्रा थी जिसके फलस्वरूप अमरीका जैसे महाद्वीप का पता यूरोपवासियों को चला और साथ ही वास्को डिगामा की वह यात्रा थी जिसमें वह अफ्रीका के महाद्वीप का चक्कर काट कर भारत पहुँचा। स्मरण रहे कि इन दोनों यात्राओं के पीछे यह प्रेरणा थी कि यूरोप के सागर-तट-वासी देश अपना व्यापारिक सम्पर्क पृथ्वीमण्डल के कुबेरागार एशियाई देशों अर्थात् भारत और चीन से स्थापित कर सकें, किन्तु इस प्रयास में उनके हाथ पड़ गये उत्तरी और दक्षिणी अमरीका महाद्वीप, अफ्रीका महाद्वीप और आस्ट्रेलिया महाद्वीप, साथ ही इन महाद्वीपों के सारे सम्पत्ति साधन। इसके

अतिरिक्त पृथ्वी में उसका केन्द्रीय स्थान हो गया। वह अमरीका और एशिया के बीच का देश हो गया और उसी के वासी अमरीका का माल एशिया और एशिया का माल अमरीका पहुँचाने वाले वाहक बन बैठे। पर इन सबसे कहीं बढ़ कर लाभ उन्हें यह हुआ कि इन लम्बी सामुद्रिक यात्राओं के फलस्वरूप वे दक्ष नाविक हो गये और समुद्र पर उनका एकाधिपत्य हो गया। समुद्र पर अपने इस आधिपत्य के परिणामस्वरूप उन्हें यह सुविधा हो गयी कि वे समस्त पृथ्वी-मण्डल के सामुद्रिक व्यापार को हथियालें और जहाँ चाहें समुद्र-तट पर अपनी शक्ति स्थापित कर सकें। इस सुविधा का फल यह हुआ कि संसार का सर्वाधिक सम्पन्न देश, सामुद्रिक और सामरिक दृष्टि से एशिया का महत्त्वपूर्ण नाका भारत यूरोप के एक छोटे से द्वीप इंगलैण्ड के हाथ पड़ गया। संसार के समस्त इतिहास में यह घटना अभूतपूर्व है। अपने देश से आठ सहस्र मील की दूरी पर कुछ सहस्र अंग्रेज अपने पितृ देश से कहीं अधिक विशाल और करोड़ों के जन-समुदाय वाले देश पर अपना राजनैतिक साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो गये। यह बात यदि कटु ऐतिहासिक न होती तो सुनने में सबको मन की उड़ान के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत न होती। मेरा यह प्रयोजन नहीं कि मैं यहाँ उन सब कारणों के बारे में कुछ कहूँ जिनके परिणामस्वरूप यह अनोखी घटना घटी, किन्तु इतना कह देना अनुचित न होगा कि इसका प्रमुख कारण यही था कि भारतवासियों और उनके राजाओं को स्वप्न में भी यह विचार न हो सकता था कि उनके अपने राजनैतिक हितों को समुद्र की ओर से भी कोई संकट हो सकता है। वे तो निरन्तर यही देखते रहे थे कि यदि उन पर कभी कोई संकट आता है तो वह भू-सीमाओं की ओर से ही। अतः उनकी दृष्टि सर्वदा भूमि के नाकों पर ही रहती थी न कि समुद्र के नाकों की ओर। उन दिनों भारत में एक महान् राजनीतिक संघर्ष चल रहा था—वह था विदेशी और विधर्मी तुर्कों, ईरानियों और इतर जातियों के विरुद्ध स्वदेशी जातियों का संघर्ष। देश के कोने-कोने में इस संघर्ष के शोले फूटे हुए थे। इस संघर्ष में अपना पल्ला भारी करने के लिए भारत में बसे हुए यूरोपवासियों की सहायता प्राप्त करने में भी हम में से किसी को हिचकिचाहट न होती थी, क्योंकि किसी को स्वप्न में भी यह आशंका न हो सकती थी कि ये मुट्ठीभर लोग भी भारतवासियों की स्वतन्त्रता

या उसके सम्पत्ति साधनों का अपहरण कर सकते हैं । अतः क्या तुर्क और ईरानी और क्या मराठा, सिख या राजपूत सभी ने निश्शंक होकर यूरोपीय लोगों की सहायता ली । यहाँ के लोगों की इस सहायता के पुरस्कार के बहाने यूरोपवासी अपनी शक्ति और राज्यक्षेत्र बढ़ाने लगे और वह दिन भी आ गया जब यूरोप के छोटे द्वीप इंगलैंड का विस्तृत भारत देश पर राज्य स्थापित हो गया। जब यहाँ के शासक इस संकट के प्रति सजग हुए तब बहुत विलम्ब हो चुका था और इतिहास के लेख को मेटने का समय न रहा था । जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि यूरोप के इस छोटे द्वीप इंगलैण्ड की भारत पर प्रभुता स्थापित हो जाने का परिणाम यह हुआ कि धन, शक्ति और विज्ञान की दृष्टि से यूरोप और विशेषकर इंगलैण्ड पृथ्वीमण्डल का केन्द्र हो गया।

बीसवीं शताब्दी के पहले दिन स्थिति यह थी कि जापान को छोड़ कर पृथ्वीमण्डल भर का ऐसा कोई प्रदेश न था जहाँ यूरोप वालों या उनके वंशजों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभुत्व न हो । कुछ इने-गिने देश स्वतन्त्र समझे जाते थे, पर उनकी स्वतन्त्रता का अर्थ इतना ही था कि इन देशों के लोग अपने देशों के शासन की बागडोर सँभाले हुए थे, किन्तु ये शासक पूर्णतया यूरोपवासियों के दबाव में थे और अपनी इच्छा से कोई काम न कर सकते थे। यद्यपि जापान में यूरोपवासियों का वैसा दबदबा न था, किन्तु जापान की शक्ति इतनी न थी कि वह यूरोप की महान् शक्तियों से अकेला टक्कर ले सके। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि राजनैतिक दृष्टि से उस समय समस्त पृथ्वीमण्डल पर यूरोपवासियों का राजनैतिक प्रभुत्व और साम्राज्य था ।

पृथ्वी भर के आर्थिक साधन भी साधारणतः यूरोपवालों और विशेषतः इंगलैण्डवालों के ही हाथ में थे । जापान के अतिरिक्त पृथ्वी के लगभग सभी देशों में परिवहन, संचार, उद्योग, व्यापार के साधनों पर यूरोपवासियों का ही एकाधिपत्य था और पृथ्वी भर के खनिज पदार्थों के भी वे ही स्वामी बने बैठे थे । यह कहना अनुचित न होगा कि बिना खरीदे दासों के समान पृथ्वी भर के लोग खेत और खलिहान में अथक श्रम करते थे और उनकी पैदावार से यूरोपवासी ऐश करते थे, मजा उड़ाते थे । पृथ्वी भर से सोने और चाँदी की नदियाँ साधारणतः यूरोप और विशेषतः इंगलैण्ड रूपी सागर में गिरती थीं, लन्दन

पृथ्वी भर का कुबेर नगरी हो गया था। वहाँ के ही साहूकारों की भृकुटि के संकेत पर संसार भर का उत्पादन और व्यापार चक्र चल रहा था।

विज्ञान के क्षेत्र में तो यूरोप उन दिनों पृथ्वी का ज्योति-केन्द्र तथा आचार्य था ही। वहाँ प्रतिदिन नये-नये भौतिक एवं प्राकृतिक रहस्यों का पता चलाया जा रहा था, चमत्कारिक यंत्रों का निर्माण किया जा रहा था और प्राकृतिक शक्तियों को नित्य प्रति मानव की परिचारिणी बनाया जा रहा था। अतः संसार भर के लोगों में से कुछ को छोड़कर प्रतीत होता था कि अन्य सब अपना राष्ट्रीय जीवन और निजी बुद्धि यूरोप के ही ज्ञानदीप से आलोकित कर सकते हैं। इस प्रकार यूरोप उन दिनों मानव-जाति का गुरु था; मंत्रदाता था और यंत्रदाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानों स्वयं नियति ने ही यूरोप को पृथ्वी का सम्राट्, साहूकार और सद्‌गुरु युग-युगान्तर के लिए बना दिया है और वह अपने इस श्रेष्ठ आसन से कभी च्युत न होगा। किन्तु बीसवीं शताब्दी का अभी शैशव भी व्यतीत न हुआ था कि यूरोप का यह उच्चासन हिल उठा और उसका स्वर्ण महल ढहने लगा। इसका और कोई भविष्य हो भी न सकता था। मानव इतिहास में वही विचार, वही व्यवस्था, वही समाजतंत्र स्थायी रह पाया है जिसका आधार अक्षय और अमर मानवता है। इस्पात और पाषाण पर निर्मित भवन चाहे कुछ शताब्दियों तक लोगों को अपने स्थायित्व से भ्रम में क्यों न डालते रहें, किन्तु वे कराल काल के हाथ से बच नहीं सकते। इसी प्रकार जिस तंत्र या साम्राज्य का आधार सात्विक तथा चिरस्थायी मानव-प्रवृत्ति एवं आदर्श नहीं होते वह भी बालू के महल के समान शीघ्र ही ढह जाता है। अक्षय मानवता पर आधृत होने का तो प्रश्न ही क्या यूरोप का प्रभुत्व यूरोप की किसी विशिष्ट नैसर्गिक गुण या शक्ति पर भी ठहरा हुआ न था। वह ऐतिहासिक आकस्मिकता से जन्मा था। उसका आधार था यूरोपीय जातियों के शासक वर्ग की स्वार्थ-परायणता तथा मानव-शोषण वृत्ति। अतः यह बात अनिवार्य थी कि इस महल की दीवारें आन्तरिक तनाव से ही जर्जरित हो जायें। वही आन्तरिक तनाव महायुद्ध के रूप में फूटकर बाहर निकल आया था। यदि समस्त यूरोप के शरीर में ही यह रोग व्याप्त न होता तो केवल आस्ट्रिया के युवराज और युवराज्ञी की हत्या से यूरोप के सारे देश इस प्रकार

एक दूसरे का विनाश करने के लिए आपस में न भिड़ जाते।

यूरोप में दो प्रकार का आन्तरिक तनाव अनेक वर्षों से चल रहा था। सर्वप्रथम तो वहाँ यह कशमकश थी कि कौनसा सम्पत्तिशाली वर्ग यूरोप और संसार के सम्पत्ति साधनों से अधिकाधिक लाभ उठावे। यूरोप का आर्थिक विकास कुछ ऐसी रीति से हुआ था कि वहाँ कई सम्पत्ति वर्ग बन गये थे। सम्पत्तिधारियों का एक गुट इंगलैण्ड का, दूसरा फ्रांस का, तीसरा हालैण्ड का, और चौथा जर्मनी का था। सम्पत्तिधारियों के इन सब गुटों में कई शताब्दियों से इस बात का पारस्परिक संघर्ष चल रहा था कि उनमें से कौनसा गुट पृथ्वी भर के अधिकाधिक सम्पत्ति साधनों का स्वामी बन जाये। एक दृष्टि से यह कहना अनुचित न होगा कि १६वीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक का यूरोप का इतिहास इन्हीं सम्पत्तिधारियों के गुटों के पारस्परिक संघर्ष की कहानी है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी के सम्पत्तिधारियों के गुट की शक्ति बढ़ रही थी और वह इंगलैण्ड तथा फ्रांस के सम्पत्तिधारियों के गुटों के अपने निजी व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में प्रवेश कर रहा था। इस प्रकार वह उनके मुँह का कौर छीन रहा था। अतः यह अनिवार्य था कि इंगलैण्ड तथा फ्रांस के सम्पत्तिधारी अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए किसी न किसी दिन जर्मनी से युद्ध-क्षेत्र में भिड़ जायें और उसकी बढ़ती हुई आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त कर दें। जर्मनी के इसी औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से आशंकित होकर इंगलैण्ड तथा फ्रांस यह समझने लगे कि यदि कहीं जर्मनी को और बढ़ने दिया गया तो वह उनके लिए घोर संकट बन जायगा। कैसर की यह माँग कि सूर्य के तले जर्मनी का भी कहीं स्थान होना चाहिए यही अर्थ रखती थी कि जर्मनी के बढ़ते हुए उद्योग के लिए उसे खुले बाजार उपलब्ध होने चाहिएँ और ये बाजार खुले तो तभी माने जा सकते थे जब वहाँ जर्मनी इन अन्य प्रतिद्वन्दी गुटों की इच्छा या अनिच्छा का विचार किये बिना अपना माल पूर्ण स्वतन्त्रता से बेच सके। अतः यह स्वाभाविक था कि यूरोप में तथा पृथ्वीमण्डल के अन्य क्षेत्रों में जर्मनी अपनी प्रभुता की धाक बैठाने का प्रयत्न करे। किन्तु साथ ही स्थिति यह थी कि क्या यूरोप और क्या पृथ्वी-मण्डल में सब ही जगह या तो इंगलैण्ड के सम्पत्तिधारी या फ्रांस के सम्पत्तिधारी

पहले से ही कब्जा जमाये बैठे थे। अतः जर्मनी के सम्पत्तिधारियों के गुट का इंगलैण्ड और फ्रांस के गुटधारियों से सामरिक संघर्ष होना अनिवार्य था।

यूरोप में दूसरा तनाव सम्पत्तिधारियों और श्रमिक वर्ग में था। यद्यपि यूरोप के श्रमिक एशिया या अफ्रीका के श्रमिकों की अपेक्षा सम्पत्तिधारी कहे जा सकते थे क्योंकि उन्हें इन पश्चात् कथित देशों के श्रमिकों के श्रम से अपनी निजी सुख-सुविधा के लिए पर्याप्त धन प्राप्त होता था, किन्तु फिर भी अपने देश में तो वे सम्पत्तिधारियों की अपेक्षा हीन ही थे। इसके अतिरिक्त यूरोप का औद्योगिक संगठन ऐसा था कि अनेक नर-नारी इच्छा रहने पर भी अपनी आजीविका का कोई साधन ढूँढ न पाते थे। अतः जहाँ यूरोप में संसार भर से निधि-सिधि की नदी बही चली आ रही थी और वहाँ के धनिक हर प्रकार की मौज में रहते थे वहीं यूरोप में अनेक नर-नारी भूख से भी तड़पते थे।

लक्ष्मीपुरी में यह कंगाली वहाँ की औद्योगिक व्यवस्था के कारण थी, क्योंकि अधिक पैदावार से लाभ उद्योगपतियों को होता था, श्रमिक वर्ग को नहीं। अतः इस सामाजिक अन्तर्विरोध के कारण वहाँ का समाज ज्वालामुखी के मुँह पर बैठा हुआ था। यह अनिवार्य था कि वहाँ आये दिन ज्वालामुखी फटता रहे और भूचाल आते रहें। दूसरे शब्दों में यूरोप का यह आन्तरिक द्वन्द उसके राजनैतिक शरीर में कैन्सर के समान था, जो शनैः शनैः बढ़ रहा था और जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था का अन्त अवश्यम्भावी था। इस कैन्सर से पीड़ित होने के कारण यूरोप और उसके साथ ही साथ इंगलैण्ड की राजसत्ता धीरे-धीरे मर रही थी, किन्तु उसके ऊपर फूट कर न निकलने से अभी संसार को यह प्रतीत न होता था कि यूरोप के पतन का दिन अब निकट आ गया है।

इस रोग के फूटने से प्रथम बार पृथ्वी के अन्य देशों और जातियों का यह भ्रम टूटा कि यूरोपवासी अजेय हैं या भगवान ने उनके कंधे पर मानव-जाति की संस्कृति और जीवन का भार रखा है। दूसरे शब्दों में यूरोप की संसार में जो साख और धाक थी वह दूसरी जातियों की दृष्टि में अब खत्म होने लगी। इससे पूर्व भी यूरोप की जातियाँ आपस में अनेक बार लड़ी थीं, उनके युद्ध पृथ्वी भर के कोने-कोने में हुए थे, किन्तु यह बात कभी न हुई थी कि यूरोप के

प्रमुख राष्ट्रों को अपना अस्तित्व बचाने के लिए एशिया के रक्त का ट्रान्स-फ्यूजन करना पड़ा हो अर्थात् अफ्रीका या एशियाई सिपाहियों का सहारा लेना पड़ा हो। एशिया और अफ्रीका के लोगों को अपने साम्राज्य विस्तार के लिए और एशिया के राज्यों पर विजय पाने के लिए वे प्रयोग में लाये थे, किन्तु अपने ही देश में अपने ही घर-द्वार के बचाने के लिए और अपनी तथा अपने बाल-बच्चों की प्राण-रक्षा के लिए उन्होंने इन काले या बादामी रंगवालों का उपयोग कभी नहीं किया था। किन्तु इस महायुद्ध में अंग्रेज और फ्रांसीसी परिस्थितियों से इतने लाचार और मजबूर होगये कि वे अपने देश और अपने लोगों की प्राण-रक्षा के लिए भारतीयों, हिन्दचीनियों, हब्शियों जैसे बादामी और काले रंगवालों की सहायता लें तथा खुशामद करें। इस आँधी में उनकी शक्ति भी इतने जोर से हिल गयी कि उनको भय होने लगा कि इन रंगवाली जातियों पर से कहीं उनका साम्राज्य ही न उठ जाय साथ ही कहीं अपने घर-द्वार और अपनी स्वतन्त्रता से भी वे हाथ न धो बैठें। अतः उन्होंने हर प्रकार की खुशामद और प्रतिज्ञाओं से इन रंगवाली जातियों को अपनी ओर रखने का सफल प्रयास किया और इन जातियों के धन और जनबल से वे अपने को बचाने में समर्थ हुए। यह स्वाभाविक ही था कि अंग्रेजों, फ्रांसीसियों या यूरोप की जातियों का काली या गेंहुआ जातियों पर वह दबदबा और रोब न बना रहे जैसा कि महायुद्ध से पहले था। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि यूरोपवासियों का काली और गेहुँआ जातियों पर साम्राज्य बहुत कुछ इस दबदबे के आधार पर ही ठहरा हुआ था। ठीक है कि यूरोपवासियों के पास अच्छे शस्त्रास्त्र थे, यह भी ठीक है कि उनके पास सुनियंत्रित सेनायें थीं, किन्तु इन काली और गेहुँआ जातियों की अपेक्षा उनका जनबल इतना थोड़ा था कि इन यूरोपवासियों के लिए केवल शक्ति के सहारे ही इन रंगवाली जातियों पर राज्य करना असंभव था। यदि इन जातियों पर वे राज्य कर रहे थे तो केवल अपनी धाक, अपने दबदबे के आधार पर। रंगवाली जातियों ने पिछले दिनों यही देखा था कि जहाँ भी यूरोपवालों से उनका मुकाबला हुआ वे हारे और पिटे। अपनी हारों के वास्तविक कारणों को ये रंगवाली जातियाँ समझ न पायी थीं और इसलिए यह कुछ भ्रम फैल गया था कि यूरोपवासी अजेय हैं,

प्रति मानव हैं। किन्तु महायुद्ध ने यूरोप के साम्राज्य के इस प्रमुख आधार अर्थात् इस भ्रम को दूर कर दिया। रंगवाली जातियों ने बखूबी देख लिया कि यूरोप के लोग भी वैसे ही हैं जैसे वे स्वयं हैं। इन रंगवाली जातियों को यह विश्वास हो गया कि यदि हम कुछ सावधानी से बर्तें तो यूरोपवासियों को अपने देश से मार भगा सकते हैं; कम से कम इन रंगवाली जातियों के पढ़े-लिखे लोगों के मन में तो यह बात अवश्य बैठने लगी। इस प्रकार महायुद्ध ने यूरोप की जातियों के प्रभुत्व के एक आधार को यूरोप के बाहर भी ढा दिया।

साथ ही महायुद्ध में हुए विनाश के कारण यूरोप का आर्थिक ढाँचा भी अस्त-व्यस्त हो गया। साढ़े चार वर्ष के निरन्तर युद्ध में यूरोप के व्यापक क्षेत्र में कृषि सेनाओं के पैरों तले रुँद गयी और उद्योग-धन्धों का क्रम टूट गया। अनेक लोगों को अपने घर-द्वार छोड़कर बेगाना बन जाना पड़ा। जो लोग उत्पादन-क्षेत्र में कार्य करके धन पैदा करते थे वे फौजों में भर्ती हो गला काटने और नगरों और ग्रामों को बर्बाद करने में लग गये। इन चार वर्षों तक यूरोप के प्रत्येक देश की शक्ति रचनात्मक क्षेत्रों में न लगकर विनाशक दिशाओं में लगी रही। फल यह हुआ कि यूरोप की अधिकांश आर्थिक सम्पन्नता बारूद का धुआँ बनकर उड़ गयी और यूरोप के देश पृथ्वी के अन्य देशों के और विशेषत: अमरीका के कर्जदार बन गये। महायुद्ध के तुरन्त उपरान्त यूरोप के नर-नारियों को, विशेषत: हारे हुए केन्द्रीय देशों के नर-नारियों को, वर्णनातीत आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इंगलैण्ड, फ्रांस भी अपने पुराने व्यापार को फिर न पा सके, क्योंकि जब यूरोपवासियों में से अधिकांश विपत्ति के पाश में ग्रस्त थे तब उनका माल बिकता भी कैसे। यूरोप से प्रगति तो रूठी ही थी, लक्ष्मी भी रूठ गयी।

किन्तु यूरोपीय साम्राज्यवाद को इन दोनों चोटों से कहीं अधिक सांघातिक चोट रूस की राज्य-क्रान्ति से लगी। महायुद्ध तब समाप्त न हुआ था। रूस की जारशाही युद्ध से उद्भूत आर्थिक और राजनैतिक कठिनाइयों का सामना न कर पायी और उसकी व्यवस्था टूट गयी। रूस में राज्य-क्रान्ति हुई, वहाँ श्रमिकों के प्रतिनिधियों की विजय हुई और श्रमिकों का राज्य कायम हो गया। रूस की राज्य-क्रान्ति उस युगधर्म के सर्वथा विपरीत थी, जिसका आरम्भ

कोलम्बस ने किया था और जिसका मूलमंत्र अहं पोषण था। अहं पोषण के सिद्धान्त पर ही यूरोप के प्रत्येक देश की आन्तरिक व्यवस्था कायम थी और उसी के आधार पर वह दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाये रखना ठीक समझता था। इसके विपरीत रूस की राज्य-क्रान्ति का मूल मंत्र था व्यष्टि का समष्टि में विलीन होना, अहं के स्थान में समुदाय का पोषण। किन्हीं अर्थों में यही सामूहिक उत्तरदायित्व और सामूहिक स्वामित्व का आदर्श एशिया की अनेक जातियों का आदर्श था। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यूरोप के प्रमुख देशों की दृष्टि में रूसी राज्य-क्रान्ति एशिया के रंग से रँगी हुई लगी। जो हो, इस राज्य-क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप स्वयं ही दो विरोधी दलों में बट गया और उसकी शक्ति क्षीण हुई।

जहाँ यूरोप का पतन आरम्भ हुआ वहीं एशिया और अन्य दलित महाद्वीपों में नवजीवन और नव जागृति की लहर फैलने लगी। एशियावासियों के हृदय में अपनी लुप्त स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने की आशा उत्पन्न हुई। महायुद्ध में एशिया और अफ्रीका और अमरीकावासियों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी फ्रान्सीसी मित्रराष्ट्रों ने जनतंत्र का नारा बुलन्द किया था। उनकी यह घोषणा थी कि वे इस महायुद्ध में जनतंत्र की रक्षा करने के लिए ही प्रविष्ट हुए हैं। जनतंत्र की रक्षा और संसार को जनतंत्र का गढ़ बनाने के इस नारे से एशिया और अफ्रीकावासियों के मन में भी यह आशा जगी कि मित्रराष्ट्रों की विजय के पश्चात् उन्हें भी अपने-अपने देश में जनतंत्र या उससे मिलती-जुलती राजनैतिक व्यवस्था स्थापित करने की सुविधा होगी। अतः वे भी बड़ी उत्कण्ठा से मित्रराष्ट्रों की विजय और अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्रतीक्षा करने लगे।

इनमें भारत भी एक था। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि समस्त एशिया, अफ्रीका और परवश जातियों की स्वतन्त्रता के लिए भारत की स्वतन्त्रता का भारी महत्त्व था। भारत पृथ्वीमण्डल के और कम से कम एशिया के ऐसे नाके पर स्थित है कि उस भारत पर राजनैतिक प्रभुत्व रखने वालों के लिए यह सहज में ही सम्भव है कि वे उन सब प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमालें जो भारतीय महासागर के कक्ष में स्थित हैं। इतना ही नहीं, भारत ऐसा केन्द्रीय स्थान है कि इस पर प्रभुत्व रखनेवाले मध्य पूर्व दक्षिणी

एशिया, मध्य एशिया, तिब्बत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका इत्यादि इत्यादि पर भी सहज में ही अपनी राजनैतिक और सैनिक प्रभुता कायम कर सकते हैं। इसी कारण तो अंग्रेजों के लिए यह सम्भव हुआ कि वे मध्य पूर्व, अफ्रीका, मलाया, स्वर्णद्वीप माला इत्यादि इत्यादि पर अपना राजनैतिक या आर्थिक प्रभुत्व कायम कर सके। अपनी भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त भारत जन-धन के नाते भी इतना विशाल देश है कि राजनैतिक आकर्षण के सिद्धान्त से भी ये सब देश भारत के चारों ओर घूमने वाले उपग्रह के समान हों। भारत पर अपना राज्य जमाने के पश्चात् अंग्रेज इस राजनैतिक तत्व के कारण ही इन सब देशों में फैल गये और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष मालिक बन बैठे। अतः भारत से अंग्रेजों के राज हटने का यह अनिवार्य अर्थ था कि देर से या जल्द अंग्रेज इन देशों से भी विदा ले लें।

भारत भी अब अपनी स्वतन्त्रता के लिए पुनः आतुर हो उठा था। यह कहना तो सर्वथा अनुचित होगा कि अंग्रेजों के राज को सब भारतवासियों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था और भारत के अंग्रेजी राज्य में आजाने के पश्चात् वे उनकी राज-व्यवस्था से सर्वथा सन्तुष्ट हो गये थे। अंग्रेजों ने इस धोखे से भारत विजय किया था कि यहाँ के शक्तिशाली वर्गों को अन्त तक इस बात का अनुमान ही न लगा कि वे अपना राजनैतिक अस्तित्व खो रहे हैं। एक विद्वान् ने लिखा है कि अंग्रेजों ने भुलक्कड़पन के दौर में भारत को विजय कर लिया। उसका अपना यह मत है कि अंग्रेजों ने एक दिन भी यह न तो जाना कि वे भारत विजय कर रहे हैं और न ऐसा करने की कभी योजना बनायी। उसकी यह बात चाहे अंग्रेजों के लिए पूरी ठीक न भी हो, किन्तु इसमें तो कोई शंका नहीं कि भारत के सामन्तशाहों ने भारत से अपनी प्रभुता इस भुलक्कड़पन के दौर में ही खो दी। जब उनकी आँख खुली तो उन्होंने अत्यन्त उतावली से विद्रोह किया, किन्तु १८५७ का यह विद्रोह सफल न हुआ, हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जिन लोगों ने यह विद्रोह किया था उन्हीं की आपस की फूट ने तो भारत को अंग्रेजों के चंगुल में डाला था और वह फूट ऐसी न थी जो सहसा दूर हो जाये। १८५७ के विद्रोह में भी वह फूट ज्यों की त्यों बनी रही और वह विद्रोह विफल हो गया।

किन्तु उस विद्रोह से पूर्व ही इस देश में कुछ नये वर्गों का जन्म हो रहा था जिनका आगे चलकर अंग्रेजों से संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। इस विशाल देश में अपना राज्य कायम करने को अंग्रेजों के लिए यह आवश्यक था कि वे यहाँ के लोगों का ही सहारा लें। उनके लिए यह सम्भव न था कि गाँव-गाँव में जाकर वहाँ लगान वसूल करें और शान्ति व्यवस्था बनाये रखें। वे अधिक से अधिक कुछ केन्द्रीय स्थानों में ही रह सकते थे और ये काम कर सकते थे। अतः अपने राजकीय प्रशासन के लिए उन्हें यह आवश्यकता थी कि यहाँ के लोगों को नौकर रखें और उनसे ये बिखरे हुए काम करायें। यहाँ के लोगों को इन कामों के लिए नौकर रखने की उन्हें इसलिए भी आवश्यकता थी कि अपने इन छोटे अमलदारों के बीच ऐसे भारतीय रहें जो दुभाषिये हों, अंग्रेजी तथा देशी भाषा दोनों में बातचीत कर सकें, चिट्ठी-पत्री चला सकें। इसलिए उन्होंने इस देश में अंग्रेजी जाननेवाले भारतीयों के वर्ग का निर्माण किया। इन अंग्रेजी जाननेवाले अमलदारों के अतिरिक्त अंग्रेजों को ऐसे लोगों की भी आवश्यकता थी जो अंग्रेजों द्वारा बनायी हुई विधियों के अनुसार यहाँ न्याय के किये जाने में उनकी सहायता कर सकें। इसके लिए भी उन्हें अंग्रेजी जाननेवालों के वर्ग की स्थापना करनी पड़ी। अर्थात् अपने साम्राज्य के चलाने के लिए अंग्रेजों को ऐसे हाथ और पाँव निर्माण करने पड़े जो भारतीय थे। उन्होंने इस बात में कसर न रखी कि इन हाथ-पाँव के भारतीय अपनी चमड़ी के अतिरिक्त किसी बात में भारतीय न रहें वरन् अंग्रेज बन जायें, जिससे इस बात की आशंका न रहे कि ये भारतीय किसी दिन यहाँ की जनता से मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह करें। अतः उन्होंने यहाँ की शिक्षा को ऐसा पुट दिया कि वहाँ से निकलने वालों के मन में अपने पूर्वजों के प्रति, अपने देश-भाइयों के प्रति, अपनी परम्पराओं के प्रति, अपने ऐतिहासिक आदर्शों के प्रति और अपने प्राचीन गौरव के प्रति कोई मोह न रहे वरन् वे अंग्रेजी इतिहास, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी विचारधारा से इतने रंग जायें कि उन्हें यही लगे कि उनकी चरम सफलता और मुक्ति अंग्रेजियत में ही है। चाल तो बड़ी मार्के की थी, किन्तु अंग्रेजों ने मानव स्वभाव के उस रुख पर ध्यान न दिया कि इस प्रकार ये नये अंग्रेज शीघ्र ही अपने को पुराने और आदिम अंग्रेजों के समकक्ष बनाने का प्रयास करले

लगेंगे। बात है भी स्वाभाविक। जब हमें यह लगता है कि हम में और हमारे अन्य साथी में रंग के अतिरिक्त कोई अन्तर या भेद नहीं है तो हम यही चाहने लगते हैं कि हमारी भी वही हैसियत, वही आदर, वही सुख-सुविधायें हों, जो हमारे उस साथी को हैं। अतः अपने साम्राज्य के लिए इन निम्न कोटि के भागीदारों को तैयार करने में अंग्रेज यथार्थ में अपने भावी प्रतिद्वन्दी ही तैयार कर रहे थे। किन्तु इससे वे बच भी न सकते थे। उनके साम्राज्य के अन्तः-करण में ही यह अन्तर्द्वन्द निहित था इसलिए नियति ने ही उनका यह पथ और नीति निश्चित कर दी थी। उन्होंने इस नीति पर जोर-शोर से अमल १८३३ में करना आरम्भ किया। फल यह हुआ कि १८६७ के लगभग आधे अंग्रेजों की यह पीढ़ी तैयार हो गयी। इस पहली पीढ़ी में यह हौसला तो न हुआ कि वह अंग्रेजों से समकक्षता का दावा करने लगे, किन्तु आधे अंग्रेजों की दूसरी पीढ़ी ने यह दावा जोर-शोर से करना शुरू कर दिया। हो सकता है कि मेरा यह कथन कुछ भाइयों को खटके, किन्तु मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अंग्रेजों से हक की माँग करनेवाले भारतीयों को मैं आधे अंग्रेज की संज्ञा किसी अनादर भावना से नहीं दे रहा हूँ। क्या वाशिंगटन को कोई इसीलिए अनादर की दृष्टि से देख सकता है कि अंग्रेजी सामन्तशाही का वह अंग था और अपनी उसी स्थिति के कारण उसने अमरीका में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया था। इसी प्रकार कनाड़ा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि में भी अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध करनेवाले भी तो प्रवासी या औपनिवेशिक अंग्रेज ही थे और वे भी तो सब स्वतन्त्रता-प्रेमियों के लिए आदर के पात्र हैं। मेरे लिए भी वे सब भारतीय सम्माननीय हैं जिन्होंने १८८२ के पश्चात् अंग्रेजों के सामने भारतीयों की माँगें रखनी शुरू की थीं। इसके अतिरिक्त ये सब भारतीय ही इस बात में अपना गौरव समझते थे कि अंग्रेज लोग उन्हें अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का अनन्य उपासक तथा यन्त्र एवं भारत में उस संस्कृति का अग्रदूत मान लें। डब्ल्यू० सी० बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लालमोहन घोष प्रभृति के कांग्रेस के सभापति की हैसियत से दिये गये अभिभाषणों में यह बात साग्रह बार-बार कही गयी है कि हमने अंग्रेजों से सब कुछ सीखा है और अंग्रेजी संस्थाओं को अपनाने में ही हमारी मुक्ति है। उन लोगों को आधे अंग्रेज की

संज्ञा देकर मैं उनकी आत्मीय भावना को ही व्यक्त कर रहा हूँ। हाँ तो अंग्रेजी आदर्शों से प्रेरित और अंग्रेजी सभ्यता से आलोकित ये भारतीय अंग्रेजी साम्राज्यवादियों से बारम्बार माँग करने लगे कि हम लोगों को भी भारतीय साम्राज्य का अंग बनाया जाये। हमें भी अन्य अंग्रेजों के समान ही उच्च पद दिये जायें और हम में तथा अंग्रेजों में किसी प्रकार का विभेद न किया जाये। उनकी माँग की यह अनिवार्य दिशा थी कि वह बढ़ कर यह हो जाये कि भारत में भी अंग्रेजी राज्य की संस्थायें वैसी ही हों जैसी कि वे अन्य अंग्रेजी उपनिवेशों में हैं, क्योंकि वैसा करने से ही अंग्रेजी सभ्यता इस देश में सफल की जा सकती है। इन भारतीय अंग्रेजों को अपनी माँग जितनी स्वाभाविक और युक्तिसंगत लगती थी उतनी ही वह शुद्ध अंग्रेजों को हास्यास्पद और ऊटपटाँग लगती थी। अतः यह अनिवार्य था कि इन नये और शुद्ध अंग्रेजों में पारस्परिक प्रतिद्वन्दता और कलह बढ़ता जाये। यही बात बहुत कुछ मुसलमानी राज्य में हुई थी। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि बल्बन के ज़माने से ही दिल्ली की सल्तनत में तुर्की मुसलमान और देशी मुसलमानों में राज्य में अपना-अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए बराबर संघर्ष होता रहा। फिर दिल्ली सल्तनत के सदा डाँवाडोल बने रहने का कारण भी यह विदेशी और देशी मुसलमानों का संघर्ष जारी रहा। सच तो यह है कि एक जाति के दूसरी जाति पर सभी साम्राज्यों के इतिहास में यह बात दिखायी पड़ती है। अतः इस देश में भी यह होना ही था और हुआ भी। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षित वर्ग की संख्या बढ़ती गयी त्यों-त्यों इस वर्ग का अंग्रेजों के प्रति राजनैतिक और आर्थिक विद्वेष भी बढ़ता गया। आज जब मैं यह सुनता हूँ कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को सरकारी नौकरियों के लिए इतना उत्सुक न रहना चाहिए तो मुझे हँसी आती है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे यह भूल जाते हैं कि इस वर्ग का जन्म ही अंग्रेजी साम्राज्य में नौकरी करने के लिए हुआ था। इसकी खुराक, इसका दूध, इसकी घुट्टी नौकरी और केवल सरकारी नौकरी ही तो है। जैसे किसी अन्य वर्ग के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपनी जन्मजात प्रेरणाओं का परित्याग कर सके वैसे ही इस वर्ग के लिए यह संभव नहीं है कि वह राज्य में किसी न किसी प्रकार घुसने के अपने प्रयत्न को छोड़ दे। हाँ तो १८८२ के पश्चात्

अंग्रेजी शिक्षित वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ती रही थी और महायुद्ध की समाप्ति तक वह लाखों की तादाद में पहुँच चुकी थी साथ ही वह भारत के छोटे-छोटे नगरों तक में फैल गयी थी। जहाँ-जहाँ यह वर्ग था वहाँ-वहाँ अंग्रेजी साम्राज्य में भागीदार बनने की, चाहे फिर वह निम्न कोटि का ही भागीदार क्यों न हो, आकांक्षा भी फैल चुकी थी। दूसरे शब्दों में अंग्रेज़ी साम्राज्य के हृदय का यह अन्तर्द्वन्द शनैः शनैः भारत की नसों में व्याप्त होता जा रहा था। बहुधा यह कहा जाता है कि अंग्रेजी शिक्षा ने ही तो भारत को स्वराज्य की प्रेरणा प्रदान की एवं यहाँ क्रान्ति की ज्योति जगायी। इस कथन में सत्यता है, किन्तु इतनी ही कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारत में ऐसे वर्ग को पैदा किया जो हर बात में अंग्रेज था, जो शुद्ध अंग्रेज से अंग्रेज होने के नाते अंग्रेजों के जन्मजात अधिकार अर्थात् राजनैतिक तंत्र में भाग रखने के अधिकार की माँग करता था और उसके लिए अंग्रेज के सामने डटकर खड़े हो जाने के लिए भी तैयार था। किन्तु साथ ही स्मरण रहे कि यह वर्ग नाम के लिए ही भारतीय रह गया था। आत्मा उसकी अंग्रेज थी। जब वह राजनैतिक तंत्र में अपने अंश की माँग करता था या भारत में औपनिवेशिक तंत्र की स्थापना की माँग करता था तो उसका यह अर्थ न था कि यहाँ की साधारण जनता राज की स्वामिनी हो वरन् उसका केवल यही प्रयोजन और अभिप्राय था कि यहाँ अंग्रेजी संस्थाएँ कायम हो जायँ जिन पर इस नये अंग्रेजी वर्ग का प्रमुख आधिपत्य रहे। किन्तु इसके बावजूद यह तो मानना ही होगा कि यह निरन्तर फैलनेवाला अंग्रेजी वर्ग शुद्ध अंग्रेजों के साम्राज्य का विरोधी तो था ही।

अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध करने वाली एक अन्य शक्ति भी उन्हीं दिनों तैयार हो रही थी। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत में अंग्रेज व्यापार के लिए आये थे। धीरे-धीरे उन्होंने या तो इस देश के उद्योग-धन्धे मिटा डाले या फिर उन्हें अपने हाथ में कर लिया। किन्तु इस क्षेत्र में भी उनके सामने वही कठिनाई थी जो प्रशासनिक क्षेत्र में थी। उनकी संख्या थोड़ी थी। उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे भारत के छोटे से छोटे नगर और ग्राम में अपने व्यापार को फैलाने के लिए हिन्दुस्तानी दलालों, आढ़तियों एवं व्यापारियों का सहारा लें। अतः आरम्भ से ही उन्होंने यहाँ के व्यापारियों से साठगाँठ शुरू कर

दी थी। यह कहना अनुचित न होगा कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के स्थापित होने में इन भारतीय व्यापारियों का प्रमुख हाथ रहा था। ये व्यापारी बहुधा मुसलमानों या मराठों से अपमानित होते थे। मुसलमानों के विरुद्ध तो उन्हें यह भी शिकायत हो जाया करती थी कि वे उनकी बहू-बेटियों पर बलात्कार करने का प्रयास करते हैं। अतः अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के आरम्भिक दिनों में अनेक व्यापारियों की उन्हें सहायता मिली। अमीचन्द, जगत सेठ आदि के नाम इतिहास में प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु संभवतः ऐसा बिरला ही महत्त्वपूर्ण राजनैतिक या आर्थिक केन्द्र रहा हो जहाँ के प्रभावशाली व्यापारियों की सहायता अंग्रेजों को न मिली हो। किन्तु जहाँ इन लोगों में यह गठबन्धन था वहाँ उनके पारस्परिक सम्बन्धों में आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व भी था। व्यापार की यह नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि उसका दायरा और परिमाण या तो बढ़ता जाता है या घटता जाता है। वहाँ स्थायित्व के लिए लगभग कोई गुंजायश नहीं होती। किन्तु अंग्रेज भारतीय व्यापारियों के व्यापारिक क्षेत्र को एक सीमा तक ही बढ़ने दे सकते थे, उससे अधिक नहीं। अतः जब वह दिन आया कि भारतीय व्यापारी उस सीमा को पार करने लगे तो अंग्रेज और भारतीय व्यापारियों में यह अन्तर्द्वन्द फूट पड़ा। अंग्रेजों के आने से पहले भारत का प्रमुख उद्योग सूती कपड़ा बनाना था। उसी उद्योग को हथियाकर अंग्रेज भारत से करोड़ों रुपया प्रति वर्ष खींच रहे थे। इस व्यापार में लाभ को देखकर कुछ भारतीयों ने भी यहाँ कपड़ा मिलें बनायीं। सर्वप्रथम ये कपड़ा मिलें अहमदाबाद और बम्बई में लगायी गयी थीं, किन्तु इनका लगना था और अंग्रेज व्यापारियों को अपने उद्योग के मिट जाने की आशंका होने लगी। उन्होंने इंगलैण्ड की सरकार पर जोर डाला और भारत में बने, भारत के लिए बने कपड़े पर इतना उत्पादन शुल्क (एक्साइज ड्यूटी) लगवा दिया जितने से कि वह भारत की मंडियों में इंगलैण्ड से आनेवाले कपड़े से सस्ता न बिक सके। भारतीय उद्योगपति प्रयास करते रहे कि यह शुल्क न लगे, यहाँ तक कि अंग्रेजों की ही भारत सरकार ने भी इस शुल्क के खिलाफ आवाज उठायी, पर किसी की एक न सुनी गयी और यह शुल्क ज्यों का त्यों रखा गया। इस प्रकार शनैः शनैः एक नया वर्ग तैयार होने लगा जो भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का शत्रु था।

जैसे अंग्रेजी शिक्षित वर्ग स्वदेश के नाम पर प्रशासन का स्वदेशीकरण चाहता था उसी प्रकार इन व्यापारियों के वर्ग ने स्वदेशी माल का नारा बुलन्द किया। जैसे-जैसे इस वर्ग की वृद्धि हुई वैसे-वैसे उनकी माँग जोरदार होती गयी। जब महायुद्ध में इंगलिस्तान से कपड़ा आने में कठिनाई हुई तब इन भारतीय मिलों को यह सुविधा हुई कि भारतीय मण्डियों में वे अपना प्रभुत्व स्थापित करलें। वे इस सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। किन्तु महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् इंगलैण्ड से फिर माल आना शुरू हो गया और इन उद्योग-पतियों को यह दिखायी पड़ने लगा कि उन्हें पुनः अंग्रेजों से प्रतिद्वन्दता करनी पड़ेगी। अतः महायुद्ध के पश्चात् इस वर्ग के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि अंग्रेज यहाँ से जायँ और राज्य की बागडोर भारतीयों के हाथ में आये। किन्तु उनकी इस इच्छा के पीछे भारत की साधारण जनता की इच्छा का आदर उतना न था जितना कि इस बात का खयाल कि अंग्रेजों के चले जाने पर वे भारत की मंडियों में अंग्रेजी माल को न आने देंगे और इस प्रकार मन-चाहा लाभ उठायेंगे। किन्तु उनमें से अधिकांश की आन्तरिक भावनाएँ जो भी रही हों पर उनमें से ऐसे भी बहुत से भाई थे जो शुद्ध हृदय से स्वराज्य के इच्छुक थे। यह बात तो स्पष्ट है कि महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध यह दूसरी प्रबल शक्ति भारत में खड़ी हो गयी थी।

किन्तु ये दोनों शक्तियाँ इतनी प्रबल न थीं कि स्वमेव वे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को उखाड़ फेंकें। यह ठीक है कि आदर्शवादी युवक वर्ग में से कुछ युवक अवश्य थे जो भारत से अंग्रेजी राज्य को बल द्वारा उखाड़ फेंकने का स्वप्न देखते थे। भारत से विदेश गये कुछ भारतीय भाई भी इन्हीं भावनाओं से प्रेरित थे। बंग-भंग के दिनों में बंगाल में ऐसी दो क्रान्तिकारी समितियों का संगठन हुआ था और उन्होंने कुछ स्थानों में अंग्रेज अफसरों पर हमले भी किये थे। ऐसे ही महाराष्ट्र में भी चिपनूंकर भाइयों ने भी षड्यन्त्र किया था और बल-प्रयोग द्वारा अंग्रेजों को यहाँ से निकालने की योजना बनायी थी। किन्तु ऐसे प्रयास कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक ही सीमित थे और सीमित हो सकते थे। फलतः इनसे अंग्रेजी साम्राज्य के मिटाने का प्रश्न हो ही नहीं सकता था। यही हुआ भी।

समय-समय पर पुलिस ने इन दलों के सदस्यों को पकड़ा और उन्हें फाँसी दिलवायी या फिर काला पानी। महायुद्ध के दिनों में भी गदर पार्टी ने जर्मनी से हथियार मंगाकर यहाँ हिंसात्मक कार्रवाई करनी चाही, पर उसको भी पुलिस ने शीघ्र ही धर दबोचा। इन सब प्रयासों में यह कमी थी कि उनके पीछे यहाँ की असंख्य जनता का समर्थन और बल न था। जैसा मैं कह चुका हूँ ये सब शक्तियाँ अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्द्वन्द से उत्पन्न हुई थीं। उनकी जड़ें इस देश की भूमि और यहाँ की जनता के हृदय में न थीं। अतः ये शक्तियाँ किसी सीमा तक ही विकसित हो सकती थीं, उससे अधिक नहीं।

किन्तु यहाँ की जनता भी शनैः शनैः उस अवस्था में पहुँच रही थी जहाँ उसे अपने भावी जीवन के लिए अंग्रेजी साम्राज्य का विध्वंस करने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न था।

हमारे देश के लगभग अस्सी प्रतिशत नर-नारी ग्रामों में रहते हैं। दूसरे शब्दों में हमारे देश के इतने लोगों की आजीविका का साधन खेती-बाड़ी और घरेलू उद्योग-धन्धे हैं। जब तक हमारे देश के ग्रामीण प्रदेशों में शीघ्रगामी यातायात की पहुँच न हुई थी तब तक इन प्रदेशों के लोग आर्थिक दृष्टि से अधिकतर स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर थे। चर्खे पर सूत कातकर और कर्घे पर बुनकर वे अपनी आवश्यकताओं के लिए कपड़ा बना लेते थे। अपनी गायों का दूध और मक्खन उन्हें पर्याप्त मिलता था। अपनी खेती की पैदावार से वे खा-पी लेते थे और सरकारी लगान और मालगुजारी दे देते थे। उन दिनों ग्रामीण प्रदेशों में गान की हिलोरें भरी रहती थीं और नित्य नये त्यौहार आमोद-प्रमोद होते थे। तब तक नगर और ग्राम में वैसी सांस्कृतिक और सामाजिक खाई न खुदी थी जैसी अंग्रेजी साम्राज्य के जमाने में खुद गयी। ग्राम और नगर में रोटी-बेटी का बराबर सम्बन्ध होता और न तो ग्रामीण को नगर ही परदेश लगता और न नगरवासी को ग्राम ही असभ्य देश लगता। साथ ही अनेक राजा थे, महाराजा थे और इस प्रकार यहाँ के अनेक ग्रामीणों को सेनाओं में स्थान मिलता रहता था। किन्तु ग्रामीण प्रदेशों की यह आर्थिक व्यवस्था सहसा समाप्त हो गयी। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ आयी रेलें और इनकी लोहे की नलियों द्वारा सोखा जाने लगा यहाँ के ग्रामीण प्रदेशों का

आर्थिक रक्त एवं मज्जा। जमींदारों के प्रशासनिक कर्तव्य जाते रहे। उन्हें ग्रामीण प्रदेशों में रहना हो गया अनावश्यक। वे खिंचने लगे साहबों की सिविल लाइन की ओर। इन सिविल लाइनों की सुरा-सुन्दरियों के तकाजों से लगे जमींदार अपनी रैयत से अधिकाधिक धन खींचने। इसी प्रकार अंग्रेजी व्यापारियों के कारिन्दों और दलालों ने खरीदना शुरू किया कच्चा माल। फलतः जो घरेलू धन्धे थे वे स्वयमेव खत्म होने लगे। शनैः शनैः ग्रामीण प्रदेशों में खेती के सिवा और कुछ न रहा। उनकी आत्मनिर्भरता खत्म हो गयी। वे अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए नगरों के आश्रित हो गये। इस सुविधा से लाभ उठाकर नगरों ने ग्रामीणों का दोहन आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि ग्रामीणों का धन नगरों को खिंचने लगा। ग्राम और नगर के आर्थिक स्तरों में जमीन आसमान का फर्क पड़ने लगा। महायुद्ध के पूर्व तक स्थिति यह हो चुकी थी कि ग्रामों में दरिद्रता, अज्ञान और रोग का एकछत्र साम्राज्य हो गया था। महायुद्ध के दिनों में किसानों को कुछ ढाढ़स मिला। अनाज के दाम चढ़े और किसान को पहले की अपेक्षा कुछ अधिक आय हुई; पर यह नहीं कि उन्हें कठिनाई के दलदल से उबार दे

किन्तु महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् फिर मन्दी आनी आरंभ हुई और किसान को फिर मुसीबत का सामना करना पड़ने लगा। वह यह न जानता था कि उस पर यह मुसीबत क्यों आ रही है, पर वह इस मुसीबत से मुक्ति पाने के लिए व्याकुल था। उसे अपना कोई सहायक और हमदर्द नजर न आता था। जमींदार तो अब शहरों के साहब थे, जिनसे गाली के अतिरिक्त और मिलता ही क्या था। वकील लोग बिना पैसे के बात न करते थे। पटवारी, तहसीलदार, कलक्टर सब की ठोकरें ही उसे मिलती थीं। महायुद्ध के दिनों में यह और भी बढ़ गयी थीं—"इतने आदमी दो, इतना पैसा दो"—यह हुक्म हो जाता था। फिर उन बेचारों के बूते में वह पैसा देना हो या न हो, वह उनसे बलपूर्वक वसूल किया जाता था चाहे फिर वह अपनी पत्नी का लहँगा बेचकर ही उसे क्यों न इकट्ठा करे। उनके लाड़ले नौजवान लड़कों को जबरदस्ती पकड़कर फौज में भर्ती कर लिया जाता था और काले कोसों दूर भेज दिया जाता था, अपनी जान की आहुति देने। उन अमलों से वे क्या

आशा कर सकते थे ? अतः ग्रामवासी अत्यन्त असहाय और एकाकी हो गये थे । उन्हें यदि कोई आशा थी, कोई सहारा था तो केवल भगवान् का । किन्तु उनके फूटे कपाल से वे भी तो कहीं सो गये प्रतीत होते थे, जो उनकी इतनी मिन्नत इतनी दाद-फरियाद के बाद भी उनकी सहायता करने न आते थे । हाँ, भगवान् की यह प्रतिज्ञा उन्हें बार-बार याद आती थी कि "जब जब भीर पड़े भक्तन पर नंगे ही पावन आऊँ" । उन्हें भरोसा था भगवान् की इस प्रतिज्ञा का । दूसरे शब्दों में ग्रामीण प्रदेशों में व्यथा का अपार सागर एकत्रित हो रहा था, किन्तु उसका जल अभी बँधा पड़ा था, वह क्रान्ति की धारा में बह न निकला था । पर यह अनिवार्य था कि वह अथाह व्यथा का जल अधिक दिनों तक यों ही बँधा न रहेगा, वह बहेगा पर उस दिन जब भगवान अवतार लेकर इस ग्रामीण प्रदेश के हृदय के कपाट खोल देंगे । किन्तु उस दिन जो क्रान्ति की लहर बहेगी उसे एक अंग्रेजी साम्राज्य तो क्या अनेक अंग्रेजी साम्राज्य भी न रोक सकेंगे ।

अतः महायुद्ध के पश्चात् भारत में वे परिस्थितियाँ वर्तमान थीं जो क्रान्ति की अग्र सूचना होती हैं । समस्त देश का हृदय उस समय केन्द्रित होकर उस मुरली की तान की अपेक्षा कर रहा था जो जगत् में नव सृष्टि का संदेश लाती है ।

मुरली की वह तान महायुद्ध के पश्चात् सुनायी दी । भारत के कोने-कोने में एक प्रतिज्ञा भी प्रतिध्वनित हो उठी—"मैं तुम्हें एक वर्ष में ही मुक्ति दिलाऊँगा । आओ, मेरे पीछे आओ, मेरे पीछे आओ ।" अनेक शताब्दियों के पश्चात् इस विश्वास भरी वाणी में मुक्ति की प्रतिज्ञा सुनायी पड़ी थी, वह प्रतिज्ञा जिसकी देश का प्रत्येक नर-नारी प्रतीक्षा कर रहा था । सारी जनता में आनन्द की लहर दौड़ गयी । नर-नारियों को विश्वास हो गया कि उनके त्राता का, उनके रखैया का जन्म हो गया है । भगवान् ने उनका स्मरण कर लिया है और वे अपना नवचक्र लेकर भारत की मुक्ति के लिए पुनः अवतरित हुए हैं ।

कैसा सुन्दर, कैसा सुखद, कैसा स्फूर्तिप्रद था वह क्षण ! आज भी जब उसकी स्मृति आती है तो शरीर का रोम-रोम खिल उठता है ।

उन दिनों किसी ऊँचे भारतीय के लिए यह संभव ही न था कि वह उस क्रान्ति की धारा से अछूता रह सके। ठीक है कि कांग्रेस के कुछ पुराने नेताओं ने कांग्रेस का साथ छोड़ दिया, क्योंकि उन्हें यह नयी पुकार कुछ अनोखी, कुछ अटपटी, कुछ व्यर्थ सी लगी, किन्तु हमारे देश में प्रथम बार यह संभव हुआ कि असंतोष की धाराओं का संगम हो और वे एकाकार होकर प्रबल क्रान्ति-धारा में आगे बह निकले। उससे पूर्व अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले अधिकतर नगर के मध्यमवर्ग के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही थे। इन अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में ऐसे भी कुछ विद्वान् और मनीषी थे, जिन पर भारतीय संस्कृति और दर्शन शास्त्र की गहरी छाप थी। श्री विपिन चन्द्रपाल, लाला लाजपतराय और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारतीय संस्कृति के सच्चे भक्त और उपासक थे और यद्यपि कांग्रेस में उनका आरंभ में अल्पमत ही था, किन्तु वे देश के नवयुवकों के बेताज के बादशाह थे। पर उनका प्रभाव भी अधिकतर नगरों तक ही सीमित था। वे हमारे ग्रामीण प्रदेशों की आवाज, हृदय और मस्तिष्क न बन पाये थे। अतः यद्यपि नेताओं का यह आग्रह था कि भारत अपने बल से ही अंग्रेजों से अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है तथापि उनका बल भारत का जन बल न होकर वर्ग विशेष का ही बल था। किन्तु जब महात्मा गान्धी देश के समक्ष अपनी प्रतिज्ञा लेकर खड़े हो गये तब भारत के ग्रामीण प्रदेश भी उनकी वाणी से नव जीवन से संचरित हो गये और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन नगरों की दीवारों और मध्यम वर्ग के दायरे को पार कर भारत के कोने-कोने में फैल गया। उनकी जय का घोष हिमालय के शिखरों और कन्दराओं से लेकर कुमारी द्वीप में समुद्र की उत्ताल तरंगों तक और द्वारावती से लेकर ब्रह्मदेश तक गूंज उठा। हर प्रान्त, हर नगर, हर ग्राम मुखरित हो उठा—"महात्मा गान्धी की जय"—"महात्मा गान्धी की जय !"

असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि और उसमें सम्मिलित होने तक मेरी परिस्थिति तथा मनोदशा

सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम के पश्चात् इस देश में अंग्रेजी राज्य की जड़ें जमने पर असहयोग आन्दोलन आरम्भ होने के पहले और उसके आरम्भ होने के पश्चात् की यहाँ की राजनीति में महान् अन्तर था। सन् १८५७ के घोर दमन के कारण तथा देश के निश्शस्त्रीकरण हो जाने से असहयोग आन्दोलन आरम्भ होने से पहले तक इस देश की राजनीति निष्क्रिय राजनीति थी। असहयोग आन्दोलन से वह सक्रिय हो गयी। यद्यपि देश की प्रधान राजनैतिक संस्था कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में ही हो गयी थी, पर जब इसकी स्थापना हुई उस समय इसका मुख्य उद्देश्य था देश के राजनैतिक वायुमण्डल से शासकों को अवगत कराते रहना। कांग्रेस के प्रस्तावों को देखने से जान पड़ता है कि पहले हर वर्ष तीन दिन बैठकर कितने मुलायम-मुलायम खुशामद से ओत-प्रोत शब्दों और वाक्यों में कांग्रेस सरकार से कुछ विनम्र निवेदन कर दिया करती थी। धीरे-धीरे इस भाषा में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन हो चला। इन विनम्र निवेदनों में कुछ जोर आया और जब निवेदनों की सुनायी न हुई तब थोड़ा सा पर बहुत ही हलका शाब्दिक विरोध आरम्भ हुआ। अंग्रेजी में कांग्रेस की उस समय की नीति को "प्रेयर, पिटीशन एण्ड प्रोटेस्ट" अर्थात् प्रार्थना आवेदन-पत्र एवं विरोध कहते हैं। फिर भी असहयोग तक यह सब निष्क्रिय ही था, क्योंकि इन विरोधों के बाद भी जब कुछ न होता तो चुप्पी। असहयोग सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध के पश्चात् पहला आन्दोलन था जिसमें जब माँग का सरकार से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला तब देश की जनता से कुछ करने को कहा गया और असहयोग आन्दोलन से लेकर देश के स्वतन्त्र हो जाने तक प्रायः २७ वर्षों के दीर्घकाल में इस देश का नेतृत्व किया केवल एक व्यक्ति

महात्मा गान्धी ने, जो इस काल का केवल इस देश का ही नहीं पर सारे संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माना गया।

गान्धीजी ने आधुनिक भारत के केवल राजनैतिक नेता के रूप में इस देश के नेतृत्व को सँभाला हो यह नहीं, उन्होंने इस देश के जीवन के हर क्षेत्र का नायकत्व किया। वे देश के जीवन के हर क्षेत्र में घुसे। उन्होंने उसे बारीकी से देखा। हर क्षेत्र की समस्याओं को समझ उनके हल सोचे। हर क्षेत्र में ही साधारण परिवर्तन नहीं क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। देश की आजादी और ईश्वर पर निर्भरता उनके कार्य रथ के दो चक्र थे। अपने सन्देश को सुनाने के लिए उनकी भाषा भी नवीन थी और जो कुछ वे कहते उसे अन्यों से कार्य रूप में परिणत कराने के पहले स्वयं कार्य रूप में परिणत करते।

रोमा रोलाँ ने एक जगह लिखा है—"शब्दों से यथार्थ में कोई किसी को प्रभावित नहीं कर सकता, प्रभावित कर सकता है अपने जीवन से।" गान्धी ने संसार को प्रभावित किया अपने जीवन से। उनका प्रभाव देश के धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक, सारे के सारे सामाजिक जीवन पर पड़ा। देश का नेतृत्व गान्धीजी के हाथ में आने तक देश के नेता अलग-अलग क्षेत्र के नेता थे; कोई राजनैतिक, कोई समाज-सुधारक, कोई धार्मिक। कई उग्र राजनैतिक नेता समाज सुधार की दृष्टि से दकियानूसी कहे जा सकते थे और कई कट्टर समाज-सुधारक राजनैतिक दृष्टि से पस्त हिम्मत। परन्तु गान्धीजी थे सब दृष्टियों से क्रान्तिकारी। उनका समूचे जीवन के सम्बन्ध में एक विशिष्ट दर्शन था और उस दर्शन के आधार स्तम्भ थे—सत्य और अहिंसा। साध्य और साधन में उन्होंने कभी भी कोई अंतर नहीं किया।

चीन देश की एक कहावत है—"जो सत्य को जानते हैं वे सत्य से प्रेम करनेवालों के बराबर नहीं, और जो सत्य से प्रेम करते हैं वे उनके बराबर नहीं जो सत्य के आचरण में आनन्द का अनुभव करते हैं।" गान्धीजी उन मानवों में थे जिन्हें साध्य और साधन दोनों में ही सत्य के अवलम्बन में सच्चा आनन्द आता है। यही उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी। फिर गान्धीजी सच्चे भारतीय थे। उनका कोई भी कार्यक्रम इस प्राचीन देश की संस्कृति और सभ्यता के विरुद्ध नहीं हुआ। राष्ट्रीय होते हुए वे अन्तर्राष्ट्रीय हुए। समय

व्यक्ति को उत्पन्न करता है या व्यक्ति समय का निर्माण, इस विषय में विचारकों में सदा मतभेद रहा है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा, परन्तु मैं तो दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध मानता हूँ। संसार के इतिहास से पता लग जाता है कि विशिष्ट परिस्थितियों ने विशिष्ट व्यक्तियों को जन्म दिया है, पर फिर उन विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने समय का विशिष्ट रूप से निर्माण भी किया है। यदि गान्धीजी का उदय इस देश की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण हुआ तो उन्होंने इस देश के जीवन का एक विशिष्ट प्रकार से निर्माण भी किया। और समूचे देश के जीवन के इस निर्माण में अनेक व्यक्तियों के जीवन का निर्माण मुख्य बात थी, जिसके बिना समूचे देश के जीवन का निर्माण सम्भव ही न था। शेख सादी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "गुलिस्तां" में एक स्थान पर कहा है—"मिट्टी के ढेले में गुलाब की सोहबत के सबब खुशबू आ गयी है अन्यथा वह तो कोरी मिट्टी का ढेला था।" गान्धीजी न जाने कितने जीवनों में यह सुगन्ध लाये। फ्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर ने नैतिकता को नैसर्गिक धर्म कहा है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह किसी धर्म का भी अनुयायी हो, गान्धीजी यही नैसर्गिक धर्म समझते थे। अनेक शताब्दियों पूर्व चीन के प्रसिद्ध धर्म-प्रवर्तक लाओत् जू ने कहा था—"सबसे महान् विजेता वे हैं जो अपने शत्रुओं को बिना युद्ध के परास्त करते हैं।" गान्धीजी ने जीवन में युद्ध तो अनेक किये, पर वे थे अहिंसात्मक युद्ध और उनकी रचना घृणा की नींव पर न होकर प्रेम की नींव पर हुई थी। विश्व के इतिहास में न कभी इस प्रकार के युद्ध लड़े गये थे और न बिना खून बहाये इस प्रकार किसी व्यक्ति ने अपने शत्रुओं को जीता था। यथार्थ में गान्धीजी तो विपक्षियों को भी शत्रु न मानते थे। गलत रास्ते पर चलनेवाले हर व्यक्ति और समुदाय को ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न ही उनके जीवन का उद्देश्य था और वह जीवन के हर क्षेत्र में। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट ने एक जगह लिखा है—"उस सिद्धान्त के अनुसार जीवन यापन करो जिसे तुम विश्वव्यापी होने की आशा कर सकते हो।" गान्धीजी को अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यही आशा थी और आज जब हम विश्व के विचारकों की विचार-सरणि देखते हैं तब हमें जान पड़ता है कि गान्धीजी की वह आशा फलवती हुई है। फिर गान्धीजी ने इहलोक और परलोक दोनों पर दृष्टि रखी थी। एक अन्य पश्चिमी

विद्वान क्लाइब बैल ने लिखा है—"इहलोक और परलोक दोनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करनेवाले ही सच्चे तत्त्ववेत्ता हैं।" इसके सिवा वे छोटी-छोटी बातों का बड़ी-बड़ी बातों की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान रखते थे। बड़ी-बड़ी बातों की ओर तो प्रायः ध्यान रखा ही जाता है, पर छोटी-छोटी बातों की ओर नहीं। यह जीवन यथार्थ में छोटी-छोटी बातों, छोटी-छोटी घटनाओं का समूह है। जानसन ने एक जगह लिखा है—"छोटी-छोटी बातों में महानता ही सच्ची महानता है।" वे हर छोटी से छोटी कृति के पूर्व गहन से गहन विचार करते। इतना अधिक काम करते हुए भी विचार करने के लिए उन्होंने एक मार्ग निकाला था—सप्ताह में एक बार मौन। आजकल के विद्वान इस तरह की बातों का मजाक उड़ाया करते हैं। पर आप जानते हैं बेकन के सदृश आधुनिक विद्वान ने मौन के सम्बन्ध में क्या लिखा है? बेकन लिखता है—"मौन निद्रा के समान एक वस्तु है। निद्रा शरीर को नवजीवन देती है, मौन बुद्धि को नवजीवन देता है।" गान्धीजी पश्चिमी विद्वानों में टालस्टाय और रस्किन के बड़े भक्त थे। रस्किन ने एक जगह लिखा है—"जहाँ सत्य, संयम और न्याय की रक्षा होती है वहाँ शक्ति, शान्ति और सुख की स्वयं साधना हो जाती है।" मैं नहीं जानता कि रस्किन के इस कथन की ओर गान्धीजी का ध्यान गया था या नहीं, पर उनका कार्य इस कथन के अनुरूप ही हुआ। लैस्की ने एक स्थान पर लिखा है—"आदर्शों का निर्णय सरल है, पर उनकी प्राप्ति के साधनों का निश्चय उतना ही कठिन।" गान्धीजी ने अपने आदर्शों की प्राप्ति के लिए साधनों का भी समान रूप से निश्चय किया था। गान्धीजी प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता निचे के इस कथन के अनुरूप थे—"मानव को समस्या न होकर समस्या का हल होना चाहिए।"

दक्षिण अफ्रीका में अपने कुछ प्रयोगों में सफलता प्राप्त कर गान्धीजी सन् १९१५ के लगभग भारत में आ गये थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास जब भारतवर्ष के उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिग ने किया उस समय महामना मालवीयजी का मेरे पिताजी से सम्बन्ध होने के कारण मेरे पिताजी को भी उन्होंने निमंत्रित किया था। मैं भी उस समय पिताजी के साथ बनारस गया था। वहाँ सर्वप्रथम मैंने दूर से ही गान्धीजी के दर्शन

किये थे। महाराजा दरभंगा की अध्यक्षता में जिस सभा में गान्धीजी और श्रीमती एनी बेसेण्ट का विवाद हुआ था और अन्य अनेक राजा-महाराजाओं के साथ सभा के अध्यक्ष भी सभा में चंपत हो गये थे। उस प्रसिद्ध सभा में भी मैं मौजूद था। रौलट बिल के विरोध में जो देशव्यापी हड़ताल, उपवास, जुलूस और सभाएँ हुईं उनसे गान्धीजी का समूचे देश का नेतृत्व आरम्भ हुआ और अब उनका प्रभाव बढ़ चला।

सर्वव्यापी विरोध के पश्चात् भी सरकार ने रौलट बिल पास कर डाला था। पंजाब के हत्याकाण्ड की जाँच की जब नेताओं ने माँग की तब सरकार ने श्री हण्टर के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की। परन्तु ऐसी कमेटी से न्याय-पूर्ण जाँच की आशा न कर कांग्रेस ने अपनी ओर से एक जाँच कमेटी बनायी।

भारत के लोकप्रिय नेता भी पंजाब पहुँचे, जिनमें मुख्य थे महात्मा गान्धी। गान्धीजी के पंजाब पहुँचने से पंजाब के लोगों को बड़ी सान्त्वना मिली। उस वर्ष दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ। उसके सभापति पं० मोतीलालजी चुने गये। यहाँ नरम और गरम दलवाले सम्मिलित थे तथा यहीं पर प्रस्तावों के ऊपर उनमें फूट पड़ना आरम्भ हुआ। जहाँ नवीन पास होनेवाले माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार को कुछ लोग अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशामय समझते थे वहाँ नरम दलवाले सुधारों का स्वागत करते हुए मिस्टर माण्टेग्यू को उनके प्रयत्नों के लिए धन्यवाद देना चाहते थे। उस समय तक सरकार की न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखनेवाले महात्मा गान्धी ने इस बात पर नरम दलवालों का साथ दिया।

यहाँ पर वास्तव में कांग्रेस की बागडोर बदल जाने की सम्भावना दिखी। इस समय कांग्रेस के सबसे प्रसिद्ध नेता थे लोकमान्य तिलक तथा जब गान्धीजी द्वारा विरोध करने पर भी लोकमान्य ने अपने प्रभाव से पंजाब के हत्याकाण्ड सम्बन्धी प्रस्ताव पास करा लिया, तो गान्धीजी ने नम्रता-पूर्वक कांग्रेस से अलग होने की इच्छा व्यक्त की। दूरदर्शी तिलक परिस्थिति को भाँप गये तथा देश के भावी नेता गान्धीजी से समझौता करते हुए उस प्रस्ताव को उन्होंने गान्धीजी की इच्छा के अनुसार ही पास करा दिया। अब गान्धीजी के हाथ में देश का नेतृत्व आ रहा था।

कांग्रेस के इस अधिवेशन के उपरान्त सरकार द्वारा नियुक्त की हुई हंटर-कमेटी की रिपोर्ट निकली जिसमें जनरल डायर के कामों पर कलई पोतते हुए उसकी करणी को कर्तव्य-बुद्धि की समझ की भूल कहा गया। जनरल डायर को नौकरी से बरखास्त किये जाने पर, भारतवर्ष की अंग्रेज स्त्रियों ने बीस हजार पौण्ड इस अपने त्राता को दिये तथा इंगलैण्ड में उसे सोने की तलवार भेंट की गयी। अब इस नयी रोशनी में गान्धीजी ने सर माइकेल ओडायर का यह तार कि "आपका कार्य ठीक था। लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सराहना करते हैं" तथा लार्ड चेम्सफोर्ड की चेतावनी का कि इस आन्दोलन को कुचलने में सरकार अपनी सारी शक्ति लगा देगी, स्मरण किया तो उनकी आँखें खुल गयीं। उनके हृदय में सरकार की न्याय-बुद्धि के प्रति जो आस्था थी उसकी धज्जियाँ उड़ गयीं। जो गान्धीजी माण्टेग्यू को धन्यवाद देने के पक्ष में थे, पंजाब हत्याकाण्ड में भारतीयों की हिंसा की निंदा करनेवाले थे, वे अब सरकार से असहयोग के कट्टर हिमायती हो गये। हिंसा की असफलता वे देख चुके थे अतएव असहयोग का अस्त्र उन्होंने निकाला। उसकी नवीनता के कारण उस समय के अनेक राजनीतिज्ञ उसके विरोधी थे। सरकार ने उसे सारी मूर्खतापूर्ण योजनाओं में से सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण योजना कहकर उसी के फलस्वरूप धारा सभाओं के बहिष्कार से जो परिस्थिति उत्पन्न हुई थी उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियात्मक उत्तेजना को छिपाया।

दुर्भाग्य से १ अगस्त को लोकमान्य तिलक का निधन हो गया। गान्धीजी ही अब कांग्रेस के सर्वेसर्वा थे। उनके इस असहयोग की योजना पर विचार करने कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। सभापति लाला लाजपत राय एवं उस समय के बंगाल के सर्वमान्य नेता श्री चित्तरंजनदास के विरोधों के बावजूद भी गान्धी का असहयोग का प्रस्ताव मंजूर हो गया तथा जैसा कि आगे वर्णन आयगा, नागपुर के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में असहयोग को पूर्ण समर्थन प्राप्त हो गया।

जिस समय कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने असहयोग का प्रस्ताव पास किया, उस समय मेरी क्या परिस्थिति और मनोदशा थी उसका दिग्दर्शन कराना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

कलकत्ता कांग्रेस के कोई दो वर्ष पूर्व मेरा विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया था, यद्यपि यों तो मैं अभी भी अपने को विद्यार्थी मानता हूँ तथा पढ़ने-लिखने का मुझे सदा शौक रहा है और है, तथापि बी० ए० तक की पाठ्यक्रम की पुस्तकें समाप्त कर अब मैं किसी शिक्षक का विद्यार्थी न था। जिस घर में मैं जन्मा था और बड़ा हुआ था वह घर अभी भी धन तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से देश एवं प्रान्त के सर्वोपरि घरानों में से एक और नगर का सर्वश्रेष्ठ घर था। यद्यपि मेरे पितामह के समयवाली बात अब नहीं रही थी और सन् १६१३ के आर्थिक धक्के के बाद जो कर्ज बच गया था, वह बढ़ा ही था घटा नहीं था। खर्च अभी भी अंधाधुन्ध थे। पिताजी के शौक जारी थे और मेरे सार्वजनिक जीवन के खर्च आरम्भ हो गये थे। अतः खर्च अभी भी आमदनी से अधिक था। घर पर पिताजी की देख-रेख वैसी ही थी जैसी मेरे पितामह की मृत्यु के बाद और मैंने तो घर का काम देखना ही आरम्भ न किया था। यथार्थ में मुनीम-गुमाश्ते ही सारा काम चला रहे थे। मेरा गार्हस्थ्य जीवन खूब सुखी था। मेरी पत्नी का और मेरा बड़ा अच्छा सम्बन्ध था और इस सम्बन्ध को और अधिक दृढ़ करने के लिए अब भगवान ने हमें एक कन्या एवं एक पुत्र दे दिये थे। मेरे धार्मिक विचारों में भी कोई परिवर्तन न हुआ था। मन्दिर तथा उसके उत्सवों में मुझे वैसा ही अनुराग था। मेरा सार्वजनिक जीवन यद्यपि पिताजी को जरा भी रुचिकर न था तथापि वे अब इस सम्बन्ध में मुझ से कुछ न कहते थे। इसके कुछ कारण थे। मैं अब वैसा अल्पवयस्क नहीं रहा था जैसा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर के अधिवेशन में था। पिताजी को भय था कि यदि उन्होंने मेरे कामों में दखल दिया तो मैं भी उनकी फिजूलखर्ची में रोड़ा अटका सकता हूँ। विष्णुदत्तजी शुक्ल पर पिताजी का अनन्य विश्वास था। वे मानते थे कि मेरे शुक्लजी के नियंत्रण में चलते हुए कोई ऐसी बात न होगी जिससे मुझे उनके राजभक्ति के मार्ग अथवा घर को किसी प्रकार की हानि हो। जहाँ तक मेरे सार्वजनिक जीवन का खर्च था उस पर तो पिताजी का कभी ध्यान ही न था। रुपये-पैसे को तो उन्होंने सदा कंकड़-पत्थर ही माना था। मेरा सार्वजनिक जीवन आरम्भ हो चुका था, परन्तु अब तक वह साहित्य तथा समाज सुधार के क्षेत्र से ही सम्बन्ध रखता था। पंजाब के हत्याकाण्ड के अवसर पर

मैं कुछ न कुछ करने के लिए व्यग्र हो उठा था, परन्तु उसे अब काफी समय बीत चुका था अतः वह व्यग्रता अब मेरे मन में नहीं थी। हाँ, मैं राजनीतिक क्षेत्र में आना अवश्य चाहता था, पर अब नये चुनावों में धारा सभा के एक सदस्य की हैसियत से, परन्तु इसमें एक कठिनाई थी। नियमों के अनुसार चुनावों के समय उम्मीदवार की जो २५ वर्ष की अवस्था आवश्यक थी वह चुनाव के समय तक मेरी न हो रही थी अतः मैं इस उधेड़बुन में लगा हुआ था कि इस खाई का उल्लंघन किस प्रकार किया जाय। मानव-मन की जो तीन सबसे बड़ी आकांक्षाएँ मानी गयी हैं उनका नाम है वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा अर्थात् धन, पुत्र और कीर्ति की इच्छा। वित्तेषणा तो मेरे मन में उठने का प्रसंग ही न आया था। पुत्रेषणा की तृप्ति हो चुकी थी। इस समय मेरे मन में सर्वोच्च स्थान था लोकेषणा का।

ऐसी थी मेरी परिस्थिति जब कांग्रेस ने कलकत्ते में असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत किया। यद्यपि गान्धीजी के असहयोग के कार्यक्रम की चर्चा कांग्रेस के इस अधिवेशन के कुछ समय पहले से चल रही थी, पर अधिकांश राजनीतिज्ञों का मत था, जिनमें महामना पं० मदनमोहन मालवीय और पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल भी थे, कि कांग्रेस इस कार्यक्रम को स्वीकृत करनेवाली नहीं। गान्धीजी ने कांग्रेस में इस कार्यक्रम को रखने के समय यह भी कह दिया था कि यदि कांग्रेस उनके कार्यक्रम को स्वीकृत न करेगी तो वे कांग्रेस से पृथक् एक संगठन बनाकर उसे चलायेंगे। पुराने राजनीतिज्ञों का मत था कि गान्धीजी ने यदि कोई नया संगठन कर अपने कार्यक्रम को चलाया तो देश में उसका अनुसरण होनेवाला नहीं।

गान्धीजी के असहयोग के कार्यक्रम के पक्ष में कांग्रेस के निर्णय ने पुराने राजनीतिज्ञों को आश्चर्य में डाल दिया, इनमें पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल भी थे। परन्तु शुक्लजी यह मानते थे कि तीन महीने बाद होनेवाला कांग्रेस का नागपुर का अधिवेशन इस निर्णय को उलट देगा। शुक्लजी असहयोग के पक्ष में न थे, पर इस सम्बन्ध में शुक्लजी से मेरा मतभेद हो गया। यद्यपि मेरे अब तक के सार्वजनिक जीवन का नियन्त्रण शुक्लजी ने ही किया था और मुझ पर उनका सबसे अधिक प्रभाव था, परन्तु मुझे जान पड़ा कि अब मेरा और

शुक्लजी का मार्ग कदाचित् अलग-अलग हो जायेगा। मेरा राजनैतिक जीवन अब तक आरम्भ न हुआ था, पर शुक्लजी तो प्रधानतया राजनैतिक व्यक्ति ही थे। वे दिल्ली की कौंसिल के सदस्य थे और उन्होंने यह सदस्यता रौलेट एक्ट के विरोध में मालवीयजी के साथ छोड़ी थी। कांग्रेस में भी वे आ गये थे और चाहे वे असहयोग के प्रस्ताव के पक्ष में न हों, परन्तु उनके लिए कांग्रेस छोड़ना अथवा कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार कार्य न करना सरल न था। असहयोग के कार्यक्रम के पक्ष में न रहते हुए भी असहयोग के कार्यक्रम के अनुसार उन्होंने अपनी रायबहादुरी की पदवी सरकार को लौटा दी और धारा सभा के चुनावों में वे जो कौंसिल आफ स्टेट के लिए खड़े होना चाहते थे, वह विचार भी छोड़ दिया।

पंडित विष्णुदत्तजी शुक्ल के सदृश ली हुई जिम्मेदारी को निभानेवाले व्यक्ति मैंने जीवन में कम देखे हैं। जब उन्हें मेरे राजनैतिक विचार मालूम हुए और उन्हें जान पड़ा कि मेरे असहयोग के कार्यक्रम में सम्मिलित होने की बहुत अधिक सम्भावना है तब उन्होंने मेरे पिताजी से इस सम्बन्ध में बात की। यद्यपि मैं उस बातचीत में उपस्थित नहीं था तथापि उस बातचीत के अंत में मैं बुलाया गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर के अधिवेशन के बाद मेरे सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में मेरे पिताजी ने मुझसे कभी एक शब्द न कहा था। आज शुक्लजी के सामने उन्होंने बहुत कुछ कहा। जान पड़ता था जैसे किसी सरोवर का जल भरते-भरते बाँध टूट गया हो। इस बैठक में शुक्लजी और मैं दोनों ही चुपचाप रहे, जो कुछ कहा केवल पिताजी ने। उनके सारे कथन का सारांश था—

मेरे पितामह मुझ पर कितना प्रेम करते थे, यह वे जानते थे अतः उनकी (पितामह की) मृत्यु के पश्चात् उन्होंने सदा इस बात का ध्यान रखा कि मैं कभी भी यह महसूस न करूँ कि मेरा सबसे अधिक चाहनेवाला नहीं है। मुझ से अधिक प्रिय जगत में उनके लिए भी और कोई नहीं हो सकता, क्योंकि मैं उनका इकलौता पुत्र हूँ। मेरी सारी इच्छाएँ उन्होंने सदा पूरा करने का प्रयत्न किया और यद्यपि मेरा सार्वजनिक जीवन उन्हें बहुत रुचिकर न था, तथापि उसकी जिम्मेदारी शुक्लजी पर छोड़ वे निश्चिन्त थे। अब जो मार्ग मैं पकड़

रहा हूँ उससे शुक्लजी भी सहमत नहीं और वह मेरे तथा सारे कुटुम्ब के लिए कितना भयानक है इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने पंजाब की घटनाओं के ही दृष्टान्त दिये, जिनमें मुख्य था लाला हरकिशनलाल की फाँसी की सजा और उनकी सारी जायदाद की जब्ती। सर्वशक्तिमान सरकार के विरुद्ध जाने से मुझे गोली लग सकती है, बड़ी से बड़ी कभी भी कोई भी सजा हो सकती है और ऐसी हालत में उनकी, मेरी माताजी की, मेरी पत्नी की और मेरे छोटे-छोटे बच्चों की क्या दशा होगी? फिर हमारा घर कोई नंगों का घर नहीं। हम भी जायदादवाले हैं। सरकार हमारी भी सारी जायदाद जब्त कर हमें दर-दर का भिखारी बना सकती है। सरकार की ताकत के सामने गान्धीजी का यह असहयोग कौन चीज़ है? देश का इससे कोई भला होनेवाला नहीं; हाँ, जो इसके साथ चलेंगे उनका नाश अवश्य हो जायगा।

और अपना सारा कथन समाप्त कर पिताजी ने मेरे पैर पकड़ लिये तथा फूट-फूटकर रो पड़े।

मैं तो अवाक् रह गया। पिताजी की ऐसी कारुणिक मूर्ति मैंने इसके पहले कभी न देखी थी। मैं जानता था कि मेरे पितामह की मृत्यु के पश्चात् मुझ पर उनका स्नेह दिनों-दिन बढ़ रहा है, पर मेरा मन इस प्रकार के किसी प्रसंग के लिए तैयार न था। यदि उन्होंने रोष में कुछ कहा होता तो अब मेरे मन में उनका पुराना भय न रह गया था अतः मैं उसका उत्तर देता, पर इसका मेरे पास कोई उत्तर न था। मैंने अत्यधिक शीघ्रता से अपने पैर उनके हाथों से छुड़ाये और मेरे पैर जो उन्होंने पकड़े थे उसके प्रायश्चित के रूप मैंने अपना सिर उनके पैरों में रखा तथा और कुछ न कह सारे विषय पर विचार करने के लिए उनसे समय माँगा; जो शुक्लजी की राय के अनुसार मुझे दे दिया गया।

इसके पश्चात् माताजी ने मुझे बुलाया। मेरे अब तक के सार्वजनिक जीवन में यद्यपि पिताजी ने मुझे कोई सहयोग न दिया था, पर माताजी का सदा सहयोग रहा था। उन्होंने भी कुछ पिताजी के सदृश ही मुझे कहा। मैं समझ गया कि असहयोग की भयानकता पिताजी ने माताजी के मन में कूट-कूट कर भर दी है। माताजी से भी मैंने विचार करने के लिए समय चाहा, पर यहाँ मुझे समय मिलने में उतनी सरलता न हुई। माताजी तो इस बात पर अड़ी ही

रहीं कि मैं मन्दिर में चलकर प्रतिज्ञा करूँ कि मैं असहयोग में सम्मिलित न होऊँगा। किस कठिनाई से उस दिन मैं माताजी से इस सम्बन्ध में अपना पिण्ड छुड़ा सका।

और मेरी जिस पत्नी ने अब तक सदा ही मेरी आज्ञाओं ही नहीं, मेरी इच्छाओं तक का अनुसरण किया था, वह भी आज मेरे साथ न थीं। अपने छोटे-छोटे बच्चों को मेरे पैरों में पटक-पटककर कैसा विलाप किया मेरी पत्नी ने।

मेरे सामने ऐसी समस्या खड़ी हो गयी जैसी जीवन में इसके पहले कभी खड़ी न हुई थी। पंजाब के हत्याकाण्ड के समय मेरी जैसी मानसिक अवस्था थी वैसी आज नहीं थी। उस समय की मानसिक स्थिति में मैं पिता, माता, पत्नी, बच्चों, घर, धन, सम्पत्ति किसी की परवाह न कर उस हत्याकाण्ड के बदले के लिए किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित हो अपने को उत्सर्ग कर देता, पर आज वह बात नहीं थी, आज मैं पिताजी की कही हुई अनेक बातों पर विचार करने लगा।

सचमुच सरकार सर्वशक्तिमान है। जलियाँवाला बाग के सदृश किसी स्थान पर मुझे गोली लग सकती है। लाला हरकिशनलाल के सदृश मुझे भी फाँसी की सजा हो सकती है। मेरे घर की भी सारी जायदाद जब्त हो, मैं ही नहीं, मेरे बूढ़े होते हुए माता, पिता और नन्हें-नन्हें बच्चों के साथ मेरी पत्नी सब के सब दर-दर के भिखारी हो सकते हैं। गान्धीजी का असहयोग का कार्यक्रम सर्वथा असफल होने की ही अधिक संभावना है। तभी तो महामना मालवीयजी और, अब तक जिन्होंने मुझे सार्वजनिक जीवन में चलाया वे, पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल भी उस कार्यक्रम के विरुद्ध हैं। पर शुक्लजी की राय कार्यक्रम के पक्ष में न होते हुए भी उन्होंने रायबहादुरी तो छोड़ ही दी, सम्भव है नागपुर कांग्रेस ने इस कार्यक्रम को अस्वीकृत न किया तो वे उसमें शामिल ही हो जायँ, और यदि वे शामिल हो गये तो फिर मैं तो कहीं का न रहूँगा। मेरी जो यह सारी प्रशंसा और वाहवाही हुई है, मुझ से जो बड़ी-बड़ी आशाएँ रख लोगों ने मेरे अब तक के छोटे-छोटे कार्यों की इतनी सराहना की है, वह सब समाप्त हो जायगा।

यद्यपि स्वराज्य की चर्चा कुछ वर्षों से चल रही थी, परन्तु स्वराज्य अभी

भी उतना ही दूर था जितना उस समय जब यह चर्चा शुरू हुई थी। स्वराज्य समीप देख स्वराज्य के फल भोगने के लिए जो लोग बाद में कांग्रेस में शामिल हुए उनमें और सन् २० में जो लोग कांग्रेस में शामिल हुए उनमें बहुत अन्तर था। फिर जिनके कुटुम्ब था, जिनके पास सम्पत्ति थी, उनका उस समय की कांग्रेस में सम्मिलित होने का अर्थ "घर फूँक तमाशा देख" वाला हाल था। अतः ऐसी परिस्थिति में मेरी उधेड़बुन को आज भी मैं अस्वाभाविक नहीं समझता।

घण्टों नहीं, दिनों और दिनों नहीं सप्ताहों तक, मैं इसी उधेड़बुन के सागर में गोता लगाता रहा। एक ओर महत्‌जनों की जीवनियों की घटनाएँ तथा आरम्भ से ही अंग्रेजों के प्रति मेरी जो भावनाएँ थीं, पंजाब हत्याकाण्ड का जो असर मुझ पर पड़ा था, मेरे साहित्यिक और समाज-सुधार वाले सार्वजनिक जीवन में जो प्रोत्साहन मुझे मिला था, वह मुझे असहयोग की ओर खींच रहा था और दूसरी ओर असहयोग के कार्यक्रम को असफलता की पूरी-पूरी आशंका, मेरे असहयोगी होने से मेरी तथा मेरे कुटुम्ब की बड़ी से बड़ी बर्बादी असम्भव नहीं—यह विचार, उस समय की तरुणाई का सर्व सुखोंवाला वैभवशाली जीवन, कुटुम्ब में महान् संघर्ष का पथ मुझे असहयोग से दूर ढकेल रहा था।

विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा है—"यह स्थिति उभय मार्गों का वह चौरास्ता है जहाँ दो प्रकार के सत्यों का संघर्ष समाप्त होकर दोनों सत्य एक दूसरे के सामने खड़े हो जाते हैं और जहाँ मानव के तीन महान् आदर्श समूची मानवता, कुटुम्ब और मातृभूमि—एक दूसरे की ओर एकटक देखने लगते हैं। विवेक एक बात कहता है तथा भावना दूसरी और दोनों एक दूसरे के विपरीत। विवेक केवल विवेकता है पर भावना अन्तरात्मा। पहला प्रतिपादन मानव द्वारा होता है, पर दूसरा उसके कहीं ऊपर से। इसीलिए दूसरा प्रतिपादन बहुत स्पष्ट न रहते हुए भी अधिक बलशाली रहता है।" मेरी इस समय की अवस्था का शायद इससे अच्छा चित्र सम्भव नहीं। मैं इस विचार-सागर में बिना एक तिनके के अवलम्ब के सर्वथा अकेला डूब और उतरा रहा था। मेरे कुटुम्ब में कोई ऐसा न था, जिससे मैं किसी प्रकार की कोई भी सहायता की आशा करता। राजनीति में मेरे मार्गदर्शक पंडित विष्णुदत्तजी शुक्ल से इस समय मेरी राय न मिल रही थी। पंडित माधवरावजी सप्रे भी शुक्लजी

के ही साथ थे। हाँ, "कर्मवीर" पत्र और उसके सम्पादक माखनलालजी चतुर्वेदी असहयोग का समर्थन कर रहे थे, पर उनकी और मेरी अब तक पटरी न बैठ पायी थी।

अन्त में मैंने नागपुर कांग्रेस में जाकर वहीं अपना निर्णय करने का निश्चय किया। पंडित विष्णुदत्तजी शुक्ल की राय के अनुसार पिताजी ने मेरे नागपुर जाने का विरोध न किया।

बहाव में बहते जाने में कोई श्रम नहीं होता, कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता, पर जब किसी खास उद्देश्य से किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए बहाव को काटकर अपना रास्ता बनाना पड़ता है, तब साहस की परीक्षा होती है।

नागपुर कांग्रेस और उसमें मैं

नागपुर कांग्रेस से वास्तव में भारतवर्ष के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ होता है। यथार्थ में यहाँ से देश में मानव इतिहास की एक अनोखी क्रान्ति का आरम्भ हुआ, जिस क्रान्ति की भित्ति खड़ी हुई अहिंसा की नींव पर। संसार में क्रान्तियाँ अनेक हुई थीं, पर ऐसी अहिंसक क्रान्ति नहीं। क्रान्ति का अर्थ ही उथल-पुथल है, परन्तु इस उथल-पुथल में प्राय: नष्ट होती हैं वे ही वस्तुएँ जो खोखली हो गयी हैं, सड़-गल गयी हैं। हिंसक क्रान्तियों में यह उथल-पुथल खून बहकर होती है। इस खून के बहाव के कारण समाज को कष्ट होता है पर त्राण की भावना उस पर मुस्कराकर इस कष्ट को दूर करती है। हमारी क्रान्ति तो ऐसी हुई जिस में खून ही न बहा। यहीं पर गान्धीजी के व्यक्तित्व की वह विजय हुई कि उसके उपरान्त देश के राजनैतिक क्षेत्र में गान्धीजी निरन्तर उन्नति के पथ पर बढ़ते गये और अपने साथ ही देश को भी बढ़ाते गये। यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि नागपुर कांग्रेस को इतना महत्त्व किस बात से मिला? इस प्रश्न के विश्लेषण में हमें परिस्थिति को थोड़ा व्यापक रूप से देखना पड़ेगा।

हमने देखा कि दक्षिणी अफ्रीका में सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया जाने वाला गान्धीजी का असहयोग का अस्त्र भारत में अपनी नवीनता के कारण लोगों के सन्देह का कारण बना हुआ था। सरकार ने तो नवम्बर सन् २० में इसे "खेशचिल्ली की योजना" कहकर अपना अप्रत्याशित भय छिपा लिया था। कांग्रेस में भी असहयोग के विरोधी कई महारथी थे। यद्यपि सितम्बर में कलकत्ते का विशेष अधिवेशन के समय गान्धीजी का यह असहयोग का प्रस्ताव केवल ८ के संकीर्ण परन्तु निर्णयात्मक बहुमत से पास हुआ था, पर नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसे अन्तिम रूप से स्वीकार किया जानेवाला था। दोनों दल अपनी पूरी तैयारी के साथ नागपुर में एकत्रित होनेवाले थे।

कलकत्ता अधिवेशन के सभापति लाला लाजपतराय के साथ ही मालवीयज भी इसके विपक्ष में थे। देश के दुर्भाग्य से लोकमान्य तिलक चल बसे थे यदि लोकमान्य रहते तो असहयोग पर उनका क्या मत रहता, यह कहना सर नहीं है। गान्धीजी ने अपनी आत्मकथा में उनके विरोध को अपना पथ-प्रदर्श माना है। स्वयं तिलक महोदय ने असहयोग के विषय में महात्माजी से कह था "असहयोग का कार्यक्रम मुझे पसन्द है पर इसमें जिस आत्मत्याग की आव श्यकता है, उसके लिए देश हमारे साथ होगा या नहीं इसमें मुझे सन्देह है। मैं आपकी सफलता चाहता हूँ। यदि आप जनता का ध्यान अपनी ओर खींच सके तो मुझे आप अपना कट्टर समर्थक पायेंगे।" प्राचीन धुरन्धरों में से कलकत्ते में पंडित मोतीलालजी नेहरू ही गान्धीजी के पक्ष में आये थे और वह भी अपना यह संशोधन मनवा लेने के उपरान्त कि कालेजों और अदालतों का बहिष्कार धीरे-धीरे हो।

असहयोग के विपरीत बंगाल और महाराष्ट्र प्रान्त ही प्रमुख रूप से थे। बंगाल में विजय प्राप्त करने के उपरान्त अब नागपुर में, जो कि इसके विरोधी समुदाय की शक्ति का गढ़ माना जाता था, कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यहाँ के सभापति श्री विजयराघवाचार्य भी असहयोग के पक्ष में न थे। चित्तरंजनदास तो कई हजार रुपया खर्च कर लगभग २५० प्रतिनिधि बंगाल से इस असहयोग के प्रस्ताव को गिराने लाये थे। बिट्ठल भाई और नरसिंह चिंतामणि केलकर का विरोध भी छिपा हुआ नहीं था। वल्लभभाई पटेल उस समय विशेष महत्त्व नहीं रखते थे और उनकी गिनती प्रान्तीय नेताओं में भी नहीं थी।

जैसा पहले कहा जा चुका है नागपुर-अधिवेशन के पहले कांग्रेस के अधिवेशन अधिकतर "प्रार्थना, आवेदन-पत्र एवं विरोध" तक ही सीमित रहते थे, परन्तु पंजाब हत्याकाण्ड से देश अब जाग उठा था और वह शब्द-जाल में व्यर्थ समय नष्ट कर निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता था। "ब्रिटिश सम्बन्ध और बंध आन्दोलन" के स्थान पर वह कुछ न कुछ ठोस काम करना चाहता था। और देश की इस समय की इच्छा के अनुसार योजना लेकर ही गान्धीजी देश के सामने आये थे। यद्यपि उनके इस अस्त्र के परिणाम की अनिश्चितता से उन पर चारों ओर से वाक्य-प्रहार हो रहे थे, परन्तु वह आत्मबली वीर अडिग था। हिंसात्मक

कार्यवाही के विषय में गान्धीजी बार-बार कह रहे थे "हिंसा के विरुद्ध जो तर्क आज मैं पेश कर रहा हूँ इसका कारण यही है कि देश की परिस्थिति ऐसी है ही और ऐसी अवस्था में हिंसा बिलकुल ही व्यर्थ सिद्ध होगी। अतएव असहयोग ही हमारे लिए एकमात्र औषधि है।" उनकी इस बात की सत्यता का कटु अनुभव देश कर चुका था। साथ ही कांग्रेस में नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करने वाले पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी, जो "अहिंसा के सिद्धान्त से पूर्ण सहमत नहीं थे, अथवा उसे सदा के लिए स्वीकार करने को तैयार नहीं थे," गान्धीजी के व्यक्तित्व और असहयोग के बिना दूसरा चारा नहीं इसको सोचकर उन्हें "उस समय के लिए तो ब्लैंक चैक" दे देना ही उचित समझा।

बहती हुई हवा के रुख को पहचानकर दोनों दलों को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में सभापति विजय राघवाचार्य के भाषण को एक मराठी पत्र ने "नालायक सभापति चा नालायक भाषण" कहकर उद्धृत किया। फिर भी विरोध की चरम सीमा गुजर चुकी थ।

गान्धीजी चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में छोटे रूप से अपने सत्याग्रह अस्त्र को कार्य रूप में परिणत कर या करने की धमकी देकर देश को लाभ पहुँचाने का श्रेय प्राप्त कर चुके थे। नागपुर कांग्रेस के पहले देश असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप नयी धारासभाओं के सफल बहिष्कार द्वारा इस नये अस्त्र का प्रभाव देख चुका था। उस चुनाव में लगभग ८० प्रतिशत मतदाता वोट देने नहीं गये थे और कई स्थान से मतदान पेटियाँ बिलकुल खाली ही उठकर आयी थीं। इस सफलता से जहाँ लोगों को हिम्मत बँधी वहीं पर असहयोग को "शेखचिल्ली की योजना" कहनेवाली सरकार को यह कहने पर बाध्य होना पड़ा कि "गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन में नयी धारासभाओं का बहिष्कार अवश्य ही अगले कुछ वर्षों के इतिहास पर जबरदस्त प्रभाव डालकर रहेगा।"

बस अब क्या था दोनों दलों में समझौता हो गया और गान्धीजी पूर्ण रूप से विजयी होकर निकले। यहाँ महत्त्व की बात यह है कि असहयोग का प्रस्ताव करनेवाले थे ३६०००) खर्च करके प्रस्ताव को गिराने आनेवाले श्री चित्तरंजनदास और समर्थक हुए लाला लाजपतराय। अब गांधीजी के इस असहयोग आन्दोलन

को कई अन्य बातों से और भी जोर मिला। कांग्रेस का अन्तिम लक्ष्य "स्वराज्य" मान लेने से लोगों में प्रसन्नता की लहर छा गयी। भाषावार प्रान्तों की रचना स्वीकार कर लेने से भी आन्दोलन को कम बल प्राप्त नहीं हुआ। रही-सही कसर खिलाफत ने पूरी करदी। उससे मुसलमान भी खिंच आये। हाँ, श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने कांग्रेस अवश्य छोड़दी। वे अब कांग्रेस को "पागलों का समुदाय" समझते थे। पश्चिमी सभ्यता और वेश-भूषा के कायल नरम दल वाले तो इसके पहले ही कांग्रेस से अलग हो गये थे और अब तो उन्होंने अपने को सरकारी अंग बनाकर कांग्रेस और असहयोग को दबाने में सरकारी सहायता करके अपने राजनैतिक जीवन काश मंनाक अन्त ही कर लिया। कांग्रेस के इस अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में कसावट और व्यवस्था लाने के प्रयत्न भी हुए। स्वागताध्यक्ष श्री जमनालालजी बजाज ने असहयोग में वकालत छोड़ने वाले वकीलों को १००) मासिक देकर उन्हें सहायता देने के लिए १ लाख रुपयों का दान देकर बड़ी ही सामयिक सहायता पहुँचायी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १६२० के आरम्भ में जिस कांग्रेस में फूट के बीज बोये हुए दिखते थे वही वर्ष के अन्त तक एक महान व्यक्ति के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर महान ओजस्वी रूप में निकली और इसी कारण वह आगामी वर्ष में असहयोग द्वारा देश में एक नयी स्फूर्ति एवं जागृति करने में समर्थ हो सकी।

एक फरासीसी साहित्यकार रैनेग्वैना के एक स्थान पर लिखा है—"सच्चा पूर्व न किसी पर आधार करना चाहता और न किसी पर आधिपत्य। वह चाहता है केवल स्वतंत्रता और शान्ति। यह माँग कोई अनुचित माँग नहीं है।"

पूर्व के इस मूल विचार का फरांसीसी साहित्यकार ने जो यह दिग्दर्शन कराया है यह कितना सही है यह असहयोग आन्दोलन के आरम्भ से भारत के स्वतन्त्र होने तक और स्वतन्त्रता के बाद भी भारत की वैदेशिक नीति से स्पष्ट हो जाता है।

फिर भारत के पढ़े-लिखे लोग ही इस प्रकार के विचार रखते हों यह नहीं, यहाँ की प्राचीन संस्कृति की जो परम्परा इस देश में विद्यमान है उसके कारण यहाँ के अपढ़ लोग भी इस प्रकार के दार्शनिक विचारों से सर्वथा अनभिज्ञ

नहीं। सोचते-विचारते रहना इस राष्ट्र का एक विशिष्ट गुण है। यह गुण इस देश की शक्ति और निर्बलता दोनों का ही कारण है। इसी गुण के कारण विषम से विषम परिस्थिति में भी इस राष्ट्र का धैर्य नहीं छूटता और साथ ही किसी भी क्रान्तिकारी कृति के लिए यह राष्ट्र तैयार नहीं हो पाता। इसीलिए असहयोग और उसके पश्चात् के स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के आन्दोलनों में इस देश के चालीस करोड़ मानवों में कभी भी लाख या डेढ़ लाख व्यक्तियों से अधिक लोगों ने कार्य नहीं किया।

विचार की इस वृत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त फरासीसी साहित्यकार ही लिखता है—"ध्यानावस्थित विचार की वृत्ति कदाचित पूर्व में अधिक फैली हुई है। और भारत से अधिक इस वृत्तिवाला शायद अन्य कोई देश नहीं है।"

मैंने अपने राजनैतिक क्षेत्र में आने या न आने के निर्णय विषयक विचार करने के लिए कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन तक का समय चाहा था। इस निर्णय पर शीघ्र न पहुँच सकने के कारणों का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। इन कारणों में से जो मुख्य कारण थे उनमें एक था पंडित विष्णुदत्तजी शुक्ल का असहयोग के कार्यक्रम के पक्ष में न होना। परन्तु असहयोग के कार्यक्रम के पक्ष में न होते हुए भी कांग्रेस के कलकत्ते के विशेष अधिवेशन ने असहयोग का जो कार्यक्रम स्वीकृत किया था उसके अनुसार शुक्लजी ने अपनी रायबहादुरी छोड़ी थी और वे कौंसिल आफ स्टेट के लिए खड़े भी न हुए थे अतः मेरा तथा अन्य कई लोगों का मत था कि कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन ने यदि कलकत्ते अधिवेशन के निर्णय पर स्वीकृति की मोहर लगा दी तो शुक्लजी असहयोगी हो असहयोग के कार्यक्रम का प्रान्त में नेतृत्व करेंगे। मेरा आज भी यही विश्वास है कि यदि कांग्रेस के नागपुर के अधिवेशन के बाद शुक्लजी रहते तो यही होता, पर प्रान्त के महान दुर्भाग्य के कारण कांग्रेस के इस अधिवेशन के अवसर पर शुक्लजी को न्यूमोनिया हुआ और इसी बीमारी में नागपुर में ही उनका देहावसान हो गया। शुक्लजी की यह मृत्यु समूचे प्रान्त पर घोर वज्रपात थी। प्रान्त का उस समय का सबसे महान नेता असमय ही चल बसा। मुझे तो ऐसा जान पड़ा जैसे मेरे सबसे बड़े पितृव्य का मुझसे विछोह हो गया हो। लगभग पाँच

वर्षों तक के मेरे छोटे-मोटे सार्वजनिक जीवन के वे पथ-प्रदर्शक रहे थे। मेरा विश्वास था कि असहयोग के कार्यक्रम को वे ही प्रान्त में चलायेंगे और मैं इस क्षेत्र में भी उन्हीं का अनुसरण करूँगा, पर यह न हुआ और ऐसे महान अवसर पर प्रान्त नेता-रहित हो गया। मेरा भी कोई मार्ग-दर्शक न रहा।

इस समय मेरी अवस्था लगभग २४ वर्ष की थी। धीरे-धीरे मैं किस प्रकार सार्वजनिक जीवन में खिंचता आ रहा था इसका उल्लेख पिछले अनेक अध्यायों में हो चुका है। कौन-कौनसी भावना मुझे सार्वजनिक जीवन की ओर, विशेषकर राजनैतिक जीवन में, ढकेल रही थी इसका विवेचन भी पहले के कई प्रकरणों में किया जा चुका है। शुक्लजी जहाँ एक ओर मेरे सार्वजनिक जीवन के कर्णधार थे वहाँ दूसरी ओर उनके असहयोग के कार्यक्रम से सहमत न होने के कारण मेरे असहयोग में सम्मिलित होने के बाधक। उनकी मृत्यु से मैं अपने सम्बन्ध में जो भी निर्णय करना चाहूँ उसके लिए स्वच्छन्द हो गया। नागपुर-कांग्रेस के अवसर पर मेरी बहन की सख्त बीमारी के कारण मेरे माता-पिता उनकी आबहवा बदलाने के लिए बम्बई के निकट विरसोवा नामक समुद्र तट के स्थल को गये हुए थे। अतः इस स्वच्छन्दता में क्षणिक दृष्टि से और सहायता मिल गयी। गान्धीजी के दर्शन मुझे पहले-पहल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर हुए थे। उसके पश्चात् अब नागपुर में हुए। बनारस में भी उनका मुझ पर काफी प्रभाव पड़ा था, नागपुर में और अधिक पड़ा। उनमें जो धार्मिकता थी वह मेरे धार्मिक संस्कारों के अनुरूप होने के कारण उसका मुझ पर सबसे अधिक असर हुआ। गान्धीजी के साथ अन्य नेताओं ने भी मुझे आकृष्ट किया। अंग्रेजों के विरुद्ध मेरा मन था ही। पंजाब की घटनाओं का भी मुझ पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा था और पंजाब के अत्याचारों पर सरकार ने जो कोई परिमार्जन न किया था तथा जसके कारण गान्धीजी को असहयोग का यह कार्यक्रम देश के सामने रखना पड़ा था, इसका भी मेरे हृदय में क्षोभ था। जिस साहित्य, विशेषकर महत्जनों की जीवनियों का मैंने अध्ययन किया था उसके कारण कर्त्तव्य-पालन और कर्त्तव्य-पालन में त्याग की भावनाओं से भी मेरा मन शून्य न था। फिर नागपुर में कांग्रेस की जो धूमधाम मैंने देखी

नेताओं का स्वागत और आवभगत तथा वाहवाही का अवलोकन किया, उसका भी मेरे हृदय पर कम असर नहीं पड़ा।

नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होते ही मैंने असहयोग की दीक्षा ले ली। उसी बीच मैंने किसी विद्वान् का एक कथन पढ़ा था, वह था—"अकर्मण्य किसी कृति के पहले सदा किसी विशिष्ट अवसर की प्रतीक्षा किया करता है। अवसर द्रुत गति से आते और उसी द्रुत गति से चले जाते हैं और अकर्मण्य की दीर्घसूत्रता के कारण वह प्रतीक्षा में ही बैठा रह जाता है।" इस कथन ने मेरे असहयोगी होने में मुझे बहुत सहायता दी। असहयोग की दीक्षा ले सबसे पहला जो काम मैंने किया वह अपनी आनरेरी मजिस्ट्रेसी, डिस्ट्रिक्ट कौंसिल की नामजद मेम्बरी और दरबारी सनद सरकार को लौटाना था। आज जब मैं उस समय का चिन्तन करता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि अंग्रेजों के प्रति मेरी भावनाओं तथा इसी से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातों के सिवा जिस बात ने मुझे असहयोग की दीक्षा के लिए सबसे अधिक प्रेरणा दी वह लोकेषणा ही थी।

जो कुछ हो, पर एक बात अवश्य हुई। सार्वजनिक जीवन में पूर्णतया खिच आने के बाद मुझे एक ऐसे सन्तोष का अनुभव हुआ जो इसके पहले कभी न हुआ था। मनुष्य के असन्तोष के तीन प्रधान कारण होते हैं—या तो उसे वह चीज नहीं मिलती जिसे पाने की उसे इच्छा होती है या इच्छित वस्तु को पाकर फिर से उसके हाथ से निकल जाने का उसे भय रहता है अथवा जो चीज उसे अरुचिकर रहती है उसे उसको बर्दाश्त करना पड़ता है। सार्वजनिक जीवन की उत्कट इच्छा रहते हुए उस ओर जाने में मेरे रास्ते में महान बाधाएँ थीं। अतः मेरी इच्छित वस्तु मुझे प्राप्त न हो रही थी। कभी कहीं कोई सार्वजनिक कार्य कर पाता और उससे यदि प्रतिष्ठा आदि मिलती तो भविष्य में शायद उसे न कर पाऊँ इसलिए जो कुछ मिल चुका होता उसके हाथ में से निकलने का भय रहता। और मेरे कुटुम्ब का अंग्रेजों से जो सम्बन्ध था वह मेरे लिए अत्यधिक अरुचिकर होने पर भी अभी उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातें भी मुझे अनेक ढंग से सहन करनी पड़तीं। असहयोग की दीक्षा ले लेने पर इन तीनों बातों के सम्बन्ध में मेरे जीवन की दिशा भी ठीक हो गयी। फिर एक बात और है। जीवन की दिशा जब तक

निश्चित नहीं हो जाती तब तक एक विचित्र प्रकार की अनिश्चित मनोदशा रहती है और इस मनोदशा के कारण चैन नहीं मिलने पाता। असहयोग की दीक्षा चाहे मैंने प्रधानतया लोकेषणा वृत्ति के कारण ही क्यों न ली हो, पर जीवन की दिशा तो अब निश्चित हो ही गयी। जीवन की यह दिशा निश्चित होने पर मुझे जान पड़ने लगा कि जीवन अब उद्देश्यहीन नहीं है; जीवन का एक निश्चित ध्येय हो गया है जिसकी सिद्धि के लिए युद्ध करना है और आवश्यकता पड़े तो युद्ध में मर मिटना है। हीगल ने एक जगह लिखा है—"जीवन की तभी कोई कीमत है जब उसका कोई न कोई ध्येय हो।" हेनुड ब्राउन ने इसी विषय पर लिखा है—"मानव अपने आप में यथेष्ट नहीं है। उसे कोई न कोई नारा चाहिए जिसके आधार पर वह जिये और मरे। कोई न कोई नारा होना किसी नारे के न होने से अच्छा है चाहे वह नारा खोखला ही क्यों न हो।" अब मेरे जीवन का नारा तो एक महान नारा था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर के अधिवेशन के अवसर पर मैंने जो कमजोरी दिखायी थी, उससे सप्रेजी के उपदेशों के कारण मन की धीरे-धीरे स्थिति तो बदलती जाती थी, पर असहयोग की दीक्षा के समय मैंने एक प्रकार की प्रतिज्ञा की कि दुनियाँ की सारी बुराइयों की अधिपति बुराई जो कमजोरी है, उसे मैं अपने जीवन में कभी भी न फटकने दूंगा और गीता में दैवी सम्पत्ति के गुणों में जो पहला शब्द "अभयं" है वह मेरे जीवन का अब ध्रुव नक्षत्र रहेगा। हालैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा ने एक स्थान पर लिखा है—"जीवन के साधारण वायुमण्डल में मानवों की कृतियों से देखा जाता है कि वे तीन पदार्थों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं—धन, यश और इन्द्रिय सुख। इन तीनों में ही मन इतना व्याप्त हो जाता है कि अन्य किसी कल्याणकारी बात का विचार तक करने का अवकाश नहीं मिलता। उपर्युक्त तीनों पदार्थ जीवन में बाधक हैं यदि उन्हें साधन न मानकर साध्य बना लिया जाय।"

धन और इन्द्रिय सुख की लालसाओं का तो मेरे जीवन में कभी प्रधान स्थान नहीं रहा, हाँ, यश की इच्छा से मैं अपना पिण्ड बहुत काल के पश्चात् और अत्यधिक कठिनाई से छुड़ा सका।

आज जब मैं अपने गत ३५ वर्ष के सार्वजनिक जीवन पर दृष्टि विक्षेप

करता हूँ तब मुझे जर्मनी के टामस मैन का निम्नलिखित कथन सर्वथा सत्य जान पड़ता है—"मानव केवल व्यक्तिगत जीवन ही नहीं जीता, पर जानते हुए या अनजान में अपने समय तथा अपने साथियों का जीवन भी।"

असहयोग में दीक्षित होने के पश्चात् मुझे फिर से चित्तौड़ का विजयस्तम्भ याद आया और इस बार की उसकी याद ने मुझे जितना आनन्द दिया उतना इसके पहले कभी न दिया था।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.